

संन्यासी पर कोई क्रोध करे तो उसका प्रत्युत्तर कैसे देना चाहिए

मनु जी कहते हैं—

‘क्रुध्यन्तं न प्रति क्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्’ अर्थात् संन्यासी सदा अपने मन-मस्तिष्क (दिल-दिमाग) को शान्त रखे। क्रोध का उत्तर क्रोध में न दे, बल्कि प्रेम के साथ ही बोले। संसार में ऐसा उदाहरण मिलना बड़ा कठिन है, किन्तु संन्यासी ने तो कठिन काम को भगवान् के सहारे पूरा करने के लिए ही इस मार्ग पर कदम बढ़ाया है। यद्यपि संसारी व्यक्ति भी ऐसी ही भाषा बोलता है— मुझे वह करके दिखाना है जिसे संसार में कोई नहीं कर सकता। किन्तु संन्यासी की भाषा व भाव ऐसे नहीं होते। वह स्वयं भी विचार करता है और उसके गुरुओं ने भी उसे यही पाठ पढ़ाया है कि अध्यात्म का यह महासंग्राम कभी भी व्यक्ति अपने बल पर नहीं जीत सकता। केवल और केवल भगवान् की कृपा से ही यह युद्ध जीता जाता है। कोई भी संन्यासी जब इतना विनम्र हो जाता है, इतना सहज हो जाता है, अपने अन्दर इतना विश्वासी हो जाता है तो भगवान् उसके मन-बुद्धि-प्राण व शरीर में प्रकट हो जाते हैं और वे स्वयं अपने वज्र से संन्यासी को सताने वाले काम-क्रोध-लोभ रूपी नमुचि का सिर काटकर संन्यासी का मार्ग निरापद कर देते हैं। पौराणिक साहित्य में ‘नमुचि’ नामक एक ऐसे राक्षस की कल्पना है, जो किसी को भी नहीं छोड़ता, चाहे कोई कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो।

‘दीक्षा और तप रूपी दो तटों के बीच यह संन्यास-जीवन रूपी नदी बहती है, जिसमें महान् उद्देश्य रूपी जल भरा होता है। जिसको हम योग, अमृतत्व, ईश्वरप्राप्ति, दुःखमुक्ति, चिर शान्ति आदि नाम दे सकते हैं। संसार रूपी नदी तो सुख एवं दुःख रूपी दो पाटों के बीच बहती है, जिसमें तृष्णारूपी जल भरा होता है।’

—इसी पुस्तक से



₹100

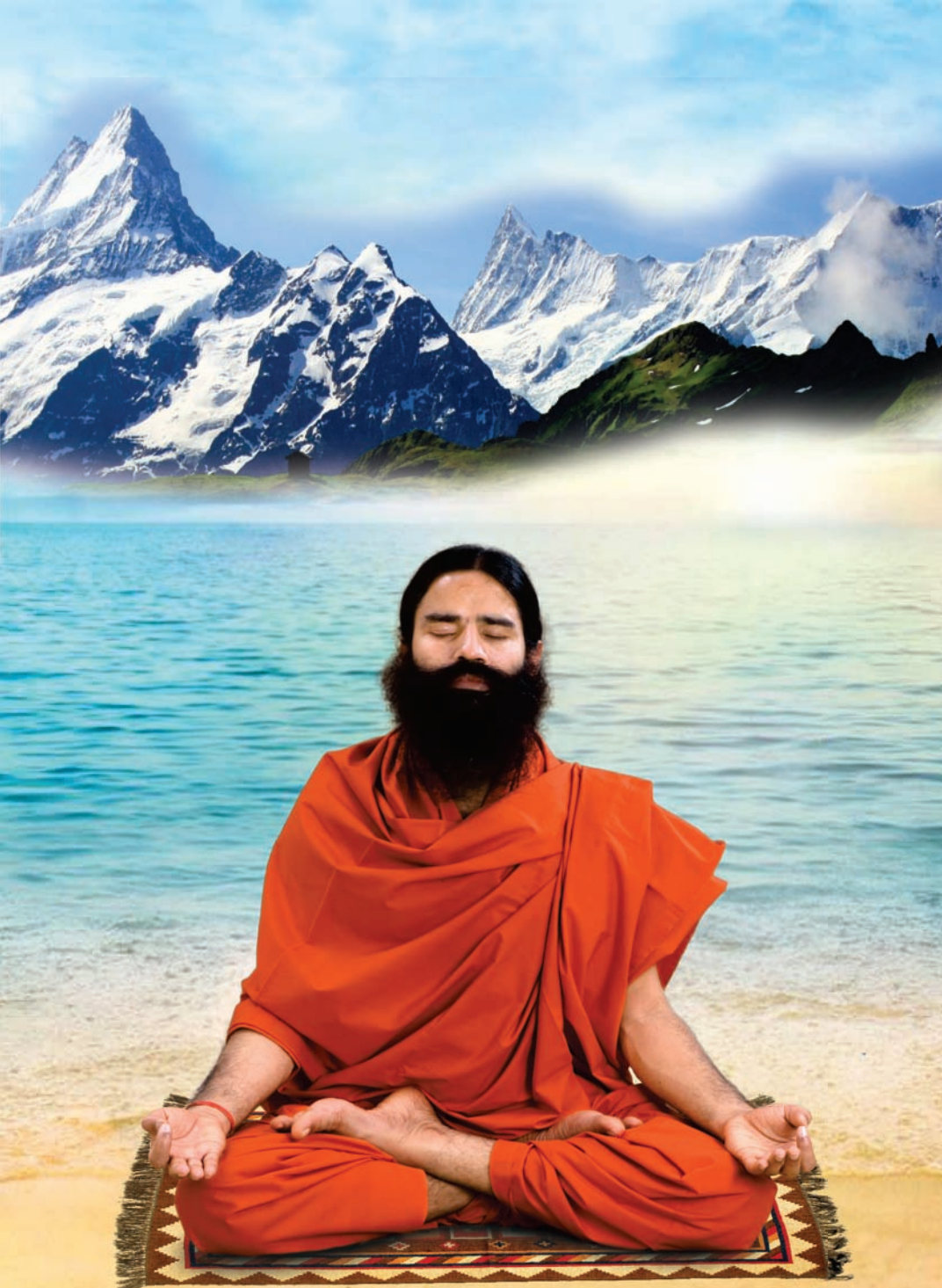
ओ३म्

संन्यास धर्म

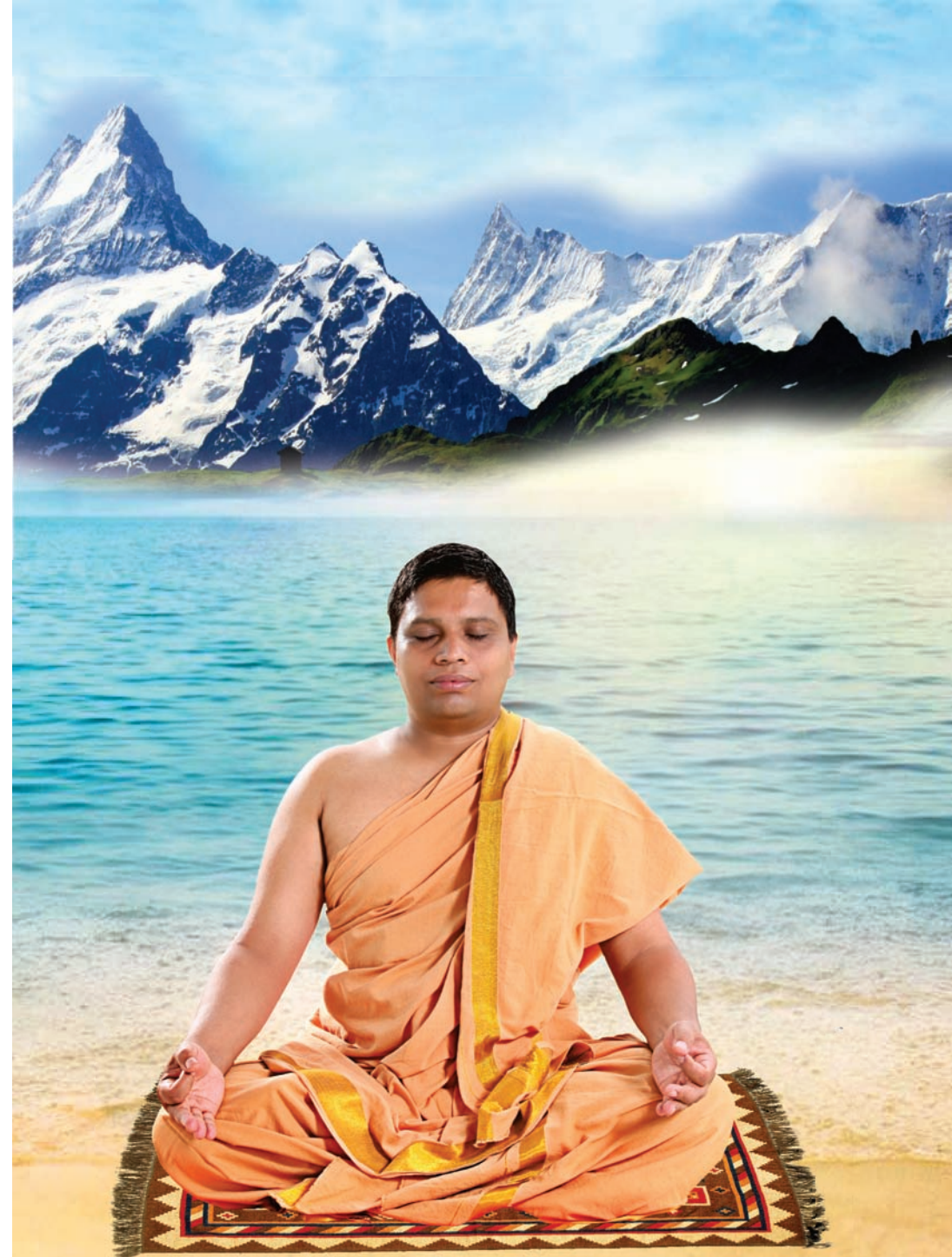
संन्यास धर्म
आचार्य प्रद्युम्न

- रचयिता -

संन्यासदीक्षा-प्रेरक
आचार्य प्रद्युम्न



संन्यास धर्म के आदर्श प्रेरक
योगर्षि स्वामी रामदेव जी महाराज



आयुर्वेद-समुद्धारक, वर्तमान काल के धन्वन्तरि
आचार्य बालकृष्ण जी महाराज



संन्यास धर्म

(साधक-धर्म)

रचयिता

आचार्य प्रद्युम्न



दिव्य प्रकाशन

दिव्य योग मन्दिर ट्रस्ट, पतञ्जलि योगपीठ, हरिद्वार

प्रकाशक	दिव्य प्रकाशन, पतञ्जलि योगपीठ महर्षि दयानन्द ग्राम, दिल्ली-हरिद्वार राष्ट्रीय राजमार्ग, निकट- बहादुराबाद, हरिद्वार- २४९४०५ (उत्तराखण्ड)
आईएसबीएन	978-93-85721-92-2
ई-मेल	divyayoga@rediffmail.com
वेबसाइट	www.divyayoga.com
दूरभाष	(०१३३४) २४४१०७, २४०००८, २४६७३७
फैक्स	(०१३३४) २४४८०५
मूल्य	१००/- (सौ रुपये)
सर्वाधिकार	© प्रकाशकाधीन,
प्रथम संस्करण	रामनवमी, संवत् २०७५ (२५ अप्रैल २०१८)
द्वितीय संस्करण	(परिष्कृत एवं परिवर्धित) ज्येष्ठ अमावस्या वि० संवत् २०७५ (१५ मई २०१८) प्रतियाँ- ५०००
मुद्रक	ऋषि ऑफसेट प्रिन्टर्स वेद मन्दिर, अशोका टॉकीज के सामने, ज्वालापुर, हरिद्वार-249405 (उत्तराखण्ड)
मो० :	8755344234,
ईमेल-	rishioffset@gmail.com

- जब सब कामनाओं को जीत लें और उनकी अपेक्षा न रहे, पवित्रात्मा और पवित्रान्तःकरण मननशील हो जावे, तभी गृहाश्रम से या ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यासाश्रम का ग्रहण करे।
- कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बाँधे। अन्नवस्त्रादि के लिए ग्राम का आश्रय लेवे। बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता हुआ और स्थिरबुद्धि मननशील होकर परमेश्वर में अपनी भावना को समाहित करता हुआ विचरे।
- न तो जीवन में आनन्द और न अपने मृत्यु में दुःख माने, किन्तु जैसे भृत्य (सेवक) अपने स्वामी की आज्ञा की बाट देखता रहता है, वैसे ही काल और मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे। सबसे सत्य वाणी बोले, जो कुछ व्यवहार करे, वह सब मन की पवित्रता से आचरण करे।
- इस संसार में आत्मनिष्ठा में स्थित, सर्वथा अपेक्षारहित, मांस-मद्यादि का त्यागी, आत्मा के सहाय से ही सुखार्थी होकर सबको सत्य वाणी सुनाता हुआ सब भूतों (प्राणिमात्र) को पीड़ा न देता हुआ दृढात्मा होकर नित्य विचरा करे।
- जो साधक बुरे कामों से इन्द्रियों के निरोध, राग-द्वेषादि दोषों के क्षय और निर्वैरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है।
- यदि साधक को मूर्ख संसारी लोग निन्दा आदि से दूषित वा अपमानित भी करें, तथापि धर्म का ही आचरण करे। पक्षपातरहित होकर सब प्राणियों में समबुद्धि रखे, इन सब उत्तम कामों को करने के लिए संन्यासाश्रम को समझे। केवल दण्ड-वस्त्रादि चिह्न धारण करना ही धर्म का कारण न मान बैठे। जो अशुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है, उस बड़े-छोटे प्राणी-अप्राणियों में अन्तर्यामी रूप से वास करने वाले परमात्मा की गति अर्थात् प्राप्ति को ध्यानयोग से ही संन्यासी देखा करे।
- जब संन्यासी सब पदार्थों में अपने भाव से निःस्पृह होता है तभी इस लोक इस जन्म और मरण पाकर परलोक और मुक्ति में परमात्मा को प्राप्त होके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है।
- इस विधि से धीरे-धीरे सब सङ्ग से उत्पन्न दोषों को छोड़कर, सब हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से विशेषकर निर्मुक्त होकर विद्वान् संन्यासी ब्रह्म ही में स्थिर होता है।

“संस्कारविधि संन्यास-प्रकरण से”

प्राक्कथन

परमपूज्य श्रद्धेय गुरुदेव ने 'संन्यास धर्म' में एक साधु एवं साध्वी के आन्तरिक व बाह्य जीवन के सन्दर्भ में अत्यन्त प्रीति व अनुग्रहपूर्वक संन्यास के स्वरूप, उत्तरदायित्व एवं कर्तव्यों का उपदेश किया है। परमश्रद्धेय गुरुजी का वीतराग जीवन एवं आर्ष ग्रन्थों के प्रमाणों के साथ सारगर्भित तत्त्वबोध, सभी नवदीक्षित संन्यासियों के लिए एक अमूल्य निधि के रूप में सदा मार्गदर्शक का कार्य करेगा। पूज्य गुरुजी ने संन्यासी की दृष्टि व अन्तःस्थिति पर अत्यन्त बल दिया है। संन्यासी की स्थिति व कृति दोनों ही दिव्य होनी चाहिए। हमारे सभी संन्यासियों व साध्वियों को इस पुस्तक के कम से कम एक पृष्ठ का प्रतिदिन अवश्य श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए।

हमारे सभी संन्यासियों का ज्ञान, जीवन, वाणी, व्यवहार, अभ्यास, स्वभाव व चरित्र ऋषियों जैसा ही होना चाहिए; क्योंकि हम ऋषि-ऋषिकाओं के प्रतिनिधि हैं। हमारी मति, भक्ति एवं कृति दिव्य ही होनी चाहिए। 'संन्यास धर्म' से हमारे सभी संन्यासी व साध्वीगण को कर्मयोग करते हुए दिव्य मनःस्थिति या दिव्यभाव चेतना कैसे बनाकर रखें, इसमें बहुत बड़ी सहायता मिलेगी। ब्रह्मभाव में रहकर हमें ब्रह्मकर्म करते हुए आत्म-कल्याण व लोक-कल्याण की सेवा व साधना के पथ पर गुरुनिष्ठा एवं कर्तव्यनिष्ठा के साथ निरन्तर दिव्य आरोहण व पूर्णता को पाना है।

दिनाङ्क - २२-०३-२०१८

शुभेच्छु
स्वामी रामदेव

शुभाशंसा

महर्षि दयानन्द का कथन है कि जिन स्त्री-पुरुषों को संसार का विशेष उपकार करना अभीष्ट हो, वे विवाह न करें। उन्होंने अन्यत्र भी कहा है कि- संसार का जितना उपकार संन्यासी कर सकता है, उतना अन्य नहीं। इन्हीं वचनों से प्रेरित होकर श्रद्धेय स्वामी रामदेव जी महाराज के साथ हमने साधु-जीवन को अपनाया है। स्वामी जी के मार्गदर्शन में पतञ्जलि योगपीठ की ओर से राष्ट्र-सेवा का विराट यज्ञ चल रहा है। इसमें योग, आयुर्वेद एवं स्वदेशी का प्रचार-प्रसार तथा शिक्षाक्रान्ति मुख्य है।

एक संन्यासी के द्वारा प्रारम्भ किए गए इन सेवाकार्यों को निरन्तरता से आगे बढ़ाने के लिए बड़ी सख्या में त्यागी तपस्वी संन्यासियों की आवश्यकता है, जो निष्काम भाव से आजीवन सेवारत रहें। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि पतञ्जलि योगपीठ में श्रद्धेय गुरुदेव आचार्य प्रद्युम्न जी महाराज के सान्निध्य में दर्शन एवं वेद आदि का अध्ययन कर चुके बहुत-से वैराग्यसंपन्न भाई-बहन रामनवमी (संवत् २०७५ वि.) के पावन अवसर पर श्रद्धेय स्वामी जी महाराज से संन्यास दीक्षा ले रहे हैं। दीक्षा लेने वाले इन भाई-बहनों के मार्गदर्शन हेतु पूज्य गुरु जी ने प्रस्तुत पुस्तक तैयार की है। श्रद्धेय गुरु जी विद्याविनयसंपन्न महान् आचार्य हैं और संन्यास धर्म का मूर्त रूप हैं। आपकी लेखनी से प्रसूत ये दिव्य उपदेश नवदीक्षित संन्यासियों के लिए प्रकाश स्तम्भ का काम करेंगे। आशा है संन्यासी भाई-बहन इनका स्वाध्याय कर अपने संन्यास-जीवन को दिव्य बनायेंगे।

दिनाङ्क - २२.०३.२०१८

शुभाकांक्षी
आचार्य बालकृष्ण

॥ओ३म्॥

॥ इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वभ्यः पथिकृद्भ्यः॥

भूमिका

3 मार्च, 2018 को कोई ऐसी अचिन्तित घटना घटी कि जिसको याद करता हूँ तो मेरे पूरे शरीर में सिहरन-सी दौड़ जाती है। एक क्षण के लिए श्वास रुक जाता है। फिर एक दिन 18 मार्च को सायंकाल पहली बार भगवान् की वाणी सुनने का मौका मिला। मैंने श्री अरविन्द के लेखों में और अन्य भी कई साधक-साधिकाओं के मुख से बहुत सुना था कि भगवान् हमें साक्षात् निर्देश देते हैं पर मैं सोचता था कि हमें तो कभी कुछ बताते नहीं। अभी तो जो वे लिखवा रहे हैं, लिख रहा हूँ। भगवान् कह रहे हैं, अपने बारे में अच्छा-बुरा कुछ मत बोलो, क्योंकि यहीं पर साधक से भूल होती है कि वह भगवान् से हटकर अपने अहं की सेवा में जुट जाता है। पर हाँ, मेरी महिमा जितनी सुना सको लेखनी से, मौन से अपने आचरण से, खूब सुनाओ, लेकिन इस बात का तनिक-सा भी अहंकार अपने में मत आने दो कि भगवान् अपनी महिमा सुनाने के लिए मुझे निमित्त बना रहे हैं। उनका कहना है- मैं बहुत महान् हूँ, संसार में किसी में कोई शक्ति नहीं जो मेरा अतिक्रमण कर सके। ऐसा कोई कार्य नहीं जिसको मैं चाहूँ और वह न हो। संसार में बहुत-बहुत बड़ी शक्तियाँ हैं, आसुरी शक्तियाँ हैं, वे भी जिस के सर पर मेरा हाथ होगा उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकेंगी। ये बातें हजारों बार मैंने पढ़ी, दूसरों को भी सुनाई, किन्तु अभी जो वे सुना रहे हैं, वह पहले से अलग प्रकार का लग रहा है। मैंने उनके आगे हाथ जोड़े और जैसा मेरा ढंग है, मैंने अपनी विनम्र वाणी में कहा कि ठीक है, आप जैसा कहेंगे, वैसा ही होगा। मैं अपने आपको तुम्हारे चरणों में समर्पित करता हूँ।

उन्होंने मुझ से कहा कि मैं किसी के भूतकाल को नहीं देखता कि कौन मेरा प्रेमी रहा है या शत्रु। कौन अपने वचन पर अडिग रहने वाला रहा है और कौन अपने ही द्वारा की गई प्रतिज्ञाओं को धड़ाधड़ तोड़ने वाला, कौन सत्यनिष्ठ रहा है और कौन चालाक, कौन अहंकारी रहा है या निरहङ्कार, कौन शान्त रहा है और कौन अशान्त, कौन दुराचारी रहा है या सदाचारी, किसने मेरे द्वारा प्रदत्त विविध शक्तियों का सदुपयोग किया है और किसने दुरुपयोग, कौन है जिसने कभी किसी से धोखा नहीं किया या कौन सदा अपने को व दूसरों को धोखा देता रहा। इन सब पैमानों को समाज देखता है। मेरा पैमाना

कुछ अलग है, मेरा आशीर्वाद लेने के लिए किसी को भी उस पैमाने पर खरा उतरना चाहिए। उसके बिना मैं आशीर्वाद नहीं देता हूँ।

मैं अपने शत्रु के भी भोग नहीं छीनता, क्योंकि भोग तो कर्म के नियम से मिलते हैं। मैं किसी भी उत्तम से उत्तम कर्म से नहीं मिलता, बुद्धिमान् होने से भी नहीं मिलता, केवल जो चरित्रवान् है, उसको भी नहीं मिलता, जो बहुत बड़ा दानी है उसे भी नहीं मिलता, मेरी कथा करने वालों शब्दों में मेरी महिमा गाने वालों को भी मैं नहीं मिलता। मैं मिल तो जाता हूँ, पर साथ में यह भी है कि मेरा प्राप्त होना बहुत-बहुत मुश्किल है। जो मेरी माया को नहीं बल्कि मुझे चाहता है, उसे मिलता हूँ। इस विशाल संसार में कौन है जो केवल मात्र मुझे चाहेगा? मैं किसी को मिल भी गया, किन्तु प्रमादवश फिर वह यदि मेरी माया को चाहने लगा तो हम तो निर्लिप्त हैं, हमारा कुछ नहीं जाता, हम तो एक तरफ हो जाते हैं। वे यह भी कह रहे हैं कि डरो! मैं बड़ा जबरदस्त हूँ। मेरे विधान को लाँघने की देव या दानव किसी में शक्ति नहीं है।

‘परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ’ इस भगवान् की वाणी को सामने रखकर मैं अपने पूज्य गुरुजनों, अपने मित्रों व अपने शिष्यों से यह प्रार्थना व निवेदन करना चाहूँगा कि आप सब मुझे अपना प्रेम व आशीर्वाद प्रदान करें, जिससे मैं अपने आत्मा में पूर्ण ब्राह्म बल को धारण कर सकूँ और जीवन्मुक्त होकर अन्य मुमुक्षुओं की सहायता कर पाऊँ।

‘संन्यास धर्म’ इस लघु पुस्तिका में पाँच-सात बिन्दुओं पर विशेष विचार किया गया है। जैसे- संन्यासी के कर्तव्य, तप व दीक्षा, शुद्धि-अशुद्धि, संन्यासी की दृष्टि, जप व उपासना, बन्ध-मोक्ष, तृष्णा-त्याग, सबके लिये अभयदान इत्यादि। संस्कृत जानने वालों के लिए मनुस्मृति, गीता व चरक संहिता के सुन्दर-सुन्दर श्लोकों की सूची (मूलमात्र) दे दी है, जिससे पारायण करने में सुविधा हो। शास्त्र के मुख्य-मुख्य सन्दर्भों की तरफ ध्यान दिलाने का एक प्रयास किया है। जिससे अपनी-अपनी रुचि के अनुसार लाभ उठाया जा सके।

अपने प्रातः स्मरणीय वेदान्त-गुरुवर ज्ञानमूर्ति प्रेममूर्ति आचार्य मणिद्राविड़ जी (चेन्नाई), दूसरे गुरुदेव छात्रवत्सल भगवद्भक्त डॉ० काशीराम जी दिल्ली, मेरे अत्यन्त प्रिय सुहृद् प्रो० ओमनाथ जी ‘बिमली’ प्राध्यापक दिल्ली विश्वविद्यालय, जिनके साथ वेदान्त पर चर्चा होती रही, जिनकी कृपा से वेदान्त का सार समझने में समर्थ हो पाया, उन सबको मेरा श्रद्धापूर्ण विनम्र प्रणाम!

मेरे श्रद्धेय पूज्यवर श्रीचन्द्रस्वामी जी उदासीन व श्री स्वामी प्रेमविवेकानन्द जी महाराज, साधना केन्द्र आश्रम डुमेट (देहरादून) को सश्रद्ध प्रणाम करता हूँ।

‘रामनवमी’ श्री स्वामी जी महाराज के दीक्षा-दिवस के रूप में बड़े धूम-धाम और चाव से मनाया जाता है। इस अवसर पर इस बार वे बहुत सारे युवा ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणियों को संन्यास धर्म में दीक्षित कर रहे हैं। किसी दैवी विधान से अकस्मात् मुझे भी एकान्तवास का मौका मिला। चिन्तन-मनन और विशेषकर लिखने के लिए जैसी मनःस्थिति और परिस्थिति चाहिए यह उसके अनुकूल थी, अतः धीरे-धीरे सहजरूप से मैं भी लिखने लगा कि श्री स्वामी जी के महत् कर्म में मेरी भी कुछ आहुति लग जाए। चूँकि मैं भी इस मार्ग का पथिक हूँ और कोई कार्य कर्ता की रुचि के अनुकूल मिल जाए तो सबसे अधिक लाभ करने वाले को ही मिलता है, इसलिए श्री स्वामी जी और श्री आचार्य जी इन दोनों महापुरुषों के लिए अपना कृतज्ञता-ज्ञापन करता हूँ कि उन्होंने मुझे बाधा-रहित सहयोग देने का निश्चय किया हुआ है।

पतञ्जलि योगपीठ के कोषाध्यक्ष श्री स्वामी मुक्तानन्द जी महाराज तथा डॉ० यशदेव जी शास्त्री मुझे अपना मौन भी और सवाक् भी संदेश देते रहते हैं कि जो अपने को साधक समझते हैं, उनका रास्ता प्रवाह से कुछ अलग हटकर होना चाहिए। उनके लिए भी धन्यवाद।

जो मेरी हर आवश्यकता को पूरा करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं ऐसे उन श्री रामभरत जी व श्री ललित मोहन जी का भी धन्यवाद।

भारत स्वाभिमान महिला प्रभारी व सेवाव्रती भाईयों के लिए पतञ्जलि योगपीठ में चल रहे दर्शन विभाग की अध्यक्ष आचार्या सुमना जी को उनके मौन सहयोग के लिए धन्यवाद।

वैदिक कन्यागुरुकुलम् की विदुषी आचार्या सविता जी व उनकी सुयोग्य शिष्या श्रुति जी, जो साधना पथ पर चलते हुए अपने जीवन का परिष्कार, परिमार्जन, रूपान्तरण करने के लिए सतत लगी हुई हैं। श्री स्वामी जी महाराज के विद्या सम्बन्धी काम में जो अपना महनीय सहयोग देने के लिए कृतसंकल्प हैं। इस पुस्तक को व्यवस्थित रूप देने के लिए अपने अमूल्य समय का योगदान दिया, उनका औदार्य सदा मुझे प्राप्त होता रहता है। उनके लिए आशीर्वाद।

पुस्तक के अलग-अलग लेख केवल मैंने लिख मात्र दिये थे, आखिरी बिन्दु पर यदि डॉ० विजयपाल जी प्रचेता व उनके टाइपिस्ट श्री गोविन्द जी तथा बहिन चन्द्रिका बीच में न आते तो पुस्तक का जो रूप आपके हाथों में है, वह नहीं आता, तदर्थ उनको बहुत-बहुत धन्यवाद, आशीर्वाद। भगवान् उनकी सभी शुभकामनाएं पूरी करें।

डॉ० मनोहर लाल जी आर्य ‘कविराज’ मेरे मित्रवर आचार्य रूपचन्द्र जी ‘दीपक’ आचार्य फूलचन्द्र जी व्यवस्थापक प्रभारी वैदिक गुरुकुलम्, डॉ० प्रशान्त जी, दिल्ली, मेरे प्रति सौहार्दपूर्ण व्यवहार के लिए इन महानुभावों को भी धन्यवाद।

आचार्य भवेन्द्र जी, आचार्य वेदमित्र जी, जो अपने स्थिर व पवित्र जीवन से सतत अपना प्रसाद बाँटते रहते हैं, उनके लिए भी धन्यवाद।

आचार्य नकुल जी, आचार्य स्मित जी, आचार्य ईशु जी, आचार्य शुभम् जी, आचार्य अभयम् जी, आचार्य हरिओम् जी, आचार्य नारायण जी, आचार्य संतोष जी, आचार्य नृपेश जी, आचार्य ओकेश्वर जी, आचार्य शशिरञ्जन जी, आचार्य किशोर जी, आचार्य रामनिवास जी, आचार्य तीर्थराम जी, आचार्य रणजीत जी, आचार्य विवेकानन्द जी, महात्मा विनोद जी, ब्रह्म० अभिषेक जी, ब्रह्म० भरद्वाज जी व ब्रह्म० आशु जी आदि सैकड़ों समर्पित व्यक्तित्व जो श्री स्वामी जी महाराज के कार्य में अपने-अपने ढंग से सहयोगी बने हुए हैं, उन सभी के जीवन की पवित्रता निरन्तर बढ़ती रहे, ऐसी शुभकामनाएँ एवं अन्य भी सभी ब्रह्मचारियों के पवित्र जीवन के लिए शुभकामनाएँ।

सुश्री आचार्या शीतल जी आर्ष कन्या गुरुकुल रोजड़ (गुजरात), वैदिक कन्या गुरुकुलम् की कई बहनें ब्रह्म० देवकी जी, ब्रह्म० राधिका जी व ब्रह्म० अञ्जलि जी इत्यादि जो गत कई वर्षों से मेरे साथ शास्त्रचर्चा करती रही हैं, इन सभी अत्यन्त कुशाग्रमति बहनों के उज्ज्वल भविष्य के लिए हृदय से शुभकामनाएँ कि वे अपने जीवन के परम शान्ति रूप चरम लक्ष्य को प्राप्त करें व साथ में उनका आभार। विष्णुप्रियाजी व मीनाक्षी जी परस्पर सौहार्दपूर्वक जो श्री स्वामी जी के सेवाकार्य में जुटी हुई हैं उसके लिये उन्हें बधाई। तपोमूर्ति मनीषा जी, सुमना जी व मिषिता जी लंदन इत्यादि के तपोमय जीवन को प्रणाम एवं अन्य भी सभी ब्रह्मचारिणियों के पवित्र जीवन के लिए अन्तस् से प्रार्थना। बड़े ही श्रद्धा-भक्ति-प्रेमपूर्वक माता जी की सेवा में निरत शशि माता का भी कोटिशः धन्यवाद।

“संन्यासधर्म” इस पुस्तक के सन्दर्भ में भाग दौड़ करने के लिए ब्रह्म० सञ्जय जी, ब्रह्म० अनंगपाल जी, श्री अनिरुद्ध जी, श्री रिकू जी व श्री विजय जी आदि ने जो अपने समय का योगदान दिया, उसके लिए उनको आशीर्वाद।

भगवद्भक्तों के चरणों में विनयावनत।

दिनाङ्क : 24.03.2018

आचार्य प्रद्युम्न

विषय-सूची

विषय	पृष्ठसंख्या
साधक यति के पथप्रदर्शक चिन्तनदीप	1-11
• दो प्रकार के साधक	1
• जीवन में अशुद्धियों का प्रवेश एवं अशुद्धि-शोधन की दुष्करता	1
• दृढ निश्चय से शोधन में सफलता	1
• चित्त की अशुद्धि	2
• गुण दोषों की प्रकृति	2
• चित्त की शुद्धि व शान्ति के उपाय	2
• प्रारब्ध एवं पुरुषार्थ	4
• कर्मों की महिमा	4
• कर्मों से बन्धनमुक्ति	4
• काम ही बन्धन	5
• हमारा लक्ष्य - पूर्णता	5
• व्यक्तित्व- निर्वैयक्तिक (क)	5
• व्यक्तित्व- निर्वैयक्तिक (ख)	6
• ज्ञान-प्राप्ति के साधनभूत एवं फलभूत भाव व कर्म	7
• धर्म-पथ	7
• सूक्ष्म बुद्धि की यथार्थनिर्णय-क्षमता	8
• अन्तर्मुखी भाव की आवश्यकता	8
• जीव की प्यास	8
• ब्रह्म के दो रूप	9
• भगवान् की सत्ता	9
• भगवती माता	10
• त्रिविध उपासना	10
अभयदान— संन्यासी का आवश्यक कर्तव्य	12-16

विषय-सूची

(११)

• अभयदान का रहस्य	12
• संन्यास का अर्थ	15
• अन्त भला सो भला	15
संन्यासी के विशिष्ट कार्य	17-23
• संन्यासी का जप	17
• संन्यासी का भगवान् से सम्बन्ध	19
• संन्यासी की दृष्टि	20
• संन्यासी के प्रति क्रोध करने वाले को प्रत्युत्तर	23
संन्यास-संस्कार के प्रेरक मन्त्र	24-33
तप एवं दीक्षा	34-51
• संन्यासियों के लिए तप एवं दीक्षा सर्वोपरि	34
• पदार्थ, ज्ञान व भाव से जीवन की पूर्णता	38
• पूर्णतः अशुद्धिक्षय- संन्यासी का संकल्प	44
• योगानुष्ठान से अशुद्धिक्षय	49
आहार एवं आचरण आदि का शोधन	52-57
जीवन के चार रूप	58-60
संन्यासी संसार में कैसे रहे	61-69
संन्यासी के लिए एक गम्भीर आदेश	70-74
संन्यासी की वाणी (ब्रह्मगवी)	75-77
संन्यासी का निश्चय	78-80
संन्यासी की ईमानदारी	81-83
ब्रह्मचर्य	84-98
संन्यासी की सर्वोत्तम वस्तु	99-102
संन्यासी का अपरिग्रह	103-105
संन्यासी शान्तिदूत	106-109

संन्यासियों की स्थिति	110-111
संन्यासी के मार्ग की बाधाएँ	112-118
मोक्षविद्या	119-129
संन्यासी के लिये गीता का सार-सन्देश	130-136
संन्यासी का सच्चा बल	137-138
संन्यासी का साधन	139-140
मनुस्मृति- षष्ठ अध्याय	141-143
• संन्यास धर्म	141
मनुस्मृति- एकादश अध्याय	144-145
• प्रायश्चित्त-विधान	144
मनुस्मृति- द्वादश अध्याय	146-149
• कर्मफल-विधान एवं निःश्रेयसकर कर्मों का वर्णन	146
चरक संहिता के मनन योग्य विशिष्ट प्रसङ्ग	150-161
कर्मयोग : कर्मसंन्यास : ज्ञानसंन्यास	162-175
भोगजीवन-योगजीवन	176-184
लोकमङ्गल-आत्ममङ्गल	185-198
भगवान् के शक्तिशाली आश्वासन	199-209
मैं कौन ?	210-211
भगवान् का सहारा	212-215
स्वाध्याय	216-221
संन्यासी आत्मचिकित्सक	222-229
नारियों के लिए संन्यास आश्रम का अधिकार	230-237
आशीर्वचन	238-243
संन्यास धर्म (श्लोकाष्टकम्)	244

संन्यास धर्म

(एक विशेष सूचना है- सर्वत्र इस पुस्तक में साधक मात्र के लिए 'संन्यासी' इस शब्द का प्रयोग किया है, अतः ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ सभी साधकों के लिए ही सब बातें हैं।)

साधक यति के पथप्रदर्शक चिन्तनदीप

दो प्रकार के साधक—

दो प्रकार के साधक हैं- एक वे, जो भूतकाल की अशुद्धि के आधार पर वर्तमान में भी अपने को पतित-अधम मानकर अपने आपको शुद्ध करना चाहते हैं, नीचे से ऊपर आरोहण करते हैं। दूसरे वे हैं, जो अपने भूतकाल को पतित और अधम कहते हैं, किन्तु अपने वर्तमान को निर्दोष या शुद्ध देखते हैं और उस निर्दोषता में उस शुद्धि में जीते हैं। अब आप स्वयं देखिए- किस दृष्टि को अपनाना चाहते हैं।

जीवन में अशुद्धियों का प्रवेश एवं अशुद्धि-शोधन की दुष्करता —

जीवन के आरम्भ में न तो ज्ञान होता है, न सङ्ग ही अच्छा मिलता है, इन्द्रियों की प्रवृत्ति भी बहिर्मुखी होती है, किसी भी उपाय से (धर्मपूर्वक या अधर्मपूर्वक) इन्द्रिय-सुख लेने का आकर्षण बहुत ही तीव्र होता है। आगे चलकर कुछ-कुछ बोध तो होने लगता है, किन्तु तब तक अभ्यास दुष्ट हो चुके होते हैं, व्यक्ति अभ्यासों के द्वारा चलाया चलता है। शास्त्र से, गुरु-आचार्यों से, सत्सङ्ग से जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष ही होता है, अतः उसकी शक्ति बहुत ही अल्प होती है, इसलिये अपनी अशुद्धि को साफ करना व्यक्ति के लिये बहुत बड़ा दुष्कर कार्य हो जाता है।

दृढ निश्चय से अशुद्धि शोधन में सफलता—

हाँ! जो एक तरफा निश्चय कर लेते हैं कि हमें तो किसी भी कीमत पर पूर्ण रूप से शुद्ध होना है। वे तो फिर किसी भी उपाय से शुद्ध हो ही जाते हैं। यह एक क्रम है। व्यक्ति जो कुछ सीखता है, उस ज्ञान के अनुसार अपने को शुद्ध करना या जीना आरम्भ कर देता है। शुद्धि का ही अगला चरण मुक्ति है और जो मुक्त है, वही आनन्द में जी सकता है। अन्यथा व्यक्ति अपने

आपको सचेतन होकर देखने लगे तो अपने को सब तरफ से विविध प्रकार के बन्धनों (संस्कारों, कर्मों, सम्बन्धों) में जकड़ा हुआ पाता है। मुक्त अर्थात् स्वाधीन, बद्ध=पराधीन। स्वाधीनता ही सुख है और पराधीनता दुःख, यह एक सर्वजनविदित तथ्य है।

चित्त की अशुद्धि-

चित्त में उठती हुई इच्छाओं से, आसक्तियों से, कामनाओं से पता चलता है कि चित्त शुद्ध है अथवा अशुद्ध। रजोगुण तमोगुण से परिचालित होकर जो चित्त अपनी भोग-रुचि (तीनों एषणाओं) की पूर्ति में लगा हुआ है, निश्चय ही वह अशुद्ध चित्त है। जो चित्त आत्माभिमुख नहीं है, बाहर संसार की ओर देख रहा है। सत्ता-सम्पत्ति-सम्मान व वैषयिक सुखों में रचा-पचा है। परिस्थिति विशेष के अनुसार कभी सुखी होता है कभी दुःखी। अहंता और ममता परवश होकर पद-प्रतिष्ठा-योग्यता व परिस्थितिविशेष के कारण अपने को दूसरों से अलग (विशेष) अनुभव करता है तो समझ लेना चाहिये कि वह चित्त अशुद्ध है। किसी भी प्रकार का क्षोभ, खिन्नता, असहजता व असंयम इत्यादि सब के सब दुष्ट भाव या अवाञ्छित भाव अशुद्ध चित्त के लक्षण हैं। जो चित्त भगवच्चर्चा सुनने में रस नहीं लेता, सन्त चरित सुनकर पुलकित नहीं हो जाता, अपने जीवन की अशुद्धि का अध्ययन करना नहीं चाहता, वह अशुद्ध चित्त है। दूसरों की निन्दा-स्तुति या परचर्चा में रस की अनुभूति अशुद्धचित्त को ही होती है।

संसार को देखकर यदि शरीर या मन में किसी प्रकार की कोई कुलबुलाहट होती है, तो यह सब अशुद्धि का संकेत देता है। लुकाव-छिपाव, उत्सुकता इत्यादि सब अशुद्ध चित्त की उपज है। ध्यानकाल में जो चित्त खाली नहीं रह पा रहा, अन्य समय के ही चित्र उपस्थित हो रहे हैं तो समझ लेना चाहिए चित्त अशुद्ध है। जो चित्त व्यर्थ चिन्तन व अनावश्यक संकल्पों में लीन है, वह अशुद्धचित्त है। व्यर्थचिन्तन=भूत व भविष्यत् का चिन्तन।

गुण व दोषों की प्रकृति -

महापुरुषों का यह अनुभूत सत्य है कि गुण जब बढ़ते हैं तो उनकी अन्तिम परिणति व्यक्ति को अहंकाररहित कर देती है, दूसरी तरफ दोष बढ़ते हैं तो उनकी परिणति व्यक्ति को ढीठ व निर्लज्ज बना देती है।

चित्त की शुद्धि व शान्ति के उपाय-

सभी शास्त्र, सभी पुरुष, सभी धर्मगुरु एक ही बात कहते हैं कि किसी भी उपाय से मन के उपद्रव को शान्त किया जाए। उपाय भी लगभग मिलते

जुलते हैं। फिर भी जब अलग-अलग समय में जन्मे विभिन्न लोग एक ही बात को अपने-अपने ढंग से कहते हुए मिलते हैं तो श्रोता का उत्साह बढ़ता है, उसे निश्चय हो जाता है कि हजारों-हजारों ऋषि-महर्षि, प्राचीन-अर्वाचीन सब के सब तो झूठे नहीं हो सकते। अवश्य ही भगवान् हैं, वे सर्वसमर्थ हैं, अद्वितीय हैं, दयालु हैं, भक्तों पर कृपा करते हैं, बस इतना ही है कि कृपा पाने के लिए कृपा-पात्र होना होता है, वे प्रेममय, ज्ञानमय व शान्तस्वरूप हैं, उनका सौन्दर्य अतुलनीय है, वे निष्पक्ष हैं, अतः विधान के तोड़ने वाले के प्रति बहुत कठोर भी हैं। साधक यह भी देखने लगता है कि पूर्व ऋषियों के अनुभवों को महत्त्व देते हुए हम भी साधना के द्वारा अमरत्व, परमशान्ति को पा सकते हैं। कर्म-सम्बन्धी कारण-कार्य का जो अलङ्घ्य नियम है, उस पर भी उसका विश्वास हो जाता है। ईश्वरीय ज्ञान के मूर्त रूप श्रुतियों व स्मृतियों पर पहले तो विश्वास करता है और फिर साक्षात् अनुभव करने लगता है। इसी श्रृङ्खला में न्याय शास्त्र के रचयिता आचार्य गोतम साधकों के लिए अपना प्रसाद बाँटते हुए कहते हैं-

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ॥४.२.४६॥

(तदर्थम्) समाधि-सिद्धि के लिए (यमनियमाभ्याम्) यम और नियम के आचरण से और (योगात्) चित्त वृत्तियों के निरोध से (अध्यात्मविध्युपायैः) तथा अध्यात्मशास्त्रों में बताए ज्ञान-उपासना उपायों से (आत्मसंस्कारः) आत्मा का संस्कार समाधिलाभ की योग्यता, एकाग्रता आदि का सम्पादन करना चाहिए।

तत्त्वज्ञान एवं आत्मसंस्कार का परिपाक किन उपायों से होता है। आचार्य उत्तर देते हैं-

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ॥४.२.४७॥

(ज्ञानग्रहणाभ्यासः) आत्मज्ञान के प्रतिपादक शास्त्रों का ग्रहण अध्ययन-धारण तथा अभ्यास, निरन्तर स्वाध्याय श्रवण-मनन आदि तथा (तद्विद्यैः) आत्मतत्त्व एवं अध्यात्मशास्त्र के साक्षात्कृतधर्मा व्यक्तियों के साथ संवाद-चर्चा करना तत्त्वज्ञान परिपाक के उपाय हैं।

गतसूत्र में 'तद्विद्यैः सह संवादः' इस वाक्य के 'तद्विद्यै' कौन-कौन हो सकते हैं, आचार्य स्पष्ट करते हैं-

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयात् ॥४.२.४८॥

(तम्) उस संवाद को (शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिः) शिष्य, गुरु, सहाध्यायी, विशिष्ट तथा श्रेयोर्थी मोक्षाभिलाषी व्यक्तियों के साथ (अनसूयुभिः) जो असूया-ईर्ष्या आदि करने वाले न हों (अभ्युपेयात्) स्वीकार करे।

चरक-संहिता में भी इसी भाव का एक सूत्र मिलता है—

‘तद्विद्यसम्भाषा बुद्धिवर्धनानाम्’। उस-उस विद्या के जानकार लोगों के साथ संवाद करना, उस-उस विषय के ज्ञान बढ़ाने का सर्वोत्तम उपाय है।

संन्यासी को भी सदा ऐसा समझना चाहिए कि मैंने इस श्रेणी में प्रवेश लिया है। बस इतना ही है कि मैं त्याग-वैराग्य की तरफ बढ़ना चाहता हूँ। मैंने अपने ज्ञान के द्वार बन्द नहीं किए हैं। यद्यपि ‘यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः’ इस वेद वचन के अनुसार भीतर ही सब कुछ है तो भी भूमि में विद्यमान जल को प्राप्त करने के लिए जैसे कुआँ खोदने आदि की क्रिया की जाती है तद्वत् उस भीतर में उपस्थित ज्ञान-समुद्र तक पहुँचने के लिए अध्ययन-अध्यापन संवाद आदि अपेक्षित होते ही हैं।

प्रारब्ध एवं पुरुषार्थ -

भोग (सुख-दुःख) तो प्रारब्ध के अनुसार मिलते हैं किन्तु ज्ञान व भक्ति पुरुषार्थ व कृपा साध्य है। किसी सत्य को स्वीकार करना ही साधक का पुरुषार्थ है तथा उस स्वीकृत सत्य के अनुसार अपनी तरफ से अच्छे से अच्छा कर डालने पर व्यक्ति को जो कुछ भी मिलता है उसी का नाम कृपा है। कृपा को कोई भी शक्ति रोक नहीं सकती। कर्म का एक अलंघ्य नियम है, वह यह है कि हीन या उत्कृष्ट जैसा भी कर्म होता है, वह अपने अनुरूप फल देता ही है।

कर्मों की महिमा-

अगले जन्म में इस जन्म के कर्मों का फल मिलता है, यह सत्य है किन्तु इतनी दूर क्यों जाया जाये। अभी, जब कि कर्म कर रहे हैं या तत्काल कर्म के पश्चात् शुभ कर्म का फल आनन्द, उत्साह व निर्भयता के रूप में और अशुभ का फल हीनभाव, पश्चात्ताप, भय, लज्जा व संकोच के रूप में मिलता ही रहता है। शुभकर्म भी जब ईश्वरार्पण बुद्धि से किये जाते हैं, तो ही चित्तशुद्धि के जनक होते हैं। वे भी यदि अहं से प्रेरित होकर किये जाते हैं तो चित्त को तो अशुद्ध ही कर डालते हैं।

कर्मों से बन्धनमुक्ति -

ईश्वर को कर्म बाँधते नहीं हैं, क्योंकि ईश्वर उन-उन कर्मों को करते

हुए भी उनमें अनासक्त रहता है। कर्मों में आसंग दो प्रकार का है— फलासंगरूप और कर्तृत्वाभिमानरूप। ईश्वर न तो कर्मों के फल से बंधा हुआ है अर्थात् अपने लिए किसी भी कर्म का फल चाहता है और न ही उसे “मैं कर्मों को कर रहा हूँ” (अहं करोमि) ऐसा अभिमान ही होता है। जीव भी यदि इन दोनों विशेषताओं को धारण कर लेता है तो वह भी कर्मों से बँधता नहीं है।

काम ही बन्धन -

संकुचित अर्थ में काम (व्यापक अर्थ में कामना) ही बन्धन है। अविवेकपूर्ण, अधर्मयुक्त, अशुभकामना या काम से मुक्ति ही वास्तव में मुक्ति है। नीरसता में काम की उत्पत्ति होती है। रसरूप जीवन में काम के लिये कोई स्थान ही नहीं है। उदारता स्वाधीनता और प्रियता में तथा इन्हें पाने के लिए गहरी वेदना में रस का वास है। अर्थात् उदार, स्वाधीन और प्रेमी के जीवन में तथा ऐसा बनने के लिए व्यथित हृदय में नीरसता नहीं आ सकती, नीरसता नहीं तो काम नहीं।

हमारा लक्ष्य- पूर्णता-

उसकी कसौटी है— पूर्ण स्वाधीनता, स्वराट् पद की प्राप्ति। पूर्ण सहज, अनायास या अप्रयत्न स्थिति। कसौटी वह साधन है, जिससे हम वस्तु के असली और नकली स्वरूप को पहचानते हैं।

अपने को व्यवस्थित रखने के लिये थोड़ी-सी भी शक्ति खर्च न करनी पड़े। एक क्षण के लिये भी वह चित्र न आये, जिसको साफ करना पड़े, जिसको हटाना पड़े, झाड़ू लगानी पड़े। एक बार भी कोई दुर्बलता न आये जो दुर्बलता के रूप में प्रतीत हो— भोजन करते समय, सोकर जागते समय, किसी कार्य को करते समय, किसी के साथ वार्ता-प्रसंग में इत्यादि। एक क्षण के लिये भी नीरसता न आये। सृष्टिकर्ता जैसे सृष्टि में रहता है, अथवा जैसे हमारे हृदय का स्पन्दन या आँखों का निमेष-उन्मेष सहजता से होता है, वैसे ही हम शरीर में रहें।

व्यक्तित्व : निर्वैयक्तिक (क) -

‘व्यक्तित्व’ का कोई भी रूप जो प्रयासों से गढ़ा जाता है या गढ़ा जा रहा है, मात्र वही सत्य नहीं होता या जीवन नहीं होता। हाँ! वह भी जीवन या सत्य की प्राप्ति का साधन तो हो ही सकता है या होता ही है। व्यक्तित्व के बहुत सारे रूप हैं, जिनको विशेषणों के द्वारा एक-दूसरे से पृथक् करके देखा जा सकता है। जैसे— सामान्य व्यक्तित्व-विशेष व्यक्तित्व, प्रखर या तेजस्वी व्यक्तित्व-निस्तेज व्यक्तित्व, सत्यनिष्ठ-असत्यनिष्ठ, धार्मिक-अधार्मिक, ध्यानप्रेमी-सांसारिक, अचञ्चल (शान्त)-चञ्चल, अन्तर्मुख-बहिर्मुख, विद्वान्-अविद्वान्, मनुष्य या देवता, ज्ञानी-अज्ञानी, परोपकारी-स्वार्थी, सभी के द्वारा स्वीकार्य-अस्वीकार्य, नम्र-अहंकारी, योगी-भोगी, स्मार्ट-आलसी इत्यादि। मनुष्य के साथ जो भी

विशेषण जुड़ जाता है, जैसे अमुक व्यक्ति इतने समय से अमुक कार्य कर रहा है, वह सब उसका व्यक्तित्व बन जाता है। देश-काल में अवतरित कोई भी नाम-रूपात्मक अभिव्यक्ति व्यक्तित्व का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। 'सत्य' देश-काल (रूप-नाम) से अतीत है। प्रश्नोपनिषद् की भाषा में कहें तो पुरुष की १६ कलायें उसका व्यक्तित्व हैं किन्तु पुरुष अपने स्वरूप में निर्वैयक्तिक है, अकेला है, समस्त कलाओं से परे निष्कल है।

व्यक्तित्व : निर्वैयक्तिक (ख)-

व्यक्तित्व का आधार निर्वैयक्तिक है। जो सदा मूल में रहता है, पर रहता है अदृश्य। सदा ही वह अनुभविता होता है, कभी भी जो अनुभव में नहीं आता। व्यक्तित्व सदा अनुभूयमान होता है, अनुभव में आता है, दृश्य होता है, लाभकर या हानिकर होता है, समष्टि की रक्षा करता है या विध्वंस करता है। व्यक्तित्व सदा Becoming state में रहता है, सदैव 'गति' उसका स्वभाव है, Dynamic है। निर्वैयक्तिक का स्वरूप है Being] जो सदा Static रहता है। संसार का स्वरूप है स्थिति (Being) और गति (Becoming) का समुच्चय। 'स्थिति' तो एकरस है, अपरिवर्तनशील है, बढ़ने-घटने से परे है, जन्म-मरण से अतीत है किन्तु गति के लिये अधिष्ठान अवश्य है। अधिष्ठान के बिना अधिष्ठित की कल्पना ही नहीं हो सकती। 'गति' तो सतत प्रवाह है। इसलिये गतिस्वरूप 'व्यक्तित्व' नदी की तरह है जो अपने गन्तव्य की ओर सतत प्रवाहित है।

निर्वैयक्तिक शान्त सागर की तरह है जो कि 'है' के रूप में है, उसे न कहीं आना है न जाना। 'व्यक्तित्व' विशेषताओं से गठित या निर्मित होता है, निर्वैयक्तिक निर्विशेष है। इसलिये निर्वैयक्तिक में सदा 'दर्शन' अनुस्यूत रहता है किन्तु 'प्रदर्शन' के बिना व्यक्तित्व की तो कोई सत्ता नहीं। हाँ! व्यक्तित्व का भी ऐसा एक रूप अवश्य है जो दिखावा नहीं चाहता, जिसमें किसी के साथ कोई स्पर्धा नहीं है, कोई हीनभावना या अहं भावना नहीं है। वह है 'सहज प्रस्फुटन' (Flowering of the bud)

एक तरफ निर्वैयक्तिक असीम है तो दूसरी तरफ व्यक्तित्व का यह रूप (सहज प्रस्फुटन) भी असीम ही है।

व्यक्ति की सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह प्रकृतिप्रदत्त अपने इस अमूल्य उपहार सहज प्रस्फुटन से अपरिचित है। व्यक्ति अपने एक ही रूप को जानता है- संघर्ष, आयास-प्रयास, स्पर्धा, भय, कामना-तृष्णा, ऐन्द्रियक संवेदनाओं की लालसा और उन्हीं के लिये अपने अमूल्यजीवन की आहुति, अपने अहं की पूर्ति व शक्ति (Power) की प्राप्ति हेतु अन्तहीन श्रम इत्यादि।

सचमुच धन्य हैं वे लोग जिनका जीवन 'सहज प्रस्फुटन' का जीवन्त

उदाहरण है। आओ! जीवन के इस अमूल्य उपहार का आदर करना सीखें। इसके बिना कितने भी बड़े स्तर पर संसार में कुछ कर दिखाया, दूसरों ने आज तक जो नहीं किया वह कर दिखाया, फिर भी वह संसार को सच्ची सुख-शान्ति नहीं दिला सकेगा। ऐसा आदर्श भौतिक रूप से ही सृष्टि को खुशहाल बनायेगा, किन्तु जीवन के सच्चे रस से तो वञ्चित ही रखता रहेगा। सहज प्रस्फुटन में समग्र व्यक्तित्व का ही पूर्ण सम्मान है। 'सहज प्रस्फुटन' रूप इस अद्भुत जीवन में अपने व्यक्तित्व के कुछ हिस्सों को नष्ट करके एक आकर्षक व्यक्तित्व का निर्माण नहीं है।

ज्ञान प्राप्ति के साधनभूत एवं फलभूत भाव व कर्म-

एक ज्ञान प्राप्ति से पहले कर्म व भाव की स्थिति होती है और दूसरी पश्चात्। ज्ञानपूर्ववर्ती भाव या कर्म ज्ञान पाने के लिये साधन रूप होते हैं। किन्तु ज्ञानोत्तरवर्ती भाव या कर्म ज्ञान के फल होते हैं।

धर्मपथ-

धर्मपथ का अर्थ है कर्तव्यपथ या कर्मपथ। कर्तव्यपथ का फैलाव परस्परता में होता है। भौतिक सहायता का आदान-प्रदान धर्मपथ की सहायता से होता है। सार रूप में ऐसा कह सकते हैं कि व्यष्टि या समष्टि (Individually or Collectively) का सुख जिस साधन से बढ़ता है, उसका नाम 'धर्म'। इसके विपरीत जिससे दुःख बढ़ता है उसका नाम 'अधर्म'। किन्तु व्यक्ति यदि अपने को पूर्ण रूप से निर्दोष बनाना चाहता है, अपने जीवन से अधर्म (अनर्थ) का सर्वथा अन्त करना चाहता है तो उसका साधन है- 'ब्रह्म को जानना'। केवल धर्म से अधर्म की पूर्ण निवृत्ति नहीं हो सकती है। ब्रह्म क्योंकि असङ्ग है ज्ञानरूप है, अतः ब्रह्म बोध की स्थिति में व्यक्ति सर्वतः असङ्ग हो जाता है। फिर तो ब्रह्म को प्राप्त हुआ व्यक्ति क्या कठोर हृदय नहीं हो जाता? ऐसा नहीं है, केवल आसक्ति से परे चला जाता है।

जीवन का प्रारम्भ धर्मपथ से होता है और अन्त ब्रह्म में। महाभारत में वेदाचार्य भगवान् व्यास जी ने अपने पुत्र शुकदेव जी को समझाया-

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदः प्रतिष्ठितः ।

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभावितः ।। (महाभारत, शान्तिपर्व)

जिनमें वेद प्रतिष्ठित हैं ऐसे ये दो ही मार्ग हैं- एक तो प्रवृत्तिलक्षण धर्ममार्ग और दूसरा अच्छी तरह भावना किया हुआ निवृत्तिमार्ग। शास्त्र भी दो

बने हुये हैं— कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा। न तो कर्ममीमांसा सबके लिये है और न ब्रह्ममीमांसा। बल्कि यह कहें ब्रह्ममीमांसा तो केवल इने-गिने लोगों के लिये ही है। ऐसा है कि कर्ममीमांसा में प्रविष्ट होने के लिये व्यक्ति का सुपठित होना आवश्यक है; क्योंकि बौद्धिक सामर्थ्य से सम्पन्न व्यक्ति ही कर्म का स्वरूप, कर्म के निष्पादन की विधि, कर्म के साथ सम्बद्ध भाव, कर्म का प्रयोजन इत्यादि समझ सकता है और ब्रह्ममीमांसा में प्रवेश पाने के लिये व्यक्ति को संसार से वैराग्य होना चाहिये। सांसारिक सुखों के प्रति जिसमें थोड़ा-सा भी राग शेष है, वह ब्रह्ममीमांसा का अधिकारी नहीं है। त्रिविध एषणा का त्याग ही सुख का त्याग है। संसार से वैराग्य=त्रिविध एषणा का त्याग।

सूक्ष्म बुद्धि की यथार्थनिर्णय क्षमता—

बुद्धि जब बहुत सूक्ष्म होती है और स्थिर भी होती है तो ही वह निश्चय कर सकती है कि क्या ग्राह्य है और क्या त्याज्य। अर्थात् सुख-दुःख, लाभ-हानि का ठीक-ठीक विवेचन कर सकती है। अन्यथा तात्कालिक सुख और तात्कालिक लाभ को परम सुख व परम लाभ मान बैठती है। बुद्धि को जैसा दिखाई देता है, तदनुकूल ही प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। जिसके परिणाम के रूप में सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि ही सांसारिक विषयों में, सुख लेने के लिये निर्मित या कल्पित सम्बन्धों में, सुख निमित्तक अनुष्ठित विविध क्रियाओं में दुःख-दर्शन कर सकती है।

अन्तर्मुखी भाव की आवश्यकता—

अपनी अन्तरतम हृदय-गुहा में प्रवेश पाने के लिये एक बार तो बाह्य से पूर्णरूप से हटना ही पड़ता है। यहाँ 'बाह्य' शब्द का अर्थ है— विविध कामनायें, कामनायुक्त कर्म, कामनामूलक सम्बन्ध इत्यादि। अपने अन्तरतम में, अपने स्वरूप में स्थित होने के पश्चात् तो कर्म या सम्बन्ध बाधक नहीं बनते।

जीव की प्यास—

आनन्दस्वरूप की उपलब्धि ही जीव का परम पुरुषार्थ है। आनन्द भी कैसा? जो आज हो, कल हो, सदा रहे- अविनाशी आनन्द। जो यहाँ हो, वहाँ हो, सर्वत्र हो- पूर्ण आनन्द। जो बिना किसी श्रम के, बिना किसी उद्योग के मिले- अनायास आनन्द या सहज आनन्द। जो यह भी आनन्द हो, वह भी आनन्द हो- सर्वात्मक आनन्द। जिसमें किसी के अधीन न होना पड़े- स्वाधीन,

स्वतःसिद्ध या स्वतन्त्र आनन्द। जो प्रकाश रूप हो, अज्ञात नहीं- चेतन आनन्द। सुषुप्ति में, स्वप्न में, जागरण में और मरने के बाद भी सर्वदा आनन्द रहे। ऐसे आनन्द को जीव चाहता है और वह हम सब के भीतर ही है, केवल उसकी खोज करनी है, उसको पहचानना है। इसी आनन्द के लिए ही पैसा, विविध कर्म व सब सम्बन्ध हैं। यदि पैसा, कर्म व सम्बन्ध से यह उक्त अभीष्ट आनन्द विघ्नित हो रहा है तो उसकी ठीक से तलाश नहीं हो पाई।

ब्रह्म के दो रूप—

ब्रह्म के दो रूप हैं — एक मायिक दूसरा मायोत्तर। विराट्, हिरण्यगर्भ (क्रमशः स्थूल एवं सूक्ष्म कार्य जगत्) एवम् ईश्वर (कारण जगत्) ये तीनों ब्रह्म के मायिक रूप हैं। विराट् को वैश्वानर भी कहते हैं। तुरीय स्वरूप उसका मायोत्तर रूप है। ब्रह्म सदा सर्वदा एक ही साथ मायिक एवं मायोत्तर रूप में बना रहता है। जीव के भी दो रूप हैं— मायिक (विश्व-तैजस-प्राज्ञ) व मायोत्तर। ऐसा है कि जीव सदा मायिक रूप में ही अपना जीवन जीता है— कभी सुखी, कभी दुःखी। लक्ष्य (गन्तव्य) यही है कि वह साधना के द्वारा मायोत्तर रूप को प्राप्त हो जाये। माया का, प्रकृति का स्वामी हो जाये। ईश्वर की तरह माया को अपने वश में कर ले, माया के वश में न रहे। जीव जब अपने मायोत्तर तुरीय स्वरूप को प्राप्त हो जाता है तो जागरित-स्वप्न-सुषुप्ति जो कि जीव के मायिक रूप हैं, उन में भी अपने उसी मायोत्तर रूप में बना रहता है। जब तक जीव को अपने तुरीयस्वरूप की उपलब्धि नहीं होती, तब तक तो उसे माया का खिलौना बनकर ही जीना पड़ता है। प्रवृत्ति में निवृत्ति, स्वराज्य, स्वाधीनता, सहजता, केवल स्वप्न मात्र ही होती है।

भगवान् की सत्ता—

भगवान् 'है, क्योंकि सभी शास्त्र, सभी धर्मगुरु, सभी सिद्धपुरुष उनकी महिमा गाते हैं। उनके होने में एक और भी पुख्ता प्रमाण है कि वे हम सब साधकों की माँग में हैं। संसार में जो वस्तु है ही नहीं, उसकी माँग नहीं हो सकती। जब वे हैं तो उनके दर्शन, उनका अनुभव कैसे हो? अनुभव तो उन्हीं की कृपा पर आश्रित है कि वे कब हमें अपनी कृपा का पात्र समझेंगे। तो फिर उनकी कृपा पाने के लिये हम क्या कर सकते हैं? हमें ऐसा क्या करना चाहिये कि वे प्रसन्न हो जायें? हम तो इतना ही कर सकते हैं कि अपनी माँग को, अपनी अभीप्सा को, अपनी चाह को, अपनी आवश्यकता को जितना हो सके सतेज करें। अपने मन-बुद्धि को उनमें डाल दें। उनसे अलग कोई वस्तु बीच में आने लगे तो उसे अस्वीकार कर दें। उसी का होकर जीयें। उनके प्रति अपने प्रेम को अपने आत्मीयता को बढ़ायें तथा बालक की तरह निश्चिन्त रहें।

भगवती माता -

भगवती माता- भगवान् की शक्ति ही भगवती माता हैं, एक ही साथ वे भाव, ज्ञान और सामर्थ्य तीनों से युक्त हैं। माता से अभिन्न होने का अर्थ है कि भाव, ज्ञान और शक्ति से परिपूर्ण होकर जीना। उसी से -

यदि किसी विषय में स्पष्टतः ज्ञान या संकेत नहीं मिल पा रहा कि अमुक विषय में मुझे क्या करना चाहिये, क्या निर्णय लेना चाहिये तो ऐसे प्रसंगों में नीरव होकर 'उसी' से पूछें अर्थात् भगवान् से या भगवती माता से ही पूछें, जो सभी की सब कुछ हैं, धैर्यपूर्वक पूछें, पूर्णश्रद्धा विश्वास के साथ पूछें तो अवश्य उत्तर मिलेगा। अनुभवी लोग कहते हैं अनन्त धैर्य के साथ इस साधन को अपनाया जाये, काल-बन्धन से मुक्त होकर अपनाया जाये तो पता चलेगा कि यह कितना अचूक साधन है।

त्रिविध उपासना-

कर्म, उपासना और ज्ञान वेदविद्या के बड़े ही प्रसिद्ध विषय हैं। कर्मशब्द का जब व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है तो वे सब क्रियाएँ कर्म के अन्तर्गत आती हैं जो मन, वचन, शरीर व इन्द्रियों के द्वारा की जाती हैं। वे उचित भी हो सकती हैं, अनुचित भी, उचित-अनुचित अर्थात् अपने को अथवा अन्यो को उन्नत या अवनत करने वाली, इसे ही धर्म-अधर्म भी कह देते हैं। कर्म का एक संकुचित अर्थ में भी प्रयोग होता रहा है- यज्ञीय कर्मकाण्ड। अर्थात् वर्णों व आश्रमों तथा राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य इत्यादि सम्बन्धों के निर्वाहार्थ एक तो कर्म होते हैं दूसरे एक अधिकारिविशेष के लिए विहित ज्योतिष्टोम आदि यज्ञीय कर्मों को कर्मशब्द से कहा गया है। उपासना में उपास्य के साथ तादरूप्य अपेक्षित होता है, उपासक उपास्य के साथ अपने मन की ध्यान की शक्ति के द्वारा एक होना चाहता है। ब्राह्मण- भाग-आरण्यक व उपनिषदों में भिन्न-भिन्न देवताओं और सगुण ब्रह्म की अनेकविध उपासनाओं का फलकथन (फलश्रुति) के साथ वर्णन देखने को मिलता है। तत्त्वज्ञान, ब्रह्मज्ञान व आत्मज्ञान के लिए ज्ञान शब्द का प्रयोग होता है। कर्म व उपासना क्रियाविशेष हैं, ज्ञान विशेष नहीं। कर्म व उपासना मन की एकाग्रता द्वारा सम्पादित करनी होती है। उसका प्रयोजन है, मन का शुद्ध होना और विविध शक्तियों का अर्जन करना। मन का देवता या ब्रह्म के रंग में रंग जाना।

यहाँ हम मुख्य रूप से तीन उपासनाओं की चर्चा करेंगे -

1. प्रतीकोपासना
2. सम्पद् उपासना
3. अहंग्रहोपासना

१. प्रतीकोपासना - जब उच्च को निम्न में लाकर उपासना की जाती है तो वह प्रतीकोपासना कही जाती है। प्रतीकप्रधानोपासना को प्रतीकोपासना कहा जाता है। अर्थात् अध्यस्त की अधिष्ठान में उपासना ही प्रतीकोपासना है। तीन प्रकार के अधिकारी देखने में आते हैं- उत्तम, मध्यम व मन्द। प्रतीकोपासना मन्द अधिकारियों के लिए उपयोगी है। जैसे आजकल की प्रथा के अनुसार कोई सर्वव्यापक विष्णु को एक मिट्टी के ढेले या एक प्रस्तरखण्ड में या किसी कल्पित मूर्ति में बिठाकर उसका ध्यान कर रहा हो। यहाँ उपासक का उपास्य सर्वव्यापी विष्णु नहीं है, बल्कि प्रस्तरखण्ड को विष्णु मानकर ध्यान किया जा रहा है। यह उपासना आलम्बनप्रधाना होती है न कि अध्यस्तप्रधाना। यह बात अलग है कि प्रतीकोपासना को भी कोई साधक कितनी ईमानदारी से कर रहा है, कितनी तन्मयता से कर पा रहा है किन्तु प्रतीकोपासना का शास्त्रीय स्वरूप यही है।

२. सम्पद् उपासना - जब उपासक उच्च को निम्न में लाकर उच्च पर ही ध्यान रखता है। अध्यस्त के लिए अधिष्ठान को आलम्बन तो बनाया किन्तु उपासना अधिष्ठान की न करके अध्यस्त की ही की जा रही है। प्रतीकोपासना में जहाँ अध्यस्त की अधिष्ठान में उपासना थी वहाँ सम्पद् उपासना में अधिष्ठान से अर्थात् अधिष्ठान के माध्यम से अध्यस्त की उपासना की जाती है। तात्पर्य है आलम्बन निम्न को अवश्य बनाया किन्तु ध्यान प्रतीक का न करके प्रत्यायनीय का ही किया जाता है। इस प्रकार यह उपासना अध्यस्तप्रधाना होती है। जब कि प्रतीकोपासना अधिष्ठान- प्रधाना। जैसे मन को अधिष्ठान बनाकर उसमें 'विश्वे देवाः' का अध्यास या अध्यारोप करके पुनः उस मन में 'विश्वे देवाः' की उपासना करते हैं।

३. अहंग्रहोपासना - मैं सर्वरूप हूँ, मैं सूर्य हूँ, मैं अमुक देवता हूँ यह है- अहंग्रहोपासना। प्रतीकोपासना या सम्पद् उपासना में उपासक अपने से भिन्न दो चीजों को देख रहा होता है, फिर एक का दूसरी में अध्यास करता है। अहंग्रहोपासना में स्वयं को ही किसी देवता के साथ एक करके देखता है। जैसे- अहं मनुरभवं सूर्यश्च। -(बृहदा०) सोऽहम्। वह परोक्षब्रह्म मैं ही हूँ।

वेदों में जो ऋचाओं के तीन विभाग करके दिखाए हैं- प्रत्यक्षकृता, परोक्षकृता और आध्यात्मिकी। उनमें जो आध्यात्मिकी ऋचाएँ हैं, वे अहंग्रहोपासना के ही परिणाम हैं। जहाँ ऋषि और देवता में भेद नहीं रहता। आध्यात्मिकी ऋचाओं की यह विशेषता है जो ऋषि होता है, वही उन मन्त्रों का देवता भी होता है और क्रियापद उत्तमपुरुष में होता है। जैसे- ऋग्वेद में इन्द्रो वैकुण्ठः सूक्त, वागाम्भृणी (ऋ०- १०.४८, ४९, ५०, १२५) इत्यादि

अभयदान- संन्यासी का आवश्यक कर्तव्य

अभयदान का रहस्य-

संन्यास दीक्षा के अवसर पर नव संन्यासी के मुख से एक बात बुलवायी जाती है कि 'मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु स्वाहा' मुझसे सब भूतों के लिए अभय हो। अब विचारणीय यह है कि कोई व्यक्ति सब भूतों को कैसे अभय कर सकता है? इसका उत्तर, जहाँ यह वाक्य लिखा मिलता है वहीं आस-पास एक दूसरा वाक्य भी लिखा है, उसमें मिल जाता है। वहाँ लिखा है- आज से मैंने तीनों लोकों का त्याग कर दिया है (ओम् भूः संन्यस्तम् मया, ओम् भुवः संन्यस्तम् मया, ओम् स्वः संन्यस्तम् मया) अर्थात् तीनों लोकों के जड़ चेतन सभी पदार्थों से अपने विशेष सम्बन्ध का मैंने परित्याग कर दिया है। कठिनाई विशेष में ही होती है, सामान्य सम्बन्धों में कोई कठिनाई नहीं होती। तथा वहीं यह एक दूसरा वाक्य भी पढ़ा है- 'पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता' मैंने आज तीनों एषणाओं के त्याग करने का निश्चय कर लिया है। मैं किसी भी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना से किसी प्रकार का सुख लेना नहीं चाहूँगा। आज से मेरी किसी के साथ कोई स्पर्धा नहीं रही। मैं किसी के जीवन में भी प्रतिरोध बनकर उपस्थित नहीं होऊँगा, सदैव 'अप्रतिरोध' धर्म का पालन करूँगा। मैं किसी के लिये दूसरा बनकर नहीं जीऊँगा। क्योंकि 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' (बृह० १.४.२)। पिता के लिये पुत्र या गुरु के लिये शिष्य दूसरा नहीं होता, अतः परस्पर कोई भय नहीं होता।

संसार में सब के सब लोग अपनी-अपनी विशिष्ट कामनाओं को पूरा करने में लगे हुये हैं। 'संसार' एक ऐसी दौड़ है, जिसमें दौड़ने के लिये सभी ने तो भाग लिया हुआ है, सब Participants हैं। सब चाहते हैं कि हम सबसे आगे आये। क्योंकि आगे आने वाले या Top-ten, Top-twenty, Top-fifty or Top- Hundred, में जिनका नाम आता है उनको दूसरों से अधिक सुख-सुविधायें, दूसरों से अधिक सम्मान, दूसरों से अधिक शक्ति (Power) मिलती है। यही तो मनुष्य चाहता है। इस प्रक्रिया में सब एक दूसरे से भयभीत रहते हैं कि इस या उस के कारण कहीं लिस्ट से नाम न कट जाये। जब व्यक्ति अपनी इच्छा से अपने आपको इस दौड़ से बाहर कर लेता है तो वह स्वयं दूसरों से निर्भय हो जाता है और दूसरे उससे। संसार को सामने रखकर यदि 'संन्यास' को समझा जाये तो संन्यास एक ऐसी स्थिति का नाम है- 'जहाँ न जीने की कोई इच्छा है और न ही मरने का भय', संसार में तो यह दोनों भाई-बहन की तरह

साथ-साथ रहते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि संन्यासी एक अकर्मण्य का जीवन जीता है, कर्म से विमुख हो जाता है। विमुखता कामना से होती है न कि कर्म से। कामना के रहते कामना की पूर्ति में 'सुख' होता है अपूर्ति में 'दुःख' और अपूर्ति की सम्भावना में 'भय'। इसीलिये मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि सुख और भय एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह हैं जिसको एक तरफ से देखें तो 'सुख' लिखा हुआ मिलता है और दूसरी तरफ से देखें तो 'भय'।

वेद में कहा है 'तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः' ऋग्० अर्थात् आत्मा की नित्यता को जो जान लेता है वह उस मृत्यु से निर्भय हो जाता है जिससे सब भयभीत रहते हैं। हमें अपने लिये या अपनों के लिये बहुत कुछ करना होता है और मृत्यु आकर बीच में ही हस्तक्षेप करता है तो स्वाभाविक है कि भय आये। किन्तु जब कोई इच्छा ही शेष नहीं बची तो मृत्यु का आगमन आज हो या हजार साल बाद, उससे क्या फर्क पड़ता है। इस विवेचन से भी यही पता चलता है कि मृत्यु जिसको सर्वहर (सब कुछ का हरण करने वाला) कहा गया है उससे भी व्यक्ति निर्भय उसी अवस्था में होता है, जब उसे कुछ चाह नहीं रहती, बाह्य इच्छायें शेष नहीं रहती और साथ में स्वयं के अस्तित्व को सदा नित्य देख रहा हो। अर्थात् चाहे कोई व्यक्ति हो, कोई परिस्थिति विशेष हो या मृत्यु हो, कामना है तो उसके बाधित होने की सम्भावना में भय तो होगा, उसको कोई नहीं रोक सकता। स्वयं निर्भय होना हो तो कामना छोड़ दें। दूसरों को अभय करना हो तो उन्हें अपनी ओर से आश्वस्त कर दिया जाये कि मैं तुम्हारी कामनाओं में बाधक नहीं बनूँगा, तुम्हारे रास्ते में रोड़ा बनकर उपस्थित नहीं होऊँगा, मैं तुम्हारे सुखों को थोड़ा-सा भी नहीं छीनूँगा।

किन्तु समाज में तो ऐसा देखने में आता है कि कितने ही ऐसे महापुरुष हुये हैं जिन्होंने सबको अभयदान दिया हुआ था किन्तु फिर भी लोगों ने उनको जहर दे दिया, मार डाला इत्यादि। यह भी तो यही प्रमाणित करता है कि उन अज्ञानियों ने ऐसा समझ लिया कि अमुक व्यक्ति हमारे जीवन में खतरा है। वे तो सारी मानव जाति को सामने रखकर काम कर रहे थे, मानवता के रहनुमा थे, किन्तु कुछ लोगों ने ऐसा विपरीत समझ लिया कि इस व्यक्ति के रहते हमारा तो अस्तित्व ही खतम हो जायेगा। अतः उन्होंने उन महापुरुषों के विरोध में ऐसा क्रूर कदम उठाया।

किसी-किसी महापुरुष की ऐसी भूमिका होती है कि वह मानव जाति में जो विकृतियाँ आ जाती हैं उन्हें ठीक करने के लिये या उनकी चीरफाड़ करने के लिये आगे आ जाते हैं। स्वार्थी लोगों की बुद्धि यह देख नहीं पाती।

अज्ञानवश ऐसा होता ही है। अतः अज्ञानी व स्वार्थी लोग उन-उन महापुरुषों के वैरी हो जाते हैं। ऐसी घटनाओं में भी महापुरुष तो निर्भय ही रहते हैं, वे कभी भी भयभीत नहीं होते। क्योंकि व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखें तो वे किसी के साथ गलत नहीं कर रहे होते, और न ही अपनी किसी व्यक्तिगत इच्छा को पूरा कर रहे होते हैं। अतः किसी सुख की 'कामना नहीं तो भय भी नहीं' यह सूत्र तो यहाँ भी अखण्डित रहता है।

समाज से या स्टेट से व्यक्ति को भय लगता है, यह तो समझ में आता है क्योंकि वहाँ व्यक्ति का अपमान होता है, सजा मिलती है, किन्तु शास्त्र से कुछ विरुद्ध आचरण करने में अथवा अपने ज्ञान के विपरीत आचरण में भी भय क्यों लगता है? इसलिये कि वह व्यक्ति ऐसा मानता है या जानता है कि तेरा अमूल्य मानव जीवन नष्ट हो रहा है, निश्चित ही अगले जन्म में तुझे इसका दण्ड मिलेगा, यह अद्भुत अवसर तेरे हाथ से सदा-सदा के लिये छिन जायेगा इत्यादि। अपने विश्वास या अपने ज्ञान के विरुद्ध आचरण करते हुये को 'भय' और करने पर 'पश्चात्ताप' यह मङ्गलमय विधान की ओर से मनुष्य के लिये प्रदत्त एक सुन्दर व्यवस्था है कि मनुष्य उस अवस्था को प्राप्त हो जाये जहाँ नित्य नवरस है, किसी प्रकार का अभाव नहीं है, कोई दुःख नहीं है, जहाँ किसी प्रकार की जड़ता नहीं है, जहाँ किञ्चित् भी शक्तिहीनता नहीं है, सदा आनन्द ही आनन्द है, चिन्मय जीवन है, पूर्ण स्वाधीनता है, समूचे अस्तित्व के प्रति सहृदयता व कृतज्ञता है, परमशान्ति है, चिरविश्राम है, अमृत से भरा हुआ स्वर्णकलश है इत्यादि।

यह कितनी सुखद स्थिति है कि व्यक्ति सदा निर्भय रहे और दूसरों को भी उससे भय न हो। भगवान् ने गीता में इस स्थिति का वर्णन इन शब्दों में किया है— 'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः' तथा 'निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव'। इसमें इतना ही समझना है— हमें अपनी ओर से निर्वैर स्थिति में रहना है, अपनी ओर से किसी को भय नहीं देना है, व्यक्तिगत कामनाओं से शून्य होकर जीना है, किसी के लिये आतङ्क नहीं बनना है। फिर भी कोई हम से भयभीत है, दुःखी है तो व्यक्ति का अपना अज्ञान और अपने स्वार्थ भी तो काम कर रहे हैं, किन्तु फिर भी एक साधक को तो उनके प्रति करुणा ही रखनी है।

• सार बात यह है कि ईश्वरीय विधान में पूर्ण विश्वास हो तो भय से मुक्ति पायी जा सकती है या फिर अपनी अनश्वरता (नित्यता) का ठीक अनुभव हो गया हो तो भी। सभी प्रकार की कामनाओं के त्याग से भी भय मुक्त हो जाते

हैं। 'है' के प्रति समर्पण या दूसरे शब्दों में 'जो है' उसकी सहज स्वीकार्यता भयमुक्त कर देती है। विधान (कर भला हो भला, कर बुरा हो बुरा) में विश्वास व्यक्ति को इसलिये निर्भय बना देता है कि मैं कुछ भी गलत करूँगा नहीं, मेरे साथ भी कुछ गलत होगा नहीं। दूसरे भी उस व्यक्ति से क्यों भयभीत होंगे जिस ने किसी के भी जीवन में व्यक्तिगत हस्तक्षेप या उनके साथ स्पर्धा या लौकिक इच्छाओं को सदा के लिये छोड़ दिया है। अर्थात् किसी के साथ भी किसी प्रकार का संघर्ष न करने का निश्चय कर लिया है। एक राजनेता को किसी उत्तम खिलाड़ी से कभी भय नहीं होता बेशक वह ओलम्पिक स्वर्णपदक विजेता ही हो। हाँ! यदि उसे यह मालूम पड़ जाये कि यह खिलाड़ी बहुत लोकप्रिय है और अब राजनीति में आ रहा है तो तत्काल भय आरम्भ हो जायेगा।

संन्यास का अर्थ—

संन्यास का अर्थ है— 'जागना'। अपनी अशुभ प्रवृत्तियों (मनसा-वाचा-कर्मणा), अपने अशुभ संस्कार, अशुभ अभ्यासों के प्रति सचेत हो जाना ही यहाँ जागने से तात्पर्य है। जीवन के इस सतत प्रवाह में कभी तो, कहीं तो पूर्ण विराम (Full stop) लगना चाहिये। अनजाने में जो कुछ होता है, उसकी ज्यादा चिन्ता नहीं करनी चाहिये। छोटे बच्चे, चींटियों ने उनका क्या बिगाड़ा, किन्तु आराम से खेल-खेल में उनको मारते रहते हैं। किन्तु समझ आने पर भी यह खेल चलता रहे तो कितना दुःखद है, कितनी शोचनीय घटना है, कितनी बेहोशी है। अतः साधक! सावधान, मनुष्य जीवन रूपी इस महान् अवसर को हाथ से निकलने नहीं देना है। स्वयं जागना और फिर सोये हुये अपने साथियों को जगाना, इसी में जीवन का सौभाग्य, जीवन की धन्यता छुपी है। प्रकृति माँ ने कृपा करके हमें यह अमूल्य उपहार दिया है।

अन्त भला सो भला—

अन्त भला सो भला यह उक्ति है तो, किन्तु विचारना यह है कि 'अन्त' का क्या पता कब आ जाये। वह तो पूर्णरूप से अनिश्चय के गर्भ में रहता है। हमें करना यह है कि जिस समय हमें होश आये, प्रारब्धवश स्वयं आ जाये, किसी तेज धक्के से या तेज झटके से आ जाये, किसी करुणामय गुरु के प्रेम पूर्ण दृष्टिपात से आ जाये, उस दयालु की किसी अहैतुकी अन्तःप्रेरणा से आ जाये। वह होश (आत्म-जागरण) फिर अज्ञान निद्रा में न बदले। यही सच्चा पुरुषार्थ है। यह जो सुनने में आता है कि व्यक्ति रोता हुआ संसार में आता है, किन्तु उसके द्वारा जीवन का सचमुच सम्मान किया गया, यह इस बात से प्रमाणित होगा कि

वह हँसता हुआ यहाँ से जाये। हजार भूलें करने पर भी यदि व्यक्ति की आँखें सदा के लिए बन्द होने से पहले-पहले प्रभु में अविचल स्थिति हो गई, आत्मस्थ या स्वरूपस्थ हो गया तो सचमुच उन भूलों का कोई अर्थ नहीं है। किन्तु कोरे प्रवचनों से, सुनी-सुनाई बातों की श्रोताओं के ऊपर उल्टी कर देने से, उनकी वाह-वाह लूटने से संसार से बिदाई हंसते हुये नहीं हो सकती। कोई भी शक्ति रोकने को रोक नहीं सकेगी यहाँ तक कि शुभकर्मों की बहुत बड़ी कमाई भी। उसका तो एकमात्र उपाय है 'आत्मबोध'। शरीर से पृथक् अपने चिन्मयस्वरूप की प्राप्ति।

तर्क व भाषाशास्त्रीय युक्ति से तो प्रायः जान ही लिया जाता है कि शरीर और आत्मा पृथक्-पृथक् हैं। युक्ति यह है कि जिसको हम 'यह' कह कर सम्बोधित करते हैं या जिस-जिस को भी 'मेरा' कहते हैं, वह मैं नहीं होता। किन्तु इतने मात्र से आत्मा का पूर्ण निश्चय हो जाए यह मुश्किल है। हाँ! व्यक्ति यदि सब तरफ से हटकर अपने में सन्तुष्ट हो जाए। अपने लिए संसार के किसी भी व्यक्ति, वस्तु, पदार्थ की आवश्यकता अनुभव न करे, अपने ही द्वारा अपने में तृप्त हो जाए, सब ओर से अपनी ममता को हटा ले और जो भी उसे माता-पिता-गुरुजन-समाज-मित्रगण या कुदरत से मिला है या उसने स्वयं अपने भगीरथ पुरुषार्थ से अर्जित किया है, उसमें अभिमान न करे, उसमें मैं या मेरे का भाव न रखे। अकाम, अचाह, अकिञ्चन, निरपेक्ष होकर जीने लगे तो शरीर से तादात्म्य टूट सकता है और इस प्रकार अपने शुद्ध अविनाशी चिन्मय स्वरूप पूर्ण आनन्दरूप को पा सकता है। यही है अमर जीवन की प्राप्ति।

इस जीवन में प्रवेश पाने के लिए व्यक्ति में यदि उदारता का गुण आ जाए तो सहजता से व शीघ्रता से आगे बढ़ सकता है। **श्री स्वामी रामदेव जी महाराज** जैसे उदार लोग निरन्तर अपने जीवन व अपने व्यवहार से उदारता का संदेश दे रहे हैं, आवश्यकता है, उस सन्देश को ग्रहणशील होकर ग्रहण करने की। यद्यपि उदारता का पर्यवसान सीधे-सीधे तो जगत् को सुन्दर बनाने में होता है, किन्तु यदि व्यक्ति विचारशील हो तो उसे इतना ही करना पड़ेगा कि उस भलाई का अभिमान न करे। सर्वतः सर्वथा अभिमान का त्याग करते ही व्यक्ति अपने अविनाशी स्वरूप को अपने में ही पा लेता है। पूर्ण स्वाधीन हो जाता है। अपने में ही पूर्ण स्वाराज्य को पा लेता है। सिर कटाते ही यह पद मिल जाता है। एक शब्द में जीते जी मरते ही काम बन जाता है।

संन्यासी के विशिष्ट कार्य

संन्यासी का 'जप'

मनुष्य के मन में चित्तवृत्तियों का सतत एक प्रवाह चल रहा है। आत्मा परमात्मा, सत्य या ब्रह्म तक पहुँचने के लिये यदि साधक अपने चित्त को किसी एक वृत्ति पर सहमत कर ले तो इस प्रक्रिया से उसके चित्त का शोधन प्रारम्भ हो जायेगा। ज्यों-ज्यों चित्त शुद्ध होता जायेगा, उसके अन्दर चलने वाली इच्छाओं का परिवर्तन होने लगेगा, अभिरुचियाँ व प्रवृत्तियों का परिवर्तन होगा, जीवन की पसन्द, माँग, आवश्यकता बदल जायेगी। जो चित्त पटल पर कामनाओं और तृष्णाओं का एक प्रभुत्व छाया रहता है, वह शिथिल पड़ने लगेगा।

तो फिर कौन-सी एक वृत्ति अपनाई जाए। ऐसा है अर्वाचीन साधकों के अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार बहुत सारे जपमन्त्र हैं, फिर भी प्राचीन प्रथा में तो केवल ओंकार (ॐ) या प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र को ही आधार बनाकर जप किया करते थे। माण्डूक्य उपनिषद् के दूसरे ही मन्त्र में कहा गया है- **सर्वं ह्येतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म**। अर्थात् यह सब ब्रह्म ही है। यह आत्मा भी ब्रह्म ही है। समस्त औपनिषद दर्शन (गीता, कठोपनिषद्, प्रश्नो०, छान्दो० इत्यादि) में ब्रह्म का वाचक शब्द (परिचय कराने वाला शब्द) रखा- 'ॐ'। जैसे- **ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्, ओङ्कार एवेदं सर्वम्, एतदालम्बनं श्रेष्ठम्, सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति०** इत्यादि। इस प्रकार ओंकार परमात्मा का प्रतिनिधि शब्द हुआ। परमात्मा माने ऐसा पूर्ण अखण्ड अविनाशी तत्त्व जो एक ही साथ ज्ञान व आनन्द रूप है। ज्ञान अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाता है न कि जो जाना जाता है। आनन्द का अर्थ है पूर्ण सुख। वैसे तो परमात्मा अनन्त गुण-कर्म-स्वाभाव युक्त है, अतः प्रत्येक शब्द ही उसके गुण-कर्म-स्वभाव का संकेतक होने से परमात्मा का वाचक है तो भी उसका पूर्ण परिचय देने के लिए ओंकार इसी एक शब्द को गौरव प्राप्त है। समस्त दृश्यवर्ग जिससे उत्पन्न होता है, जिससे पालित व पोषित होता है, अन्त में जिसमें लय हो जाता है, ऐसी जो सद्वस्तु है उसे ब्रह्म कहते हैं और वही 'ॐ' है, वही मैं हूँ या वही मुझ में है। परमात्मा का सगुण-निर्गुण, पर-अपर, सकल-निष्कल

जो भी रूप है, सब इसी शब्द में समाहित है। प्राणी जो चाहता है- अमृतत्व, स्वाधीनता, आनन्द इत्यादि के रूप में उसकी अन्तिम चाहत इसी एक शब्द से प्रकट कर दी गई है।

कोई भी साधक जब इस शब्द से ध्यान करता है तो चूँकि प्रत्येक नाम अपने नामी से अभिन्न रहता है। अतः ओंकार के द्वारा वह साधक वेद-शास्त्रों में गायी गई परमात्मा की सम्पूर्ण महिमा को स्मरण कर रहा होता है। जप का अर्थ है- पुनः-पुनः अपने उस वास्तविक चिन्मयस्वरूप व आनन्दस्वरूप को भावना में लाना। व्यवहार काल में व्यक्ति अपने उस असली स्वरूप को भूला हुआ रहता है तथा जैसे-जैसे उसे आलम्बनों के बीच से गुजरना होता है वैसा ही हर्ष-शोकयुक्त सुखी-दुःखी बन जाता है। हर स्थिति में वह अपने शुद्ध, पवित्र, निर्विकार, ज्ञान व आनन्दस्वरूप में बना रहे इसके लिए ऋषियों द्वारा सचेतन होकर भावना के साथ जप करने की व्यवस्था की गई है।

कहा भी है-

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।

यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ।।

ओंकार से अतिरिक्त भी जिनका कोई विशिष्ट जपमन्त्र होता है, उसका भी यदि शान्त होकर भावना के साथ साधक स्मरण करता है तो वह भी वैसे ही फलदायक हो जाता है। जप में विशेषरूप से यही एक बात महत्वपूर्ण है- 'पूर्ण शान्ति के साथ भावना'। 'तस्य वाचकः प्रणवः' इस योगसूत्र में 'प्रकर्षेण नूयते स्तूयते ईश्वरोऽनेन' परमात्मा की स्तुति करने वाले किसी भी शब्द को प्रणव नाम से कहा जा सकता है।

व्यासभाष्य में विष्णुपुराण का एक श्लोक उद्धृत किया है-

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।

स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

'स्वाध्याय' अर्थात् प्रणवजप, कोई भी इष्ट मन्त्र का जप करें और योग अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध की स्थिति में पहुँच जाएँ। चित्तवृत्तिनिरोध से पुनः स्वाध्याय (जप) पर आ जाएँ। ऐसा करने से परमात्मतत्त्व प्रकाशित हो जाता है। कहना अनावश्यक है जो किन्हीं लौकिक कामनाओं में जी रहा है, हिंसकस्वभाव है, असंयमी है, भयभीत है, दुराचारी है, किसी वस्तु-व्यक्ति-योग्यता-परिस्थिति का अभिमान कर रहा है या अशुभकर्मी

है, ऐसे व्यक्ति का मन जप करते समय शान्त ही नहीं रहेगा, अतः वह जप का फल नहीं प्राप्त कर सकता। कोई भी व्यक्ति तभी जप कर सकता है, जब उसका बाह्य जीवन व्यवस्थित होने लगता है। अथवा उसकी तीव्र इच्छा हो कि मैं अपने जीवन को बदलना चाहता हूँ, अपने मन को शुद्ध करना चाहता है, अपनी निर्बलताओं व कमजोरियों से पार जाना चाहता हूँ। मैं अपने आन्तरिक जीवन को सुन्दर बनाना चाहता हूँ तो अवश्य ही आज उसकी जो भी स्थिति है, किन्तु धीरे-धीरे जप में उसका मन लगने लगेगा और वह निश्चितरूपेण शुद्ध होता जायेगा। आन्तरिक जीवन को व्यवस्थित करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण जिस वस्तु की आवश्यकता है- वह है- ईमानदारी (Sincerity)। हम थोड़ा सा करते हैं और दिखाना चालू कर देते हैं। हम अच्छे बनें या न बनें पर दूसरों के समक्ष अवश्य यह सिद्ध करना चाहते हैं कि हम अच्छे हैं। बुरे थे तो पहले थे किन्तु अब अच्छे बन गए हैं। अच्छे बनना तो बहुत अच्छा है किन्तु अपनी अच्छाई का प्रदर्शन करके अपने को अच्छा सिद्ध करना बिल्कुल अच्छा नहीं है।

संन्यासी का भगवान् से 'सम्बन्ध'

भगवान् के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के मनुष्य के पास क्या साधन हो सकते हैं? उस अनन्त के साथ यह अज्ञानी, असमर्थ मनुष्य कैसे सम्बन्धित हो? शास्त्र या अनुभवी लोग साधन तो अनेक बताते हैं, पर किसे कौन-सा साधन पसन्द आये या अनुकूल पड़े, यह कुछ कहा नहीं जा सकता। भगवान् ने अध्याय 13 के 24वें तथा 25वें श्लोक में स्वयं ही कई विकल्प दे दिये। वे कहते हैं कुछ लोग स्वयं अपनी बुद्धिगुहा में ध्यान से निर्मल किए अन्तःकरण द्वारा अर्थात् संस्कृत मन के द्वारा अपनी आत्मा को देखते हैं। कोई सांख्य योग से देखते हैं और कोई कर्मयोग से। परन्तु जिन्हें उपर्युक्त विकल्पों में से किसी एक के द्वारा भी आत्म तत्त्व का ज्ञान नहीं होता, वे दूसरों से सुनकर श्रद्धा से परमेश्वर का भजन (स्मरण और ध्यान) करते हैं। ऐसे श्रुतिपरायण (श्रवण ही जिनका परम साधन है) भी मृत्यु को निःसन्देह तर जाते हैं।

किन्तु एक सर्वसाझा विकल्प भी है कि उसकी माँग बन जाए तो यह माँग जितनी तीव्र होती जायेगी, स्वयं ही नदी की तरह अपना रास्ता निकाल लेगी। कोई पूछे माँग कैसे जागे? संसार की अनित्यता और सांसारिक सुखभोग के परिणाम पर ठीक से विचार करने से माँग जग सकती है। क्योंकि हम सबको ही एक ऐसे साथी की आवश्यकता है जो सर्वसमर्थ हो, सबसे सुन्दर हो, कभी भी जिसका सौन्दर्य कम न हो अर्थात् अद्वितीय हो, जिसका प्रेम कभी भी कम न हो और जिसका

हम से कभी वियोग न हो, प्रतिपल हमारे साथ रहे जैसे नव विवाहित दम्पती एक क्षण के लिए भी एक दूसरे से पृथक् नहीं होना चाहते, जिसमें किसी प्रकार की अपूर्णता न हो, सदा हमें अपना संरक्षण दे सके। ऐसी इन सब विशेषताओं से युक्त ऐसा कोई साथी दुनिया में तो मिलेगा नहीं। ऐसा तो केवल एक ही है जिसके बारे में शास्त्र या गुरुजनों ने हमको बताया। वह सदा हमारे भीतर ही है। उसकी हमें आवश्यकता न होने के कारण वह हमें नहीं मिलता। उसकी आवश्यकता तब मानी जाती है कि उसके सिवाय अन्य समस्त पदार्थों, वस्तुओं, व्यक्तियों, परिस्थितियों या सभी क्रियाओं की अपनी सीमा हमें समझ में आ जाए। उनकी अपर्याप्तता का बोध हो जाए। हमारी बुद्धि में यह बात बैठ जाए कि संसार की कोई भी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, क्रियाएँ या पदार्थ मुझे जिस रस की माँग है, जिस परमतृप्ति की मैं खोज में हूँ, जिस अमृत का मैं प्यासा हूँ, वह मेरी प्यास इन सब अस्थायी चीजों से नहीं पूरी हो सकती। महान् गुरुओं ने हमें यह आश्वासन दिया है कि तुम अपनी माँग में सच्चे बनो और फिर देखो तुम्हारी माँग कैसे अपूर्ण रह सकती है। जितना व्यक्ति को 'अह' प्रिय है, संसार के सुखों से प्यार है, अनित्य धन और अनित्य सम्बन्धों में प्रेम है— कम से कम उतना ही सही, उतना तो प्रेम हो। 24 घण्टे नहीं, पक्ष नहीं, मास नहीं, अयन नहीं, वर्ष नहीं, वर्षों के बाद वर्ष सम्पूर्ण जीवन ही हम तो उन चीजों के लिए झौंक देते हैं जो एक झटके में हमसे अलग हो जाती हैं।

संन्यासी की दृष्टि

इस संसार में जो कुछ भी है वह सब संसार का ही है, Universal है, वह किसी का निजी या व्यक्तिगत (Personal) नहीं है। शरीर, मन-बुद्धि, शारीर ऊर्जा, वस्तु व्यक्ति पदार्थ अर्थात् निकट से लेकर दूर तक फैला हुआ जो विश्व है, जो भी कुछ साधन के रूप में दिखाई दे रहा है वह सब संसार का ही रूप है। तात्पर्य है वह सब जो एक-एक व्यक्ति को मिला हुआ दिखाई दे रहा है उस सब को संसार का ही मानकर संसार के काम में कोई लगा रहा है तो यह हो जाता है धर्मपथ या धर्मविज्ञान, दूसरे शब्दों में कर्तव्य पथ या कर्तव्य विज्ञान। इस मार्ग से चल कर भी व्यक्ति को योग की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि योग का जो बाधक है वह है 'राग' और योग का साधक है रागरहित होना। रागपूर्वक जब किसी वस्तु-व्यक्ति- परिस्थिति-सामर्थ्य-योग्यता-पद आदि का प्रयोग किया जाता है तो वह भोग बन जाता है। जहाँ भोग है वहाँ रोग तो रह सकता है पर योग नहीं।

यह कहना चाहिए वस्तु-व्यक्ति-योग्यता-पद-सामर्थ्य-परिस्थिति आदि का उपयोग सुख लेने के लिए किया जाता है तो परिणाम में दुःख, अभाव, शक्तिहीनता और जड़ता हाथ लगती है। पुनः पुनः उसी सुख को दोहराने की लालसा बढ़ती जाती है, शक्तियाँ घटती जाती हैं। इस पथ से चलता हुआ व्यक्ति कभी भी वितृष्ण नहीं होता क्योंकि 'न हि भोगाभ्यासेनेन्द्रियाणां वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्' यह नियम अपना काम करने लगता है।

किसी के पास वस्तु-व्यक्ति-योग्यता-पद-सामर्थ्य व परिस्थिति के रूप में उपलब्ध जो संसार है उसका उपयोग किसी भी प्रकार के अपने सुख के लिए न करके यदि सर्वभूतहित में किया जाता है तो व्यक्ति रागरहित होता हुआ अन्ततः योगयुक्त हो जाता है। योग का परिणाम है 'शान्ति'। शान्ति की भूमि में ही मुक्ति के बीज फलने-फूलने लगते हैं और वे ही भक्ति के वृक्ष बन कर प्रेम रूपी फलों से लद जाते हैं। इस प्रकार योग भोग से विमुख करता हुआ जीवन की चरम उपलब्धि में सहायक सिद्ध होता है।

एक दूसरी दृष्टि है—संसार के पदार्थ किसी के भी नहीं हैं। केवल आत्मा ही सत्य है शेष सब मायामात्र है। इस 'अध्यात्मदृष्टि' का आलम्बन लेकर भी व्यक्ति रागरहित होता हुआ बोध से परिपूर्ण हो सकता है। क्योंकि तत्त्व का बोध (सत् का बोध) व्यक्ति को असत् के त्याग कराने में हेतु बन जाता है। असत् तो स्वरूपतः सत्ताहीन है तो वह कैसे बन्धन का हेतु बन सकता है। केवल असत् को सत् रूप में मान लिए जाने के कारण वह बन्धक बन गया था। अब जबकि यथार्थ बोध से उस काल्पनिक मान्यता का त्याग हो गया तो व्यक्ति समस्त प्रपञ्च से मुक्त होकर स्वरूप में अवस्थित हो गया। इस दृष्टि में संसार लीलामात्र है, आत्मा उस लीला का तटस्थ साक्षी द्रष्टा है। जैसे दशरथ के आँगन में बालक राम अपनी लीलाएँ कर रहा है और माता कौशल्या उसकी विविध क्रियाओं को निहार रही है। बालक की क्रियाओं से माता का तादरूप्य (Identification) नहीं होता। बस वह तो देख रही है अर्थात् इस दृष्टि में व्यक्ति को असङ्गता की प्राप्ति हो जाती है। आत्मा स्वरूपतः असङ्ग है (असङ्गो ह्ययं पुरुषः, असङ्गो न हि सज्जते। बृहदा०) किन्तु अज्ञान के कारण प्रकृति की क्रियाओं, पदार्थों के साथ तादात्म्य हो गया था। अब ज्ञान से वह तादात्म्य टूट गया। आत्मा तो स्वरूपतः सच्चिदानन्दधन है, अतः दुःख का वहाँ कैसे स्पर्श हो सकता है।

एक अन्य दृष्टि भी है जिसे 'आस्तिकदृष्टि' यह नाम दिया जाता है। संसार के सभी पदार्थ भगवान् के हैं, वे ही समस्त जगत्, जागतिक पदार्थों

व जागतिक क्रियाओं के प्रभु हैं। साधक का इतना सा कर्तव्य शेष रह जाता है कि वह अपने प्रभु के नाते समस्त सम्बन्धों का निर्वाह करे। इस दृष्टि से भी व्यक्ति का वस्तु-व्यक्ति-पदार्थ- सामर्थ्य-योग्यता-पद-परिस्थिति के साथ जो एक सम्बन्ध होता है वह टूट जाता है। इन सबके कारण मिलने वाली उपलब्धियों को साधक अपनी और अपने लिए न कह कर प्रभु की और प्रभु के काम के लिए समझता है।

इस समस्त चर्चा में एक ही बात उभर कर आ रही है कि साधक किसी भी उपाय से अपने को रागरहित करे। जहाँ राग रहता है वहीं उसका जुड़वाँ भाई द्वेष भी रहता ही है। रागरहित होने से द्वेष रहित भी हो जाता है। पदार्थों के साथ जब व्यक्ति अपना सम्बन्ध केवल अपने सुख के लिए ही मानता है तब तो वह भोग कहलाता है। किन्तु साधक तो उन्हीं सब पदार्थों के साथ अपना सम्बन्ध सेवा के लिए स्वीकार करता है। वह यह देखता है कि वस्तुओं का तो सदुपयोग करना है और व्यक्तियों की मुझे सेवा करनी है अथवा 'सब पदार्थों के मालिक एक मात्र भगवान् हैं' ऐसा मानते हुए अपने प्रभु के नाते उन सब की सेवा करने के लिए उस-उस वस्तु व्यक्ति आदि के साथ मैं सम्बद्ध हुआ हूँ, ऐसा अपने को देखता है अथवा पदार्थमात्र व उनकी क्रियाओं के साथ अपना कोई भी सम्बन्ध न रखकर उनका तटस्थ साक्षी द्रष्टा बनकर सर्वथा उदासीन निर्लिप्त भाव से रहता है। तीनों ही दृष्टियों से साधक रागरहित होकर योग, ज्ञान (बोध) व प्रेम से युक्त हो सकता है।

कैसा मङ्गलमय विधान है कि शरीरादि सभी पदार्थों या प्राप्त साधन सामग्री को संसार की मान कर चलें तो उद्धार हो जाए, किसी की भी न मानें तो उद्धार हो जाए और भगवान् की मान लें तो उद्धार हो जाए। यह हमारी राजी के ऊपर है कि हम किस दृष्टि को महत्त्व दे रहे हैं।

यहाँ इस अद्भुत संसार में सबल और निर्बल, विद्वान् और मूर्ख, सधन और निर्धन सबके उद्धार की व्यवस्था है। यदि कोई अपने को सबल समझता है तो उसे निर्बलों का सहयोग करना चाहिए, यदि विद्वान् समझता है तो जो अविद्वान् हैं उनको विद्या देनी चाहिए और जो धनवान् हैं उन्हें निर्धनों की सेवा करनी चाहिए। किन्तु यदि विपरीत स्थिति है निर्बल, अविद्वान् या निर्धन हैं तो उन्हें त्यागी होकर भगवान् के शरणागत हो जाना चाहिए। क्योंकि सेवा तो समर्थ ही कर सकता है, किन्तु जो असमर्थ या असहाय हैं यदि वे सुखी होना चाहें तो त्याग को तो अपना ही सकते हैं। इस समूचे संसार में 'मैं कुछ नहीं, मेरा कुछ नहीं' अर्थात् ऐसे साधक 'मैं- मेरे' का त्याग कर भगवान् के शरणागत हो जाएं अथवा वे असमर्थ साधक भी मन से ही सबके प्रति सद्भाव

बनाएं। इस प्रकार मङ्गलमय विधान ने यहाँ भी समर्थ-असमर्थ सबके लिए रास्ता खोला हुआ है, केवल अपनी स्थिति के अनुसार पथ पर चलने की आवश्यकता है।

यह भी एक स्वस्थ दृष्टि की बात है कि सभी व्यक्तियों के पास कुछ ऐसा होता है, या हो सकता है जो उन्हीं के पास है, उन्हें उसे पहचानना चाहिए। उसे पहचानकर उसका अहंकार नहीं करना चाहिए। उसको देव की कृपा समझनी चाहिए। किसी गुण को लेकर किसी के साथ स्पर्धा भी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि स्पर्धा में व्यक्ति को अपने ऊपर अनावश्यक बल डालना पड़ता है जिससे उसके व्यक्तित्व के दूसरे हिस्से पर बहुत ही गलत प्रभाव पड़ता है। इसलिए महापुरुषों ने कहा है स्पर्धा में जीवन के सौन्दर्य से वञ्चित होकर कुछ बाह्य चीजें पाई जाती हैं। इस प्रकार स्वस्थ दृष्टि प्राप्त करने के लिए विशेष रूप से संन्यासी को अपना पूरा मन लगा देना चाहिए।

संन्यासी के प्रति क्रोध करने वाले को प्रत्युत्तर

संन्यासी पर कोई क्रोध करे तो उसका प्रत्युत्तर कैसे देना चाहिए-

मनु जी कहते हैं-

क्रुध्यन्तं न प्रति क्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्। अर्थात् संन्यासी सदा अपने मन-मस्तिष्क (दिल-दिमाग) को शान्त रखे। क्रोध का उत्तर क्रोध में न दे, बल्कि प्रेम के साथ ही बोले। संसार में ऐसा उदाहरण मिलना बड़ा कठिन है, किन्तु संन्यासी ने तो कठिन काम को भगवान् के सहारे पूरा करने के लिए ही इस मार्ग पर कदम बढ़ाया है। यद्यपि संसारी व्यक्ति भी ऐसी ही भाषा बोलता है- मुझे वह करके दिखाना है, जिसे संसार में कोई नहीं कर सकता, किन्तु संन्यासी की भाषा व भाव ऐसे नहीं होते। वह स्वयं भी विचार करता है और उसके गुरुओं ने भी उसे यही पाठ पढ़ाया है कि अध्यात्म का यह महासंग्राम कभी भी व्यक्ति अपने बल पर नहीं जीत सकता। केवल और केवल भगवान् की कृपा से ही यह युद्ध जीता जाता है। कोई भी संन्यासी जब इतना विनम्र हो जाता है, इतना सहज हो जाता है, अपने अन्दर इतना विश्वासी हो जाता है तो भगवान् उसके मन-बुद्धि-प्राण व शरीर में प्रकट हो जाते हैं और वे स्वयं अपने वज्र से संन्यासी को सताने वाले काम-क्रोध-लोभ रूपी नमुचि का सिर काटकर संन्यासी का मार्ग निरापद कर देते हैं। पौराणिक साहित्य में 'नमुचि' नामक एक ऐसे राक्षस की कल्पना है, जो किसी को भी नहीं छोड़ता, चाहे कोई कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो (न मुञ्चति कमपि)।

संन्यास संस्कार के प्रेरक मन्त्र

संन्यास दीक्षा में दीक्षित होते समय जिन मन्त्रों का विनियोग किया है, जो विधि मिलती है, उसका जब हम ध्यान से अवलोकन करते हैं तो दीक्षित संन्यासी को क्या करना है क्या नहीं करना, क्या पकड़ना है क्या छोड़ना, कैसी मनः स्थिति बनाकर रखनी है, कौन से वे बिन्दु हैं जिन पर बहुत अधिक महत्त्व देना है, ये सब विषय स्पष्ट हो जाते हैं। आओ! हम सब मिलकर इस विषय पर चर्चा करते हैं—

सामान्य प्रकरणस्थ सम्पूर्ण यज्ञ की क्रियायें सम्पन्न करके भुवनपति, भूतपति, प्रजापति के नाम से प्रत्येक मन्त्र से ११-११ आहुति प्रदान की जाती हैं, जिसका भाव है कि इस आश्रम में प्रविष्ट होता हुआ पूर्ण रूप से अपने आपको समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी, समस्त पृथिव्यादि पाँच भूतों के स्वामी और समस्त प्रजाओं के रक्षक व पालक उस परम प्रभु को अपने आपको समर्पित कर रहा हूँ। 'स्वाहा' शब्द का अर्थ है— पूर्ण सच्चाई के साथ मैं यह बात बोल रहा हूँ, मेरा मन-वचन व कर्म तीनों में एकरूपता हैं। एक ही मन्त्र से अनेक आहुति दिलाने के पीछे जो भाव है वह यही है अधिक से अधिक जितना हो सके अपने भीतर उस विशिष्ट भाव को बिठाया जाये। संख्या का निर्धारण एक सामान्य व्यवस्था बनाने के लिये कर दिया गया है।

तत्पश्चात् अथर्ववेद के १९वें काण्ड के ४२वें सूक्त ४ व ४३में सूक्त में ८ मन्त्रों से कुल १२ आहुतियाँ दिलवाई गई हैं। इन मन्त्रों में कहा गया है—

प्रथम मन्त्र — ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञो ब्रह्मणो स्वरवो मिताः ।

अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः ।।

ब्रह्मध्यानरूपी ब्रह्मयज्ञ में (ब्रह्म) ब्रह्म ही (होता) होता नामक ऋत्विग् होता है, (ब्रह्म) ब्रह्मध्यान ही (यज्ञाः) समग्र यज्ञरूप हैं (ब्रह्मणा) ब्रह्म के साथ (स्वरवः) स्वरु अर्थात् यज्ञस्तूप आदि उपमित हुए हैं। (अध्वर्युः) अध्वर्यु (ब्रह्मणः) ब्रह्म की पूजा के लिये ही (जातः) वरण किया जाता है क्योंकि (ब्रह्मणः अन्तः) ब्रह्म के भीतर ही (हविः) हवि (हितम्) निहित की जाती है, उसे समर्पित की जाती है।

अभिप्राय यह है कि ब्रह्मयज्ञ में होता, अध्वर्यु, द्रव्यसाध्य यज्ञों तथा यज्ञोपकरणों की आवश्यकता नहीं होती। इसमें केवल एकमात्र ध्येय ब्रह्म की ही आवश्यकता होती है। द्रव्यसाध्य यज्ञ तथा अध्वर्यु आदि भी ब्रह्म पूजा के लिये और उसके नाम पर हविः प्रदान के लिये ही होते हैं। यथा—

‘स वै यज्ञादजायत तस्माद् यज्ञोऽजायत’ ।

‘स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम्’ ।।

(अथर्व० १३.७.३९, ४०)

अर्थात् परमेश्वर यज्ञ से प्रकट होता है; क्योंकि ब्रह्म से यज्ञ विधि प्रकट हुई है, परमेश्वर यज्ञरूप है उसके लिये यज्ञ किया जाता है, वह यज्ञ का शिर है।

द्वितीय मन्त्र — ब्रह्म सुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता ।

ब्रह्म यज्ञश्च सत्रं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः ।

शमिताय स्वाहा ।।

मन्त्र में कहा गया है कि ब्रह्म यज्ञ में (ब्रह्म) ब्रह्म ही (घृतवतीः) घृताहुति देने के निमित्त सुव आदि यज्ञपात्र हैं, (ब्रह्मणा) ब्रह्मप्राप्ति हेतु (वेदिः) यज्ञवेदि (उद्धिता) उच्च स्थल में निहित होती है। (च) और (ब्रह्म) ब्रह्म ही (यज्ञः सत्रं च) छोटे बड़े यज्ञ हैं और (ये) जो (हविष्कृतः) हवि का निष्पादन करने वाले (ऋत्विजः) ऋत्विक् है, वे भी ब्रह्म प्राप्ति के हेतु रूप हैं (शमिताय) शान्तस्वरूप ब्रह्म के लिये (स्वाहा) आत्म समर्पण हो। मूल संहिता में 'ब्रह्म यज्ञश्च सत्रं च' के स्थान में 'ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च' ऐसा पाठ मिलता है। जिसका अर्थ होगा— ब्रह्म यज्ञ का तत्त्व=सार है।

इन उपर्युक्त दोनों मन्त्रों का भावानुवाद ही एक अर्थ में गीता ४.२४ श्लोक में उपवर्णित हुआ है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।

तथा—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।

मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ।। (गीता- ९.१६)

अर्थात् संन्यास ग्रहण करने से पहले व्यक्ति चारों तरफ संसार ही संसार को देखता था, उसे ब्रह्म कहीं नहीं दिखता था। अब ज्यों-ज्यों वह संन्यास में

कदम रख रहा है त्यों-त्यों उसे संसार के भीतर, उसका प्रेरक सब जगह ब्रह्म ही ब्रह्म दीखने लगा है।

तृतीय मन्त्र—

अहोमुचे प्र भरे मनीषामा सुत्राम्णे सुमतिमावृणानः ।

इदमिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः ॥

(सुमतिम्) श्रेष्ठमति (आवृणानः) चाहता हुआ मैं (मनीषाम्) अपनी मानसिक इच्छाओं और प्रज्ञा को (अहोमुचे) पापों से छुड़ाने वाले (इन्द्र) हे परमैश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर! (इदं हव्यम्) मेरी इस मनीषारूपी हवि को (प्रतिगृभाय) स्वीकार कीजिये। आपकी कृपा से (यजमानस्य) समर्पण यज्ञ के कर्ता की (कामाः) कामनायें (सत्याः) सत्यमयी (सन्तु) हों, पूर्ण हो।

चतुर्थ मन्त्र—

अहोमुचे वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम् ।

अपां नपातमश्विना हुवे धियेन्द्रेण म इन्द्रियं दत्तमोजः ॥

(अश्विनौ) इन्द्रियाश्वों के स्वामी मेरे प्राण-अपान, मन-बुद्धि (अहोमुचम्) पापों से छुड़ाने वाले (यज्ञियानाम्) पूज्यों में (वृषभम्) सर्वश्रेष्ठ पूजनीय (विराजन्तम्) विशेष दीप्ति सम्पन्न (अध्वराणाम्) हिंसारहित यज्ञों के (प्रथमम्) सर्वश्रेष्ठ मुख्यदेव (अपां नपातम्) इन्द्रियों मन व बुद्धि इत्यादि कर्म साधनों को कुमार्य में पतन न होने देने वाले परमेश्वर का (हुवे) मैं सदा आह्वान करता हूँ। (मे) मुझे (धिया) सत्कर्म तथा सदबुद्धि पूर्वक (इन्द्रेण) इन्द्र के द्वारा (इन्द्रियम्) आध्यात्मिक धन और (ओजः) ओज (दत्तम्) प्रदान किया गया है।

यहाँ चतुर्थ मन्त्र की दूसरी पङ्क्ति 'धियेन्द्रेण म०' के स्थान में मूल संहिता में 'धिय इन्द्रियेण त०' ऐसा पाठ मिलता है।

निघण्टु २.१० में इन्द्रिय शब्द धन नामों में पढ़ा है। इन्द्र अर्थात् आत्मा की शक्ति है 'इन्द्रिय'। इन मन्त्रों में परमात्मा को 'अहोमुच्' पाप से छुड़ाने वाला 'सुत्रामन्' अच्छी प्रकार रक्षा करने वाला 'शमित' शान्तस्वरूप, यज्ञिय पदार्थों में जो 'वृषभ' शुद्ध ज्ञान और शुद्ध भाव की वर्षा करने वाला, अध्वरों में अर्थात् हिंसारहित यज्ञों में सबसे प्रथम विराजमान, 'अपांनपातम्' इन्द्रियों व मन-बुद्धि जो कर्म साधन हैं उनको जो मार्ग से भटकने नहीं देता, इन सब विशेषताओं से युक्त बताया है। (निघण्टु में अपशब्द कर्म नामों में पढ़ा है)

यह भी कहा कि 'अश्विनौ' प्राण-अपान, माता-पिता, अध्यापक-उपदेशक, दिन-रात, सूर्य-चन्द्रमा, द्यावा-पृथिवी, श्रद्धा-मेधा (भावशक्ति-ज्ञानशक्ति) रूप ओज व तेज का मुझमें आधान करें।

यहाँ यह देखने की बात है कि वह परमेश्वर सर्वसमर्थ होते हुये भी यदि किसी व्यक्ति में माँग नहीं है तो कुछ भी नहीं कर सकता, अपनी तरफ से उसे कुछ भी नहीं दे सकता। अतः यह दिखाया गया कि साधक सुमति व मनीषा (मन का नियन्त्रण करने वाली बुद्धि) की आवश्यकता अनुभव कर रहा है। उस परम देव को अपनी पुरुषार्थरूपी हवि अर्पित करने के लिये उत्सुक है (इन्द्र इदं हव्यं प्रतिगृभाय) यजमान अपनी हार्दिक अभीप्सा (यजमानस्य कामाः) के साथ उपस्थित हो रहा है, उस अभीप्सा को चरितार्थ होता हुआ देखना चाहता है (सत्याः सन्तु)।

यह सर्वथा सत्य है— बिना पुरुषार्थ के न भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त होता है और न आध्यात्मिक। किन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि भौतिक ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये किये गये पुरुषार्थ का स्वरूप अलग होता है और आध्यात्मिक ऐश्वर्य (शुद्धि, मुक्ति, आनन्द, आन्तरिक पूर्णता) की प्राप्ति हेतु किये गये पुरुषार्थ का स्वरूप एकदम अलग। यह बिलकुल स्पष्ट (obvious) है कि किसी को राजा बनना है तो उसके अनुरूप अपेक्षित क्रिया कलाप करने पड़ते हैं। किसी को स्पोर्ट्समेन बनना है तो कुछ और ही करना होगा। किसी को वैज्ञानिक, दार्शनिक, भाषाविद् (भाषाशास्त्री) लेखक, कवि, चित्रकार, गायक, अभिनेता, उद्योगपति, याज्ञिक (स्वर्ग प्राप्ति के लिये विविध यज्ञों की जटिलतापूर्ण प्रक्रियाओं का सतत अनुष्ठान करने वाला) समाज का लोकप्रिय नेता, समाज सुधारक, किसी विशेषक्षेत्र में अपने संकल्पित मूल्यों का स्थापक, संस्थाओं का निर्माता, ऐसा कुछ करना जिसको आज तक किसी ने नहीं किया— इस सूची को कितना भी बढ़ाकर देखा जा सकता है। इन पृथक्-पृथक् सभी क्षेत्रों में आगे बढ़ने के लिये किये गये पुरुषार्थ का स्वरूप एक दूसरे से अलग-अलग ही होता है। एक दिशा में किये गये पुरुषार्थ से दूसरी चीजें नहीं मिलती, बस इस दिशा को आध्यात्मिक क्षेत्र में भी शिफ्ट (Shift) करके देखा जा सकता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति करने का अर्थ है— अपने समस्त काम-क्रोध-

लोभ-माया-मोह-ईर्ष्या-द्वेषादि विकारों को शान्त कर देना, मन का रजोगुण (चञ्चलता) और तमोगुण (जड़ता) से मुक्त हो जाना अर्थात् कल्याणांश (सत्त्वांश) की वृद्धि और रोषांश (रजः) व मोहांश (तमः) की सर्वथा निवृत्ति, अपने भीतर धर्म की स्थापना अधर्म का नाश, मन-बुद्धि-अहंकार-इन्द्रियाँ और शरीर रूप निम्न प्रकृति (lower Nature) से अपनी चिन्मय स्वरूप उच्च प्रकृति (Higher Nature) में आरोहण, अज्ञान अवस्था में आचरित भूतकालिक अशुभ कर्म व उनकी वासनाओं से मुक्ति, सबके प्रति प्रेम का समभाव से वितरण, बाह्य विपरीत आलम्बनों में भी धीर-स्थिर-गम्भीर बने रहना, सदा-सर्वदा अपनी आत्मा (Innermost being) में वास करना, पूर्णस्वाधीनता, सहजता, अप्रयत्न स्थिति की तरफ बढ़ते रहना, दिन प्रति दिन चित्त का निरंतर शुद्ध होते जाना, अपने अपमानकर्ता के प्रति, अपनी किसी प्रकार की हानि करने वाले के प्रति भी दुर्भाव न आना बल्कि उनके लिये भी शुभ ही सोचना, किसी भी अंश में प्रतिशोध का भाव शेष न रहना, अहंता व ममता का दिनानुदिन क्षय होते जाना, शरीर-मन व वाणी का पूर्ण संयत हो जाना, उतावलापन, बेहोशी, जड़ता का न रहना, वर्तमान में इतना केन्द्रित हो जाना कि अपनी या दूसरों की भूतकाल की छवियों के अनुसार निहारने की सामान्य प्रवृत्ति का बन्द हो जाना, मैत्री-करुणा व मुदिता की दिव्यभावना में जीना, अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश रूप क्लेशों का तनु होते जाना, हेय-हेयहेतु-हान-हानोपाय के स्वरूप को ठीक-ठीक समझते रहना, अपने को सामने रखकर प्रवृत्ति-निवृत्ति, बन्ध-मोक्ष, कार्य-अकार्य, हेय-उपादेय के स्वरूप को जाँचते परखते रहना, कर्म व कर्म का उद्देश्य, कर्म के साथ सम्बद्ध जो भाव हैं उन को ठीक से समझते हुये नैष्कर्म्य स्थिति की ओर आगे बढ़ते रहना, इस शृंखला को विस्तार के साथ और भी बढ़ाकर देखा जा सकता है।

इस अध्ययन में कुल मिलाकर दो बातें उभरकर आ रही हैं— संसार का सहज प्रवाह है 'अहंकार परिचालित जीवन', जो कि अपने और अपनों के लिये अधिक से अधिक सुख चाहता है, इस काम के लिये अपना सब कुछ दाँव पर लगाने के लिये तैय्यार रहता है। इस सीमा में या इस चौखटे में जो नहीं बैठते उनको नष्ट कर देता है या उनसे उदासीन रहता है। अधिकाधिक इन्द्रिय सुख, साधनों का सुख व सत्ता (Power) सुख लेना चाहता है। दूसरों

का वहीं तक सहयोग करता है जिससे उसका अपना व्यक्तित्व सुरक्षित रहता है या उसकी वृद्धि होती है, उसका अपना सम्मान बढ़ता है। बेतहाशा श्रम, घोर संघर्ष, सतत खिंचाव-तनाव में रहकर भी जो अपने इस लक्ष्य को पूरा करने में जुटा रहता है और डटा रहता है। दूसरा है 'भागवत जीवन' जो अहं का विलोप करके भगवान् (परमात्मा) को अपने में, अपने साथियों में अर्थात् जगत् में प्रतिष्ठापित करना चाहता है इसी को हमने ऊपर चर्चा प्रसंग में आध्यात्मिक जीवन यह नाम दिया है। संन्यास जीवन में दीक्षित होने वाला व्यक्ति इसी जीवन को पसन्द कर रहा होता है।

सो हम वहीं आते हैं जहाँ से हमने अपनी बात प्रारम्भ की। इस आध्यात्मिक कठिन चढ़ाई पर आरोहण करने के लिये महान् पुरुषार्थ करना पड़ता है। पर उस पुरुषार्थ का स्वरूप लौकिक उपलब्धियों हेतु किये गये पुरुषार्थ से सर्वथा भिन्न ही प्रकार का होता है, जैसे कि लौकिक उपलब्धियों में बहिर्मुखता है तो यहाँ का पुरुषार्थ है अन्तर्मुखता के लिए। वहाँ घोर संघर्ष है, अन्तहीन श्रम है, खिंचाव-तनाव है, मरना-मारना है, रोना-धोना है, माने कभी हँसना है कभी रोना, कभी खुशी कभी गमी फिर भी डटे रहना है तो यहाँ परम शान्ति, पूर्ण मौन व चिरविश्राम के लिए पुरुषार्थ करना होता है। वहाँ अहं को अपनी बुलन्दियों पर रखना होता है तो यहाँ अहं का विलोप करने के लिए पुरुषार्थ है। वहाँ मैं-मेरे या अपने-पराये की सीमा है तो यहाँ सीमाहीन अनन्त सागर के समान विस्तार प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ है, वहाँ अधिकार-प्राप्ति की तीव्र लालसा है तो यहाँ अपना कर्तव्य पूरा करने की मन्द मुस्कान के लिए पुरुषार्थ है। वहाँ तीव्र स्पर्धा है, एक दूसरे से आगे निकलने की होड़ है तो यहाँ पूर्ण सहयोग हेतु पुरुषार्थ किया जाता है। वहाँ विषमता है तो यहाँ समता (सन्तुलन) हेतु पुरुषार्थ है। वहाँ प्रदर्शन ही प्रदर्शन है तो यहाँ केवल दर्शन (यथार्थ, दृष्टि, तत्त्वदृष्टि) के लिए पुरुषार्थ है। वहाँ प्रसिद्धि की तीव्र चाह है तो यहाँ सिद्धि की सतत अभीप्सा का बने रहना रूप पुरुषार्थ है। वहाँ कामनाओं का अपार अम्बार है तो यहाँ अकामता-निष्कामता हेतु पुरुषार्थ है। वहाँ अतृप्ति है तो यहाँ पूर्ण तृप्ति हेतु पुरुषार्थ है। वहाँ सापेक्षता ही जीवन है तो यहाँ निरपेक्षता हेतु पुरुषार्थ है। वहाँ महत्वाकांक्षा है तो यहाँ निर्विशेष होने की आकांक्षा रूप आन्तरिक पुरुषार्थ है। वहाँ झूठ और सच साथ-साथ रहते हैं तो यहाँ केवल सच

हेतु पुरुषार्थ है। वहाँ किसी के प्रति निर्दयता किसी के प्रति दया तो यहाँ सबके प्रति दया-करुणा का बहते रहना रूप पुरुषार्थ है। वहाँ दुःख-शोक-कष्टों के बीच कभी-कभी मधुर कणों का दर्शन है तो यहाँ सतत अमृतपान हेतु पुरुषार्थ है। वहाँ तेरे-मेरे का भेद है तो यहाँ सर्वात्मभाव हेतु पुरुषार्थ किया जाता है। वहाँ बाहर से टिप-टाप (Tip-top) तो यहाँ बाहर भीतर एक जैसा रहने के लिए पुरुषार्थ है। वहाँ का संसार है वृत्तिरूप तो यहाँ अधिकाधिक निर्वृत्तिक स्थिति में रहने के लिए पुरुषार्थ है। वहाँ पदार्थ पर कार्य चलता है तो यहाँ का कार्य क्षेत्र है 'मैं' माने वहाँ पदार्थ का परिवर्तन, परिवर्धन व उसके सौन्दर्य को निखारने पर पूरा बल है तो यहाँ 'स्वयं' के रूपान्तरण के लिए पुरुषार्थ है। वहाँ दूसरे को पकड़ना है तो यहाँ साधक के द्वारा अपने को ही पकड़ने के लिए पुरुषार्थ किया जाता है। वहाँ उन्नति के लिये आसुर बल अपेक्षित है तो यहाँ दैव बल के सम्पादन हेतु पुरुषार्थ है। वहाँ प्रसन्नता अप्रसन्नता में रहते हुये आगे बढ़ना होता है तो यहाँ सदा प्रसन्नता हेतु पुरुषार्थ करना होता है। वहाँ भेद प्रमुख है तो यहाँ अभेद स्थिति के लिए पुरुषार्थ है। वहाँ बाह्य प्रकाश (रोशनी) पर बल है तो यहाँ अन्तः प्रकाश पर; वहाँ के पुरुषार्थ का उद्देश्य भोग है तो यहाँ 'योग' को केन्द्र में रखकर पुरुषार्थ करना होता है। वहाँ प्रकृति की छानबीन है तो यहाँ आत्मा को जानने के लिए पुरुषार्थ है। वहाँ की उन्नति का पैमाना कौन कितना बाहर फैल सकता है तो यहाँ के पुरुषार्थ का क्षेत्र है कौन कितना सिमट सकता है। वहाँ वेग पर बल है तो यहाँ स्थिति को बनाए रखते हुए पुरुषार्थ करना होता है। वहाँ का चरम लक्ष्य है 'सुख'-इन्द्रियसुख, शरीरसुख, सत्ता का सुख, साधनों का सुख, अहंतृप्ति का सुख तो यहाँ का पुरुषार्थ है ज्ञान-भक्ति और प्रेम की त्रिवेणी में स्नान का सरस आनन्द। वहाँ कर्म हैं अहंकार के संकुचित या संवर्धित रूपों को पोषित करने के लिये किन्तु यहाँ के कर्म हैं पूर्णतः भगवान् के लिये; वहाँ सदा भय के साम्राज्य में ही प्रगति करनी होती है तो यहाँ का पुरुषार्थ है निर्भयता हेतु, वहाँ आवश्यकता पड़ने पर क्रूरता भी है तो यहाँ सदा सौम्यता हेतु पुरुषार्थ है। वहाँ बहुत बेचैनी रहती है यहाँ तो सदा चैन में रहने के लिए ही पुरुषार्थ है। वहाँ ढेर सारी शिकायतें रहती हैं, यहाँ तो उनके लिये कोई हेतु ही नहीं क्योंकि नित्य पूर्णता का अहसास बना रहे, इसके लिए ही समस्त पुरुषार्थ है।

यहाँ एक बात स्पष्ट करना चाहूँगा कि यह जो लौकिक उपलब्धियों तथा आध्यात्मिक आरोहण को सामने रखकर एक चित्र प्रस्तुत किया, वह साधक के भाव व लक्ष्य और उसकी साधना के आधार पर किया गया है। भाव व लक्ष्य तथा साधक की आन्तरिक दृष्टि व उसकी स्थिति बदलने पर तो लौकिक उपलब्धियाँ भी आध्यात्मिक क्षेत्र में ही आ जाती हैं, क्योंकि लक्ष्य के रूप में पुरुषार्थ का क्षेत्र बदल गया है, संसार को बेशक वे लौकिक उपलब्धियाँ ही दिखाई दें। जैसे कि उदाहरण के रूप में श्री अरविन्द आश्रम में श्रीमाँ के समय से ही सैकड़ों फैक्टरियाँ चल रही हैं, साधक-साधिकाएँ उनमें अपनी सेवाएँ भी दे रहे हैं, किन्तु उस सब के बीच में 'श्री माँ' ऐसे ही रहती थी जैसे कि ज्ञान, योग या आध्यात्मिक पर्वत के शिखर पर विराजमान हों। यह व्यक्ति की ईमानदारी के ऊपर है कि वह अपने भाव व लक्ष्य के प्रति कितना ईमानदार (Sincere) है तथा साथ में साधना सम्बन्धी उसकी दृष्टि व स्थिति कैसी है। इसमें भी यदि कोई चालाकी या दिखावा करता है तो चालाकी या दिखावे का तो कोई अन्त नहीं, यह तो स्वयं को भी व अन्यो को भी धोखा देने जैसी बात हो जाती है वह तो कहीं भी कभी भी दिया ही जा सकता है।

इस अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भागवत जीवन को पाने के लिये किस प्रकार के भगीरथ पुरुषार्थ की आवश्यकता है। ऊपर जो हमने दो विरुद्ध रूपों को दर्शाया। उन दोनों ही रूपों को साधने के लिये अलग-अलग प्रकार के पुरुषार्थ का प्रयोग करना होता है। जैसे कि मन को समस्त उपद्रवों से शान्त करके रखना है तो शान्त रहने के लिये भी तो एक विशेष प्रकार का पुरुषार्थ चाहिये। अप्रयत्न होने के लिये भी अप्रयत्न के साधक उच्चतम ज्ञान को प्राप्त करने के लिए किये गये प्रयत्न की आवश्यकता रहती ही है। या अप्रयत्न होने का अर्थ है जाग्रदादि अवस्थाओं से अतीत जीवन में प्रवेश करना। सभी अवस्थाओं से अतीत जीवन में प्रवेश क्या कभी कोरी बातों से हो सकता है? उसके लिए कितने बड़े महान् व सच्चे प्रयत्न की आवश्यकता है। एक संन्यासी को अपने में और सब में इसी दिव्य जीवन की प्रतिष्ठापना करने हेतु सतत अभीप्सा करनी होती है। अपनी इस अभीप्सा की पूर्ति हेतु परमेश्वर से वह निरन्तर सहायता की याचना करता है।

अपने संन्यास पथ के लिये उपयोगी या यह कहें संन्यास जीवन के लक्ष्यस्वरूप ऐसी उपर्युक्त शान्त-निर्भान्त-सहज-स्वाधीन-सर्वमङ्गल-

मय-आनन्दमय-चिन्मय-ज्ञानमय-ध्यानमय, पूर्णनिर्विकार, पूर्णभागवत भाव से ओत-प्रोत, स्वर्ग से देवत्व का धरती पर साक्षात् अवतरण हेतु सतत अभीप्सा का बने रहना और उसको एक पल के लिये भी दृष्टि पथ से ओझल न होने देना, कभी भी उसे न भूलना और इससे विरुद्ध जो कुछ भी है उसे सदा भूले रहना जैसा कि कोई शुद्धशाकाहारी मांस-भोजन को सदा भूले रहता है, एक क्षण के लिये भी सोते-जागते कार्य करते मांस का कोई चित्र सुखद वस्तु बनकर उसके चित्त पटल पर नहीं उभरता, तद्वत् सहजतापूर्वक हेय के हानपूर्वक संन्यास स्थिति में जीने के लिये जिस आन्तरिक महान् पुरुषार्थ की अपेक्षा है उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। 'जितनी बड़ी वस्तु, जितना बड़ा लक्ष्य उतना बड़ा प्रयत्न, उतना ही बड़ा महत् तपस्' यह एक सार्वभौम निरपवाद सत्य सिद्धान्त है जिसकी कहीं बाधा देखने में नहीं आई। प्रकृत में भी एक सच्चे संन्यासी बनने के इच्छुक व्यक्ति को यह सब करना ही होगा। सामान्य प्रयत्न से संन्यास जैसा महत् पद कदापि नहीं प्राप्त किया जा सकता।

शुद्धिकारक १५ आहुतियों के पश्चात् सर्वत्र फैली हुई दैवी शक्तियों को लक्ष्यकर ३५ आहुतियों का विधान है। जो इस प्रकार हैं—

ओमग्नये स्वाहा॥१६॥	ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥१७॥
ओं ध्रुवाय भूमाय स्वाहा॥१८॥	ओं ध्रुवक्षितये स्वाहा॥१९॥
ओमच्युतक्षितये स्वाहा॥२०॥	ओमग्नये स्विष्टकृते स्वाहा॥२१॥
ओं धर्माय स्वाहा॥२२॥	ओमधर्माय स्वाहा॥२३॥
ओमद्भ्यः स्वाहा॥२४॥	ओमोषधिवनस्पतिभ्यः स्वाहा॥२५॥
ओं रक्षोदेवजनेभ्यः स्वाहा॥२६॥	ओं गृह्याभ्यः स्वाहा॥२७॥
ओमवसानेभ्यः स्वाहा॥२८॥	ओमवसानपतिभ्यः स्वाहा॥२९॥
ओं सर्वभूतेभ्यः स्वाहा॥३०॥	ओं कामाय स्वाहा॥३१॥
ओमन्तरिक्षाय स्वाहा॥३२॥	ओं पृथिव्यै स्वाहा॥३३॥
ओं दिवे स्वाहा॥३४॥	ओं सूर्याय स्वाहा॥३५॥
ओं चन्द्रमसे स्वाहा॥३६॥	ओं नक्षत्रेभ्यः स्वाहा॥३७॥
ओमिन्द्राय स्वाहा॥३८॥	ओं वृहस्पतये स्वाहा॥३९॥
ओं प्रजापतये स्वाहा॥४०॥	ओं ब्रह्मणे स्वाहा॥४१॥
ओं देवेभ्यः स्वाहा॥४२॥	ओं परमेष्ठिने स्वाहा॥४३॥

ओं तद् ब्रह्म॥४४॥

ओं तदात्मा॥४६॥

ओं तत्सर्वम्॥४८॥

ओं तद्वायुः॥४५॥

ओं तत्सत्यम्॥४७॥

ओं तत्पुरोर्नमः॥४९॥

अन्तश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वमूर्तिषु।

त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमिन्द्रस्त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं ब्रह्म त्वं प्रजापतिः।

त्वं तदाप आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोऽस्वाहा॥५०॥

इन मन्त्रों में अग्नि, विश्वदेव, ध्रुवभूम, ध्रुवक्षिति, अच्युतक्षिति, स्विष्टकृत् (अच्छी प्रकार हमारा इष्ट करने वाला) अग्नि, धर्म, अधर्म, जल, ओषधि-वनस्पति, रक्षोदेवजन, गृह्य, अवसान अर्थात् मृत्यु, अवसानपति, सर्वभूत, काम, अन्तरिक्ष, पृथिवी, द्युलोक, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति, ब्रह्म, देव, परमेष्ठी (सदा अपने परम भाव में स्थित) — इन सबके लिये 'स्वाहा' — स्तुति-वचन कहकर संन्यासी संसार की हर शक्ति के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता है।

इन सब शक्तियों का परिगणन करके और उनके प्रति स्तुति-वाक्य कहकर संन्यासी घोषणा करता है कि 'तदात्मा' — ये शक्तियाँ ही संसार की आत्मा हैं, संसार में विद्यमान हैं, 'तत्सत्यम्' — ये ही सत्य हैं — अर्थात् मौजूद हैं, 'तत्सर्वम्' — ये ही सब कुछ हैं, 'तत्पुरोर्नमः' — इनके आगे सिर झुकाता हूँ। यह ध्यान देने की बात है कि इनमें 'अधर्म' को भी एक शक्ति माना गया है। इसमें सन्देह नहीं कि 'अधर्म' भी एक शक्ति है, संन्यासी को उसे शक्ति मानकर चलना होगा, उसकी सत्ता से इन्कार नहीं करना होगा, भले ही उसके साथ युद्ध करना पड़े। युद्ध शक्तिमान् के साथ ही किया जाता है, शक्तिहीन के साथ नहीं।

वही ब्रह्म (विश्वमूर्तिषु भूतेषु) विश्व के मूर्तिमान् सब जड़ तथा चेतन के (अन्तः गुहायां) भीतर मानो गुहा में (चरति) गति करता है। हे ब्रह्म! (त्वं) तू ही (यज्ञः) यज्ञ है, (त्वं) तू ही (चरति) गति करता है। हे ब्रह्म! (त्वं) तू ही (इन्द्रः) इन्द्र है, (त्वं) तू ही (रुद्रः) रुद्र है (त्वं विष्णुः) तू विष्णु है (त्वं ब्रह्म) तू ही ब्रह्म है (त्वं प्रजापतिः) तू ही प्रजापति है (त्वं) तू ही (तत्) वह (आपः आप) जलों का जल है, तू ही ज्योति, रस, अमृत, ब्रह्म, भूः, भुवः, स्वः है — यह मुझ संन्यासी की विश्व की महती -शक्ति के प्रति स्तुतियुक्त उक्ति है।

तप एवं दीक्षा

संन्यासी के लिये तप एवं दीक्षा सर्वोपरि—

संन्यास यज्ञ में विनियुक्त मन्त्रों के क्रम में 'यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह' आदि आठ मन्त्रों से यह बात दोहराई गई कि दीक्षा व तप के साथ ब्रह्मज्ञानी जहाँ पहुँचते हैं, अग्नि आदि देव शक्तियाँ मुझे वहाँ ले चलें। भगवान् की पथ-प्रदर्शक शक्ति का नाम अग्नि है जो अन्तर्वासी होकर सत्पथ पर चलने की सदा हमें प्रेरणा देता है। जो सदा हमारा अगुआ बनकर हमें आगे-आगे ले जाता है (अग्निरग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते)। जो हमारी सुस्ती को हटाकर हमें सतेज करता है (अक्नोपनो भवति)। जिधर वह झुक जाता है जिसको अपना आश्रय देता है, उसे अपना अङ्ग (Part) बना लेता है (अङ्गं नयति संनममानः)। अग्नि गतिशील होता है, पदार्थव्यञ्जक होता है, दाहक होता है और गति प्रदान करने वाला होता है (त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः, इताद् अक्ताद् दग्धाद्वा नीतात्) अर्थात् अग्नि जैसे स्वर्ण के दूषित अंश को जलाकर शुद्ध कर देता है वैसे ही भगवान् जीव के अविद्यादि मलों को जला डालता है, जीव के अपने शुद्धस्वरूप को उस के समक्ष प्रकाशित कर देता है। ऐसा आगे-आगे ले जाने वाला अग्निस्वरूप भगवान् मुझे ऐसी सदबुद्धि दे कि सदा मैं इस संन्यास मार्ग पर चलता रहूँ।

इसी प्रकार वायु को सम्बोधित करके कहा गया है कि वायु मुझे वहाँ ले चले जहाँ ब्रह्मज्ञानी पहुँचते हैं। वायु मुझ में प्राणों को धारण कराये और वे प्राण भोगों से उपरत होकर ब्रह्म में ही लगे रहें।

सूर्य मुझे वहाँ ले चले जहाँ ब्रह्मज्ञानी पहुँचते हैं सूर्य मुझे देखने की शक्ति दे। मेरी आँखें सृष्टि में ब्रह्म का दर्शन कर सकें। ब्रह्म से अतिरिक्त मेरी आँखों को और कुछ न दिखायी दे।

चन्द्र मुझे वहाँ ले चले जहाँ ब्रह्मज्ञानी पहुँचते हैं, चन्द्र मेरे मन में ऐसी शक्ति भर दे कि वह ब्रह्म का ही चिन्तन करते हुये आह्लादित रहे।

सोम (औषधियाँ) मुझे वहाँ ले चले जहाँ ब्रह्मज्ञानी पहुँचते हैं। सोम मुझे पयः (शरीर में सारिष्ठ तत्त्व वीर्य = semen Virile) की प्राप्ति कराये, जिससे मैं सर्वत्र ब्रह्म को ही देखता रहूँ।

इन्द्र मुझे वहाँ ले चले जहाँ ब्रह्मज्ञानी पहुँचते हैं। इन्द्र धन व बल का देवता है। इन्द्र मुझे ऐसा बल दे कि सर्वत्र ब्रह्म को देख सकूँ।

आपः (जल) जलवत् शान्तिदायक परमेश्वर मुझे वहाँ ले चलें जहाँ ब्रह्मज्ञानी पहुँचते हैं। जल अमृत को मेरे पास उपस्थापित कर दे। मैं सदा अमृत से छका रहूँ।

ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ, समष्टिबुद्धि, सांख्य का महत् या चतुर्वेदवित्) मुझको वहाँ ले चले जहाँ ब्रह्मज्ञानी पहुँचते हैं। ब्रह्मा मुझे ब्रह्म (वेदज्ञान) की प्राप्ति कराये जिससे मैं सर्वत्र बाहर-भीतर ब्रह्म को देख सकूँ।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'दीक्षया तपसा सह' यहाँ 'दीक्षया' और 'तपसा' पद में सह के योग में तृतीया का प्रयोग हुआ है— दीक्षा व तप के साथ ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। कोई भी संकल्प जब मन में धारण करने के पश्चात् क्रिया रूप में आ जाता है तो उसे कहते हैं— 'दीक्षा'। जैसे— किसी ने अपने मन में निश्चय किया कि मुझे संन्यास धर्म में दीक्षित हो जाना चाहिये, जब तक यह मन में रहता है तब तक तो व्रत या संकल्प होता है किन्तु जब यह संकल्प सबके सामने आ जाता है तो दीक्षा बन जाता है। एक दूसरे उदाहरण से इसे और भी अच्छे से समझा जा सकता है— जैसे किसी के मन में गृहस्थ आश्रम में जाने का विचार पैदा हुआ, विचार करते-करते एक निश्चय हो गया कि हाँ मुझे गृहस्थ होना है, अभी भी यह उसका संकल्प या व्रत ही है। ज्यों ही विधिपूर्वक विवाह संस्कार हो जाता है तो कहते हैं कि अमुक व्यक्ति गृहस्थ धर्म में दीक्षित हो गया। व्रत या संकल्प व्यक्तिगत है किन्तु दीक्षा सामाजिक है। कम से कम भारत में गृहस्थ एक ऐसी ही सामाजिक दीक्षा है। दो व्यक्ति स्वेच्छा से साथ-साथ रहने लगे तो उन्हें गृहस्थ नहीं कहा जाता। सामाजिक में व्यक्तिगत तो समाहित हो ही जाता है।

व्यक्तिगत संकल्प आवश्यक नहीं सामाजिक भी हो। जैसे कई गृहस्थ अपने गृहस्थ की सभी जिम्मेदारियों को पूरा करके अपने आन्तरिक संकल्प के अनुसार संन्यास का ही जीवन जीने लगते हैं किन्तु वह उनका व्यक्तिगत होता है, सम्भव है कि वे जीवन्-मुक्त अवस्था में ही जी रहे हों पर वे दीक्षित संन्यासी नहीं कहे जायेंगे। दीक्षा तभी मानी जाती है जब शास्त्र विधि के अनुसार सब के प्रकाश में होती है, विधिपूर्वक होती है। दीक्षा का अधिकार शास्त्र व

गुरु दोनों मिलकर अग्नि की साक्षिता में देते हैं। परिचित लोग भी उस कार्यक्रम में सम्मिलित हो ही जाते हैं, यही उसका सामाजिक रूप है। हाँ! कभी-कभी ऐसा होता कि कोई व्यक्ति बिना ही विधिवत् दीक्षा के एक संन्यासी जैसा जीवन जीना आरम्भ कर देता है, उसी जीवन को लम्बे समय तक लगन के साथ जीता चला जा रहा है तो लोग उसके जीवन को देखकर स्वाभाविक रूप से विश्वस्त हो जाते हैं और कह उठते हैं कि यह तो साधु-पुरुष है, यह तो विरक्त महात्मा है, यह तो साक्षात् संन्यासी ही है।

किन्तु कुछ बिरले लोगों को छोड़कर मनुष्य बहुत दुर्बल प्राणी है, उसे आगे बढ़ने के लिये अपने संकल्प के अतिरिक्त भी सब तरफ से सहारे की आवश्यकता पड़ती है— गुरु, रीतिरिवाज (retuals), प्रतीक, समाज इत्यादि। अतः दीक्षा की व्यवस्था की गई है। दीक्षा उसके संकल्प को सजीव बनाये रखती है। यही बात वस्त्रादि प्रतीकों की भी है। हाँ! जो साधना में बहुत आगे बढ़ गये हैं। जिनका वैराग्य स्वाभाविक हो गया। जो शास्त्रवित् हैं तथा शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट ज्ञान को जी रहे हैं, जिनके जीवन में पूर्ण सहजता है, जो प्रकृति के बन्धनों से मुक्त हो गये हैं। ऐसे लोगों के लिये विधिपूर्वक दीक्षा की कोई बाध्यता नहीं है। श्री अरविन्द, रमण महर्षि इसके उदाहरण हैं। किन्तु जो मध्य में हैं और आगे बढ़ने के इच्छुक भी हैं उन्हें दीक्षा से सहायता मिलती है। दीक्षा से आगे दक्षिणा (उस मार्ग की अवान्तर उपलब्धि) दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य (लक्ष्य) की प्राप्ति का क्रम वर्णित हुआ है। दीक्षित होने पर जो प्रतिकूलताएँ आती हैं— बाह्य या आन्तरिक, उन्हें सहते हुए अपने दीक्षित मार्ग (स्वीकृत मार्ग) से विचलित न होने का नाम 'तप' है। जीवन का ऐसा कोई रूप हो ही नहीं सकता कि जीवन हो और बाधाएँ न आयें। वे बाधाएँ बहुत बड़ी-बड़ी भी हो सकती हैं और छोटी भी, किन्तु बाधाएँ अवश्य होती हैं। उनको धैर्यपूर्वक सहना होता है। अतः अन्यत्र भी वेद में कहा गया है—

‘भद्रमिच्छन्त ऋषयस्स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे’

भद्र (कल्याण) का दर्शन करना चाहते हुये सुख के सच्चे स्वरूप को जानने वाले (स्वर्विदः) ऋषियों ने 'दीक्षा और तप' का सहारा लिया तभी राष्ट्र (दीप्तिमान् सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन की भावना) और तत् सम्बन्धी बल और ओज उत्पन्न हुआ।

दीक्षा और तप दोनों में भी 'दीक्षा' को अधिक पूज्य बताया गया है क्योंकि दीक्षा के बिना कोई तप कर रहा है तो इसका अर्थ होगा कि कोई व्यक्ति बिना ही उद्देश्य के तप कर रहा है। 'तप' में कष्टों को सहना होता है। बिना उद्देश्य के कोई क्यों कष्ट सहन करेगा। अतः दीक्षा परमाणु में स्थित उस न्यूट्रॉन (नाभिक) की तरह है जिसके चारों ओर इलेक्ट्रॉन रूपी तप चक्कर लगाता है। यह भी कह सकते हैं— दीक्षा और तप रूपी दो तटों के बीच यह संन्यास-जीवन रूपी नदी बहती है जिसमें कोई महान् उद्देश्य रूपी जल भरा होता है। जिसको हम योग, अमृतत्व, ईश्वर प्राप्ति, दुःख मुक्ति, चिर शान्ति आदि नाम दे सकते हैं। संसार रूपी नदी तो सुख व दुःख रूपी दो पाटों के बीच बहती है जिसमें तृष्णा रूपी जलभरा होता है।

यजुर्वेद के एक मन्त्र में कहा गया—

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।

व्रतञ्च श्रद्धाञ्चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽहम्॥ (यजु० २०. २४)

अर्थात् (व्रतपतेऽग्ने) हे नियमपालकेश्वर! (दीक्षितः) दीक्षा को प्राप्त होता हुआ (अहम्) मैं (त्वयि) तुझ में स्थिर होके (व्रतम्) शिवसंकल्प सत्यभाषणादि कर्म (च) और उसकी सामग्री (श्रद्धाम्) सत्य की धारणा को (च) और उसके उपायों को (उपैमि) प्राप्त होता हूँ, इसीलिये अग्नि में जैसे (समिधम्) समिधा को (अभ्यादधामि) धारण करता हूँ, वैसे विद्या और व्रत को धारण कर अपने को प्रज्वलित करता हूँ और वैसे ही (त्वा) तुझको अपने आत्मा में धारण करता और तुझे (इन्धे) प्रकाशित करता हूँ।

दीक्षित संन्यासी का अपना व्रतलोप न हो, इसके लिये जिस आन्तरिक पुरुषार्थ, अन्तर्मुखता, सजगता, अचञ्चलता की अपेक्षा होती है, तदर्थ प्रसन्नतापूर्वक, श्रद्धापूर्वक अपने काम में लगे रहने का नाम है 'तप'। जहाँ तप का एक अर्थ 'द्वन्द्व सहन करना' लिया जाता है वहाँ एक अर्थ और भी गृहीत होता है— 'एकाग्रता' (मनस इन्द्रियाणाञ्चैकाग्र्यं परमं तपः। महाभा०)। एकाग्रता में दोहरी क्रिया होती है— 'मन का वहाँ कभी न जाना' जहाँ नहीं जाना चाहिए और दूसरी तरफ 'मन का सदा उसी विषय में बने रहना' जिस विषय में उसे बने रहना चाहिए। सो मन का अपने संकल्पित विषय में बने रहना और संकल्पबहिर्भूत विषय से हटे रहना, यह तप का स्वरूप हुआ। एक अर्थ में

अभ्यास और वैराग्य दोनों ही 'तप' में समाहित हैं। प्रशान्तवाहिता रूप स्थिति के लिये यत्न का नाम अभ्यास (तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः) अपने संकल्पित विषय से अन्यत्र न जाने का नाम वैराग्य। दोषदर्शी चित्त को संसार से वैराग्य होता है, स्थिर रहने में गुणदर्शी चित्त का अपने व्रत पर टिकाव होता है। ग्रहण की हुई दीक्षा को अच्छे से निभाने में सतत गुण दर्शन और दीक्षा विरोधी चीजों में, संसार सुखों में दोष दर्शन रूप उभयविध क्रिया से व्रतलोप की सम्भावना समाप्त हो जाती है। अतः दीक्षा व तप को बार-बार दोहराया गया। संन्यासी का अपनी दीक्षा को भूल जाना पतन को निमन्त्रण देना है। इसीलिए शास्त्रों में अप्रमाद को अमृत कहा है और प्रमाद को मृत्यु।

मनुष्य भगवान् की शक्ति, उसके ज्ञान, उसके आनन्द, उसके प्रेम, उसकी करुणा, उसकी निरपेक्षता की कल्पना करता है, क्योंकि अभी वह जहाँ खड़ा है वहाँ तो कल्पना ही हो सकती है, उसका अनुभव तो है नहीं, तो उसे ऐसा अहसास होता है कि सत्-चित्-आनन्द का एक ऐसा अनन्त सागर है जिसका न कोई ओर है न छोर।

ऐसे भगवान् की उपस्थिति सम्पूर्ण रूप से हर जीव के भीतर है। मनुष्येतर प्राणियों को तो छोड़ें; क्योंकि वहाँ भगवान् की जितनी अभिव्यक्ति है उससे अधिक हो नहीं सकती किन्तु मनुष्य में तो उसकी अभिव्यक्ति की समस्त सम्भावनाएँ पूर्णरूप से मौजूद हैं। यदि मनुष्य अपने अहंकार को बीच में न आने दे और भगवान् को अपने ज्ञान-बल-आनन्द के साथ काम करने दे तो जीवन अत्यन्त सहज, अप्रयत्न, स्वाधीन हो सकता है। एक संन्यासी को ऐसी ही पूर्णता चाहिए, वह तभी हो सकती है जब वह अपना पूरा समर्पण कर दे।

पदार्थ, ज्ञान एवं भाव से जीवन की पूर्णता—

पदार्थ, ज्ञान और भाव इन तीन से जीवन पूर्ण होता है। जिस जीवन में पदार्थों की तो भरमार हो पर ज्ञान और भाव की कमी हो तो स्पष्ट ही ऐसा जीवन अधूरा जीवन है। जिस अनुपात में किसी एक या दो या तीनों की कमी है उतनी ही अपूर्णता है। आजकल देखा-देखी पदार्थ-संचय पर अधिक जोर है, हमारा सच्चा स्वरूप क्या है, हमारा लक्ष्य और उसका साधन क्या है और हमें इस दुनिया में अपने साथियों के साथ तथा प्रकृति माँ (Mother Nature) के साथ कैसे रहना चाहिये इस पर फोकस (Focus) कम है अतः दुःख ही

बढ़ रहा है। जिसको मनुष्य 'अपना' कहता है वहाँ भी उन के प्रति उचित भाव की कमी रहती है तो दूसरों के साथ तो होगी ही। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति' दूसरों के साथ आत्मवत् व्यवहार यह 'भाव' का सच्चा व्यवहार्य स्वरूप है।

पुस्तकीय ज्ञान तो बढ़ ही रहा है, किन्तु अपने व्यक्तित्व की समझ, अस्तित्व में अपनी उचित भूमिका की समझ, पदार्थों के प्रति एक उचित दृष्टिकोण की समझ, सम्बन्धों के ठीक से निर्वाह की समझ, जीवन में संयम-असंयम के अनुकूल-प्रतिकूल परिणाम की समझ, शरीरादि से अलग अपने चिन्मयस्वरूप की समझ, शास्त्रों द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों को समन्वित करने की समझ, शास्त्रों का सार तत्त्व ग्रहण करने की समझ, सत्य और असत्य की निर्णयात्मक समझ, कर्म-अकर्म, प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य की समझ, त्रिगुण से सम्बन्धित सत्त्व-रजस्-तमस् की विवेकात्मक समझ कितने लोगों को होती है? मनुष्य एक ज्ञानप्रधान इकाई है अतः ज्ञान जितना स्पष्ट, व्यापक, स्वानुभूत, उदार होता है उतना ही जीवन सुख से समृद्ध होता जाता है। एक तरफ सम्बन्धों में सुखपूर्वक जीने का ढंग ज्ञान से ही प्राप्त होता है तो दूसरी तरफ ज्ञान के द्वारा ही यह निर्धारित हो पाता है कि पदार्थ के विषय में देखा-देखी अच्छी नहीं होती। ज्ञान के प्रकाश में व्यक्ति को देखना चाहिये कि किसको किस वस्तु की कितनी मात्रा चाहिये। अपने साधनों, योग्यता और आवश्यकता के अनुसार ज्ञान के आलोक में एक ऐसी पूर्णता की अनुभूति होनी चाहिए जिसमें न तो किसी से हीनता का अनुभव हो और न अहंता का। यही है सच्ची समृद्धि न कि साधनों की अन्धाधुन्ध भरमार।

एक संन्यासी को सामने रखकर यदि जीवन की इन तीनों (पदार्थ, ज्ञान, भाव) आवश्यकताओं का परीक्षण-निरीक्षण या अध्ययन किया जाये तो संन्यासी को संन्यासी बनाने वाली जो ज्ञान (Right understanding/ Wisdom) व भाव (Right Feelings) की उचित स्थिति होनी चाहिये उसमें यदि वह सचमुच जी रहा है तो उसे पदार्थ की तरफ से एकदम मुक्त हो जाना चाहिये। मनुष्य को अपने भौतिक अस्तित्व को बनाये रखने के लिये जिन भोजन, वस्त्र, आवास और औषध इत्यादि की आवश्यकता होती है। संन्यासी को यह विश्वास हो जाना चाहिये या उसे स्वयं से यह विश्वास कर

अर्थात् वह सर्वरक्षक देव= सब सुखों का दाता है। अग्ने= स्वप्रकाशस्वरूप है तथा सब दुःखों का दाहक है। विद्वान्= समस्त ज्ञान से ओत-प्रोत है। अग्ने और देव सम्बोधन पद हैं। विद्वान् प्रथमान्त है। 'अस्मान् विश्वानि वयुनानि राये सुपथा नय' इतना अंश तथा 'युयोध्यस्मजुहुराणमेनः' यह मन्त्र का प्रार्थना भाग है। 'भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम स्वाहा' यह उपासना भाग है। प्रार्थना भाग में कहा गया कि हे देव अग्ने! यतः आप हमारे लिए समस्त उत्तम ज्ञान व कर्मों को जानते हैं, अतः योग के विज्ञानरूप धन की प्राप्ति के लिए हमें सुपथ से सम्पूर्ण प्रज्ञान व उत्तम कर्मों को प्राप्त कराईये तथा जो कुटिलतायुक्त पापरूप कर्म हैं, उन्हें हम से दूर रखिए। मन्त्र का अन्तिम उपासना भाग है, जिसमें कहा गया कि हम आपके चरणों में प्रणत हैं।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि संविवेश ।।

(यजु०- ३२.११)

परमात्मा की स्तुति प्रार्थना और धर्म में दृढ निष्ठा करके जो सम्पूर्ण पृथिव्यादि भूतों में व्याप्त होकर तथा सम्पूर्ण लोकों में पूर्ण होकर और सब दिशाओं और उपदिशाओं में व्यापक होकर स्थित है, जो सत्यकारण के योग से सबसे प्रथम उत्पन्न महत्तत्त्व या हिरण्यगर्भ रूप सृष्टि को धारण करके पालन कर रहा है, उस परमात्मा को संन्यासी स्वात्मा से उसके समीप स्थित होकर उसमें प्रतिदिन समाधियोग से प्रवेश किया करें।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ।।

(ऋ०- १.१६४.३९)

हे संन्यासी लोगो! जिस सर्वोत्तम आकाशवत् व्यापक नाशरहित परमात्मा में ऋचाएँ और सब पृथिव्यादि लोक और समस्त विद्वान् स्थित हैं। जो जन उस व्यापक परमात्मा को नहीं जानता, वह वेदादि शास्त्र पढ़ने से क्या सुख वा लाभ कर लेगा? अर्थात् विद्या के बिना परमेश्वर का ज्ञान कभी नहीं होता और विद्या पढ़ के भी जो परमेश्वर को नहीं जानता और न उसकी आज्ञा में चलता है, वह मनुष्य शरीर धारण कर निष्फल ही चला जाता है और जो

विद्वान् लोग उस ब्रह्म को जानते हैं। वे ये ही उस परमात्मा में अच्छे प्रकार समाधियोग से स्थित होते हैं।

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत् ।

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।।

(मैत्रायण्युप०- ४.४.९)

समाधियोग के द्वारा निर्मल चित्त के सम्बन्ध से परमात्मा में निश्चल रूप से प्रवेश किए हुए जीव को जो सुख होवे वह वाणी से कहा नहीं जा सकता; क्योंकि तब वह समाधि में स्थित जीवात्मा उस ब्रह्म को शुद्ध अन्तःकरण से ग्रहण करता है, वह कभी भी पूर्ण रीति से वर्णन करने में नहीं आ सकता। इसलिए संन्यासी लोग परमात्मा में स्थित रहें और उसकी आज्ञा अर्थात् पक्षपातरहित न्याय धर्म में स्थित होकर सत्योपदेश, सत्यविद्या के फैलाव से सब मनुष्यों को सुख पहुँचाते रहें।

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।

यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ।। (मनु०- ४.२०४)

संन्यासी सर्वदा (अहिंसा) निर्वैरिता (सत्यम्) सत्य बोलना, सत्य मानना, सत्य करना (अस्तेयम्) तथा मन, कर्म, वचन से अन्याय करके परपदार्थ का ग्रहण न करे, न किसी करते हुए का अनुमोदन करे। (ब्रह्मचर्यम्) सदा जितेन्द्रिय होकर अष्टविध मैथुन का त्याग करके वीर्य की रक्षा और उन्नति करके चिरञ्जीवी होकर सबका उपकार करता रहे। (अपरिग्रहः) अभिमानादि दोषरहित, संसार के किसी धनादि पदार्थों में मोहित होकर कभी न फँसे। इन पाँच यमों का सेवन सदा किया करें और इनके साथ पाँच नियम अर्थात् (शौच) बाहर-भीतर से पवित्र रहना, (सन्तोष) पुरुषार्थ करते जाना और हानि-लाभ में प्रसन्न-अप्रसन्न न होना (तपः), सदा पक्षपातरहित न्यायरूप धर्म का सेवन प्राणायामादि योगाभ्यास करना (स्वाध्याय) सदा प्रणव का जप अर्थात् मन में चिन्तन और उसके अर्थ=ईश्वर का विचार करते रहना। (ईश्वरप्रणिधान) अपने आत्मा को परमेश्वर की आज्ञा में समर्पित करके परमानन्द परमेश्वर के सुख को जीता हुआ भोगकर शरीर को छोड़ के सर्वानन्दयुक्त मोक्ष को प्राप्त होना संन्यासियों के मुख्य कर्म हैं।

हे जगदीश्वर! सर्वशक्तिमन्, सर्वान्तर्यामिन्, दयालो, न्यायकारिन् सच्चिदानन्दानन्त नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, अजर, अमर, पवित्र, परमात्मन् आप अपनी कृपा से संन्यासियों को शास्त्रनिर्दिष्ट कर्मों में प्रवृत्त रखके परममुक्ति-सुख को प्राप्त कराते रहें।

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वरहितम्।

तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परिस्रव।।

(ऋ०- ९.११३.५)

हे पवमान! अविद्यादि क्लेशों के नाश करने हारे, पवित्रस्वरूप, सर्वानन्ददायक परमात्मन् जहाँ तेरे स्वरूप में निरन्तर व्यापक तेरा तेज है, ज्ञान से देखने योग्य जिस तुझमें नित्य सुख स्थित है। उस जन्म-मरण और नाश से रहित द्रष्टव्य अपने स्वरूप में आप मुझको परमैश्वर्य प्राप्ति के लिए कृपा से धारण कीजिए और मुझ पर माता के समान कृपाभाव से आनन्द की वर्षा कीजिए।

पूर्णतः अशुद्धिक्षय - संन्यासी का संकल्प-

संन्यास दीक्षा की प्रक्रिया में एक बहुत की महत्वपूर्ण भाग है, जिसमें १५ मन्त्रों से भात की १५ आहुतियाँ शुद्धि को उद्दिष्ट करके दी गई हैं। प्रत्येक मन्त्र का उत्तरार्द्ध बहुत ही सुन्दर भाव भरे शब्दों से परिसमाप्त होता है-

‘ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा’ अर्थात् बार-बार नव दीक्षित संन्यासी यह बात बोलता है कि मैं रजःदोष रहित ज्योतिःस्वरूप बन जाऊँ, पापरहित हो जाऊँ। कोई पूछ सकता है कि यहाँ मन्त्र में तो रजःदोष हटाने की ही बात कही गयी है ‘तमस्’ के बारे में तो कुछ कहा ही नहीं, क्या ‘तमस्’ हानिकारक नहीं है? नहीं ऐसा नहीं है, वह भी उतना ही हानिकर है बल्कि उससे भी अधिक। तमस् के कारण व्यक्ति अपना यथार्थ स्वरूप जो कि ज्योतिःस्वरूप है उस को सुषुप्तिवत् ग्रहण नहीं कर पाता अर्थात् अग्रहण की स्थिति में रहता है और रजस् के कारण अन्यथा ग्रहण चालु रहता है, माने अग्रहण की ही उत्तरवर्ती अवस्था है अन्यथाग्रहण। अग्रहण की स्थिति में आत्मस्वरूप तिरोहित हो जाता है और अन्यथाग्रहण से अपने को शरीर आदि

समझने लगता है। जैसे ही व्यक्ति अपने को शरीर समझना प्रारम्भ कर देता है वैसे ही समस्त अशुद्धि, पापवासना, तरह-तरह की इच्छायें, उनकी पूर्ति के लिये अनेकविध कर्म, उनसे फिर वासनायें, राग-द्वेष आदि के रूप में सारा प्रपञ्च खड़ा हो जाता है। अतः व्यक्ति जब रजोदोष से पूर्ण मुक्त हो गया तो समझना चाहिये वह तमस् से भी मुक्त हो ही गया। क्योंकि रजस् से मुक्त होने का अर्थ है- व्यक्ति अन्यथाग्रहण से ऊपर उठकर स्वरूपग्रहण में आ गया है, अपने चिन्मयस्वरूप को प्राप्त हो गया। चिन्मयस्वरूप का किसी को यदि अनुभव हो रहा है तो इसका अर्थ है कि अग्रहण की स्थिति नहीं है अर्थात् तमस् नहीं है। अतः मन्त्र में ‘विरजाः’ कहते हुये ‘वितमाः’ भी कह ही दिया है। यद्यपि ‘विरजाः’ से ही ‘विपाप्मा’ अर्थ भी संगृहीत हो ही गया था फिर भी स्पष्टता के लिये विपाप्मा शब्द का भी प्रयोग कर दिया।

१. दीक्षित संन्यासी कह रहा है मेरा प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान पाँच प्राण शुद्ध हो जायें। मेरे फेफड़ों की प्राणवायु, गुदाप्रदेशवर्ती अपानवायु, सारे शरीर में विचरण करने वाली व्यानवायु, कण्ठ प्रदेश से डकार के रूप में निकलने वाली उदानवायु नाभि प्रदेश में आँतों में रहने वाली समानवायु-ये सब शुद्ध रहें, मुझे कष्ट न दें।

भाव यह है कि मनुष्य को वायु के अनेक कष्ट होते हैं। फेफड़ों में दमा, गुदा में बवासीर, शरीर में बाय के दर्द, गले में खट्टे-फीके डकार, नाभिप्रदेश में आँतों में हवा भर जाना आदि प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान के कष्ट हैं। प्राणादि का शुद्ध होने का अर्थ स्वस्थ होना, स्वस्थ रहना।

२. वाक्-मनः-चक्षुः श्रोत्र-जिह्वा-घ्राण-रेतस् (वीर्य)-बुद्धि-आकूति-संकल्प ये सब शुद्ध हो जायें। आकूति का अर्थ है ‘उत्साह’।

३. शिरः - पाणि-पाद-पार्श्व-पृष्ठ (पीठ) ऊरु (पिण्डली)-उदर-जंघा-शिश्नोपस्थ (मूत्रेन्द्रिय)-पायु (मलेन्द्रिय) शुद्ध हो जायें।

४. त्वक्-चर्म-मांस-रुधिर-मेद (चर्बी) मज्जा (हड्डियों का सारभाग) स्नायु-अस्थि शुद्ध हो जायें।

५. शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ज्ञानेन्द्रियों के ये पाँच विषय शुद्ध हो जायें।

६. पृथिवी-अप्-तेज-वायु-आकाश पंचमहाभूत शुद्ध हो जायें।

७. अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमय पाँचों कोश मेरे लिये शुद्ध हो जायें।

८. विविष्टि के लिये आत्मसमर्पण। विविष्टि का अर्थ है- विशेष रूप से संसार के अणु-अणु में जो आविष्ट है- भगवान्- उसके लिये।

९. नामरूपकर्मात्मक कार्यप्रपञ्च को 'कषः' कहते हैं। उत्क का अर्थ है उत्सुक (उत्क उन्मना: अ० ५. २. ८०) नामरूपकर्मात्मक संसार की रचना में उत्सुक भगवान् के प्रति समर्पण।

१०. हे (पुरुष) इस शरीररूपी शयनागार में सो रहे जीव! (उत्तिष्ठ) नींद छोड़कर उठ खड़ा हो। हे (हरित) सब दुर्गुणों का हरण-त्याग-कर देने वाले सत्त्वगुणी पुरुष (लोहित) हे समय-कुसमय में रुकावटों को देखकर लोहित=रक्त-मुख कर लेने वाले रजोगुणी पुरुष तथा हे आलस्य में पड़े (पिङ्गलाक्षि) अज्ञानान्धकार में आविष्ट तमोगुणी पुरुष! (देहि देहि) अपने जीवन में देते ही रहना, देते ही रहना (ददापयिता) पुनः पुनः देने वाला ही बनना- यह भावना तेरे अन्तःकरण को शुद्ध कर दे। संन्यासी प्रार्थना करता है- मैं (विरजाः) विरज होकर (ज्योतिः) ज्योतिःस्वरूप होकर (विपाप्मा भूयासम्) पापमुक्त हो जाऊँ।

मनुष्य सब तरह के होते हैं- सतोगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी। इन सबके प्रति वेद का आदेश है- स्वार्थ में मत डूबे रहो, परार्थ को जीवन का लक्ष्य बनाओ, लेते ही न रहो- देते रहो, देते रहो। देने से अन्तःकरण शुद्ध होता है, लेते रहने से अन्तरात्मा मलिन हो जाता है। संन्यासी कहता है मैं यह प्रार्थना केवल भावना में बहकर नहीं कर रहा, शुद्ध अन्तःकरण से कर रहा हूँ। मैं अवश्य ऐसा ही करूँगा।

११. मेरे मन, वाक्, काया, कर्म शुद्ध हों- जो मन में हो वह वाणी में हो, जो वाणी में हो वह कर्म में हो।

१२. जो मेरी अहङ्कार की व्यक्त भावनाएँ हैं, उनसे तो मैं शुद्ध-मुक्त हो ही जाऊँ, अगर मेरे भीतर अहङ्कार की अव्यक्त छिपी हुई- भावनाएँ हैं, उनसे भी मैं शुद्ध हो जाऊँ-उन्हें छोड़ दूँ।

१३. मेरा आत्मा शुद्ध हो जाये। यहाँ आत्मा का अर्थ है 'शरीर'।

१४. मेरा अन्तरात्मा शुद्ध हो जाये।

१५. मेरा परमात्मा शुद्ध हो जाये। परम आत्मा (निर्गुण पुरुष) तो सदा शुद्ध ही है। किन्तु व्यवहार काल में वृत्तिसारूप्य स्थिति होने से मन-बुद्धि आदि की अशुद्धि को उस पर आरोपित कर दिया जाता है। जब मेरा पूरा अस्तित्व ही शुद्ध हो जायेगा तो परम आत्मा की शुद्धि भी उसी में समाहित (अन्तर्निहित) रहेगी।

संन्यासी जैसे शुद्धि की कामना कर रहा है। इस शुद्धिकरण का आरम्भ जीवन के शैशवकाल से ही शुरू हो जाता है। आचार्य अपने शिष्य को कहता है-

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि।।

(यजु० ६.१४)

हे शिष्य! मैं विविध शिक्षाओं से तेरी वाणी को शुद्ध करता हूँ- निर्मल करता हूँ, दूसरों के साथ कैसे बोलना चाहिये- यह सिखाता हूँ। मैं तुम्हारे प्राण को शुद्ध करता हूँ, तेरे नेत्र को, तेरे कानों को, तेरी नाभि को, तेरे मेढ्र (लिङ्ग) को पवित्र करता हूँ।

अग्रिम मन्त्र में कहा- **मनस्त आप्यायताम् वाक् त आप्यायताम् प्राणस्त आप्यायताम् चक्षुस्त आप्यायताम् श्रोत्रं त आप्यायताम्। यत् ते क्रूरं यदास्थितं तत् त आप्यायताम् निष्ट्यायताम् तत् ते शुध्यतु शमहोभ्यः। ओषधे त्रायस्य स्वधिते मैत्रं हिंसीः।।** (यजु० ६.१५)

हे शिष्य! मेरी शिक्षा से तेरा सङ्कल्पविकल्पात्मक मन सत्कर्म के अनुष्ठान से पर्याप्त गुणयुक्त हो, तेरी वाणी उन्नत हो, तेरा प्राण बलादिगुणयुक्त हो, तेरी निर्मल दृष्टि हो, तेरे कर्ण सद्गुण व्याप्त हों, तेरा जो दुष्ट व्यवहार (क्रूरम्) है वह दूर हो और जो तेरा निश्चय (आस्थितम्) है वह पूरा हो, इस प्रकार से तेरा समस्त व्यवहार शुद्ध हो और प्रतिदिन तेरे लिये सुख हो।

इस प्रकार इस सम्पूर्ण अशुद्धिविषयक चर्चा के सन्दर्भ में हम यह कह सकते हैं कि सारे शास्त्रों ने, सभी धर्मगुरुओं ने और सभी महान् आत्माओं ने तो इस बात को अपने-अपने ढंग से दोहराया ही है किन्तु प्रत्येक सच्चे साधक को भी शीघ्र ही यह अनुभव हो जाता है कि अशुद्धि है और उसे शुद्ध किये बिना अध्यात्म पर्वत के शिखर पर पहुँचना तो बहुत दूर की बात है उसकी तहलटी के दर्शन होना भी मुश्किल है, नामुमकिन है। पतञ्जलि ने तो

योगाङ्गों के अनुष्ठान के फल कथन करने के प्रसङ्ग में शास्त्र की विषय वस्तु को प्रस्तुत करते हुए इसी शब्द का प्रयोग किया है कि योगाङ्गों के श्रद्धापूर्वक अभ्यास से अशुद्धि का क्षय होता है और ज्ञान की दीप्ति होती है, और यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक पूर्ण शुद्धि नहीं हो जाती। वे कहते हैं—

‘तेषामनुष्ठानात् पञ्चपर्वणो विपर्ययस्याशुद्धिरूपस्य क्षयो नाशः । तत्क्षये सम्यग्ज्ञानस्याभिव्यक्तिः । यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते । यथा यथा च क्षीयते अशुद्धिः तथा तथा क्षयक्रमानुरोधेन ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्धते । सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्षमनुभवत्याविवेकख्यातेः आगुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः ।’

(योगसूत्र-व्यासभाष्य- २.२८)

अर्थात् उन योगाङ्गों का अनुष्ठान करने से पाँचपर्वों वाली अविद्यारूपिणी अशुद्धि का क्षय अर्थात् नाश होता है। उसका नाश होने से यथार्थज्ञान का आविर्भाव होता है और जैसे-जैसे इन योगाङ्ग रूपी साधनों का अनुष्ठान किया जाता है, वैसे-वैसे अविद्या क्षीण होती जाती है और उसकी क्षीणता के क्रम का अनुसरण करने वाला ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जाता है। ज्ञान के प्रकाश की यह वृद्धि विवेकख्याति तक उत्कृष्टतमता का अनुभव करती है। विवेकख्यातिपर्यन्त का अर्थ है— सत्त्वादिगुण और पुरुष दोनों के स्वरूप के सम्यग्ज्ञानपर्यन्त।

न्याय दर्शनकार आचार्य गौतम ने मिथ्याज्ञान से अपवर्गपर्यन्त की अपनी यात्रा में अशुद्धि को दोष शब्द से कहा है, जिसका कारण मिथ्याज्ञान है।

आचार्य शंकर ने समस्तपञ्च को अध्यासजन्य बताया। अध्यास का कारण अशुद्ध बुद्धि और उसका कारण अविद्या, अशुद्धबुद्धि में कामनाओं की उत्पत्ति, उनकी पूर्ति के लिये कर्म और यही है सम्पूर्ण संसार।

चरक में कहा है— समग्रं दुःखमायत्तमविज्ञाने द्वयाश्रयम् ।

सुखं समग्रं विज्ञाने विमले च प्रतिष्ठितम् ।। (सू०-३०.८४)

अर्थात् शरीर व मन दो आश्रय हैं जिसके ऐसा समग्र दुःख अज्ञान में निहित है और सम्पूर्ण सुख विमल विज्ञान में प्रतिष्ठित है। अज्ञान अशुद्धिस्वरूप है विज्ञान शुद्धिस्वरूप।

योगानुष्ठान से अशुद्धिक्षय—

योगशास्त्र में जहाँ-जहाँ शुद्धि-अशुद्धि की चर्चा आई है, उन सभी प्रसङ्गों का एक बार हम सामान्य रूप से अध्ययन करना चाहेंगे। द्वितीय पाद की ४० व ४१ वाँ सूत्र है—

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ।

योगशास्त्र में पाँच यम और पाँच नियम प्रसिद्ध हैं। नियमों में एक शौच (शुद्धि) को भी स्थान दिया गया। बाह्य शौच के सिद्ध होने से (स्थिर होने से) अपने अङ्गों के प्रति घृणा और अन्यप्राणियों के अङ्गों से संसर्गभाव होता है। अर्थात् शरीर के दोषों को देखने वाला योगसाधक शरीरमात्र से आसक्तिहीन हो जाता है। इतना ही नहीं, उसका दूसरों से सम्पर्कराहित्य भी होता है। शरीरों के दोषयुक्त स्वरूप को जान लेने वाला, अतः अपने शरीर को भी छोड़ने का इच्छुक, मिट्टी जल इत्यादि से धोते रहने पर भी शरीर की शुद्धता न देखता हुआ, भला कैसे शुद्धि की चेष्टाओं से रहित अतः अपवित्र अन्य लोगों के शरीरों से संसर्ग कर सकता है अर्थात् दूसरों के शरीरों को छू तक नहीं सकता।

और आभ्यन्तर शौच की सिद्धि से— सत्त्वशुद्धि०...सत्त्वशुद्धि इत्यादि सिद्धियाँ होती हैं। आभ्यन्तर शौच से बुद्धिशुद्धि (सत्त्वशुद्धि) उससे मन की प्रसन्नता (सौमनस्य) उससे एकाग्रता (एकाग्रच) उससे इन्द्रियजय (इन्द्रियजयत्व) उससे आत्मसाक्षात्कार की योग्यता (आत्मदर्शनयोग्यत्व) बुद्धिसत्त्व को प्राप्त होती है। यह शौच (शुद्धि) की स्थिरता से प्राप्त होती है।

आगे सूत्र है— ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।। (योगसूत्र- २.५२)

अर्थात् प्राणायामों का अभ्यास करने वाले इस योगी के विवेकज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म (संस्कार) क्षीण होता है। जिसके सम्बन्ध में शास्त्रकार ऐसा कहते हैं कि— रागात्मक इन्द्रजाल रूपी विषयजाल से प्रकाशात्मक बुद्धि सत्त्व को ढँककर, वही कर्मसंस्कार ही इसे अधर्म में, अन्य कुकर्मों में लगाता है। इस योगी के प्रकाश का आवरणभूत वह संसारमूलक

कर्मसंस्कार तथा उस कर्म का कारणभूत क्लेश प्राणायामों के अभ्यास से दुर्बल होता है और प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है। कहा भी है— 'तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति'। अर्थात् प्राणायाम से बढ़ कर कोई तप नहीं है। उससे मलों की शुद्धि और ज्ञान की स्फूर्ति होती है।

मनु ने भी कहा है— प्राणायामैर्दहेद् दोषान्॥ (मनु० ६.७२)

अर्थात् प्राणायामों से दोषों का नाश करें।

तथा— दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।

तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ (मनु० ६.७१)

अग्नि में तपाने से जैसे धातुओं के मल जल जाते हैं वैसे ही प्राण का निग्रह करने से इन्द्रियों के दोष भस्म हो जाते हैं।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्॥ (योगसूत्र- ३.५०)

सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञता रूप सिद्धि के प्रति वैराग्य के कारण दोष बीजों का सर्वथा नाश होने पर विदेह कैवल्य होता है। दोषों के अर्थात् सर्वदुःखों के बीज क्लेश, कर्म (कर्माशय), विपाक (जाति-आयु-भोग) तथा वासनारूप संस्कार ही तो अशुद्धि के रूप हैं। वैराग्य के कारण दोषों के बीजों का सर्वथा क्षय हो जाता है।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्॥ (योगसूत्र- ३.५५)

जितना पुरुष शुद्ध है, उतनी ही बुद्धि शुद्ध हो जाने पर कैवल्य होता है।

जब रजोगुण और तमोगुण रूपी मल से रहित बुद्धि पुरुष की अन्यताख्यातिमात्र में प्रतिष्ठित और दग्धक्लेशबीज हो जाती है, तब वह पुरुष की शुद्धि की समता-सी प्राप्त कर लेती है। यहाँ विचारणीय है— 'बुद्धि' और 'पुरुष' दोनों की शुद्धि का स्वरूप क्या है? इसे ऐसा समझ सकते हैं— पुरुष की शुद्धि का स्वरूप है 'उपचरित भोगों का अभाव' और बुद्धि की शुद्धि का स्वरूप है 'पुरुष' की बुद्धि से भिन्नता की ख्याति के रूप का होना'। इस बुद्धिशुद्धि और पुरुषशुद्धि के समान रूप से शुद्ध हो जाने पर कैवल्य होता है।

यहाँ व्यासभाष्य में कहा है—

यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्याऽन्यताप्रत्ययमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति।

तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति। तदा पुरुषस्योपचरितभोगा-भावः शुद्धिः।

परमार्थतस्तु ज्ञानादर्शनं निवर्तते। तस्मिन्नवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः। क्लेशाभावात् कर्मविपाकाभावः।

चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य दृश्यत्वेन पुनरुपतिष्ठन्ते। तत् पुरुषस्य कैवल्यम्। तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवति।

अर्थात् परमार्थतः तो ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होता है और उसके निवृत्त हो जाने पर अविद्या पर आश्रित उत्तरवर्ती अस्मितादि क्लेश नहीं उत्पन्न होते। क्लेशों के न होने से कर्मफलों का अभाव होता है। इस अवस्था में कृतकृत्य गुण, पुरुष के 'दृश्य' रूप में फिर नहीं उपस्थित होते। वह पुरुष का कैवल्य है, उस समय पुरुष स्वरूपमात्र प्रकाश निर्मल एवं केवली हो जाता है।

अशुद्धि के विषय में एक और योगसूत्र प्रस्तुत करते हैं—

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्॥

(योगसूत्र- ४.३१)

उस समय सभी क्लेशकर्मावरणों से रहित ज्ञान का अनन्त विस्तार हो जाता है। आच्छादित करने वाले तमो गुण से अभिभूत या ढका हुआ चित्त सत्त्व, रजोगुण के द्वारा कहीं (एक देश में) सक्रिय या अनावृत (उद्घाटित) होकर ज्ञेय का ज्ञान करने में समर्थ होता है। वही चित्त जब सभी आवरण मलों से रहित तथा निर्मल हो जाता है तब उसकी अनन्तता होती है। ज्ञान की अनन्तता के कारण ज्ञेय बिल्कुल स्वल्प हो जाता है। जैसे विस्तृत आकाश में खद्योत स्वल्प-सा दिखायी पड़ता है।

आहार एवं आचरण आदि का शोधन

मनुस्मृति में देहशुद्धि, अर्थशुद्धि, आचारशुद्धि, द्रव्यशुद्धि व आहारशुद्धि को लेकर पाँचवे अध्याय में एक प्रकरण चलाया है— भगवान् मनु ऐसा देखते हैं कि द्विजातियों के लिये कुछ पदार्थ भक्ष्य होते हैं और कुछ अभक्ष्य। भक्ष्य=शुद्धिकारक, अभक्ष्य=अशुद्धिकारक।

जैसे— लशुनं गृज्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।

अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च॥ (मनु० ५.५)

लहसुन, गृज्जन (एकपोथिया लहसुन), प्याज, कवक (मशरूम) और अशुद्ध स्थान में उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ द्विजातियों के लिये अभक्ष्य है।

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा।

आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः॥ (मनु० ५.८)

ताजा ब्याई हुई गौ का पहले दश दिन का दूध, ऊँटनी का दूध तथा घोड़ी आदि का, भेड़ का सांड के संसर्ग को चाहने वाली गौ का दूध और जिसका बछड़ा व बछिया मर गई हो उस गौ के दूध को भी छोड़ दे।

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना।

स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि॥ (मनु० ५.९)

भैंस के दूध को छोड़कर सब जंगली पशुओं का दूध और स्त्री का दूध वर्जित हैं तथा सब प्रकार के खट्टे पदार्थ भी वर्जित हैं।

दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम्।

यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः॥ (मनु० ५.१०)

खट्टे पदार्थों में दही और दही से बनने वाले सभी छाछ, मक्खन आदि पदार्थ खाने योग्य हैं। और जितने पदार्थ हितकारक या गुणकारक फूल, मूल, फलों से तैय्यार किये जाते हैं, वे भी खाने योग्य हैं।

यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं भोज्यं भोज्यमगर्हितम्।

यत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत्॥ (मनु० ५.२४)

दोष रहित या अनिन्दित अर्थात् निन्दित मांस आदि भोजन (द्र० मनु० ५.४५-४९, ५१) से रहित और जो कोई खाने की वस्तु चिकनाई अर्थात् घृत

आदि से मिलाकर बनाई गयी हो, वह बासी भी खा लेनी चाहिये तथा जो यज्ञ की हवि से बची खाद्य वस्तु हो वह भी खा लेनी चाहिये।

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः।

यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया॥ (मनु० ५.२५)

द्विजातियों को जौ और गेहूँ से बने पदार्थ तथा दूध के विकार से बने खोया, मिठाई आदि पदार्थ, घृत आदि चिकनी वस्तु के मेल से न बने हों तो भी देर से बने हुये भी खा लेने चाहिए।

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।

स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते॥ (मनु० ५.४५)

जो व्यक्ति अपने सुख की इच्छा से कभी न मारने योग्य प्राणियों की हत्या करता है वह जीते हुए और मरकर भी कहीं भी सुख को प्राप्त नहीं करता।

यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति।

स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते॥ (मनु० ५.४६)

जो व्यक्ति प्राणियों को बन्धन में डालने, वध करने, उनको पीड़ा पहुँचाने की इच्छा नहीं करता, वह सब प्राणियों का हितैषी बहुत अधिक सुख को प्राप्त करता है।

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।

तदवाप्नोत्यत्यन्तेन यो हिनस्ति न किञ्चन॥ (मनु० ५.४७)

जो व्यक्ति किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता वह जिसका ध्यान करता है, जिस काम को हाथ में लेता है और जहाँ धैर्ययुक्त होकर मन को लगाता है उसको सुगमता से प्राप्त कर लेता है।

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।

न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥ (मनु० ५.४८)

प्राणियों की हिंसा किये बिना कभी मांस प्राप्त नहीं होता और जीवों की हत्या करना सुखदायक नहीं है इस कारण मांस नहीं खाना चाहिये।

समुत्पत्तिं च मांसस्य बधबन्धौ च देहिनाम्।

प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥ (मनु० ५.४९)

मांस की प्राप्ति, पकाने में प्राणियों के वध- बन्धन आदि क्लेशों को देखते हुए मांसभक्षण से दूर रहें।

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।

संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ (मनु० ५.५१)

मारने की आज्ञा देने वाला, मांस को काटने वाला, पशु को मारने वाला, पशुओं को मारने के लिये मोल लेने और बेचने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला, और खाने वाला- ये सब हत्यारे और पापी हैं।

मनुस्मृति में शुद्धिकारक पदार्थों की गणना करते हुए कहा-

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम् ।

वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम् ॥ (मनु० ५.१०५)

ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मिट्टी, मन, जल, लेप करना, वायु, कर्म, सूर्य और काल ये प्राणियों की शुद्धि करने वाले- ये बारह पदार्थ हैं।

ज्ञान का अर्थ है ब्रह्मज्ञान, वह बुद्धिरूप अन्तःकरण की शुद्धि का साधन है। जैसे मनु ने स्वयं कहा है- **बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति** (५.१०९)।

तप शुद्धि का साधन है, कहा है- **तपसा वेदवित्तमा**। (मनु० ५.१०७)

आहार के लिये कहा है- **हविष्येण यवाग्वा** (११.१०६)

विशेष आहार व्यक्ति के मन व तन को शुद्ध कर देता है। मन के लिए कहा है- **मनःपूतं समाचरेत्** (६.१४६) सभी शिवसंकल्प मन से ही किये जाते हैं, अतः वह शुद्धि का साधन है।

अग्नि, मिट्टी, जल, उपाञ्जन=अनुलेपन, वायु, सूर्य सब शुद्धि के साधन हैं। काल भी शुद्धि का साधन है *Time is a good healer* सुकर्म मनुष्य को शुद्ध कर देते हैं, किन्तु दुष्कर्म अशुद्ध।

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।

योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥ (मनु० ५.१०६)

जो धर्म ही से पदार्थों का सञ्चय करना है, वही सब पवित्रताओं में उत्तम पवित्रता अर्थात् जो अन्याय से किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता, वही पवित्र है किन्तु जल, मृत्तिका आदि से जो पवित्रता होती है वह धर्म के सदृश उत्तम नहीं होती। कोई व्यक्ति अन्यायपूर्वक धन कमाये और बाहर से बहुत शुद्ध रहे, घर को साफ-सुथरा रखे, उससे क्या बनना है।

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ।

प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ (मनु० ५.१०७)

विद्वान् लोग क्षमा से, दुष्टकर्मकारी सत्संग और विद्यादि शुभगुणों के दान से, गुप्त पाप करने वाले विचार से त्याग कर और ब्रह्मचर्य तथा सत्यभाषणादि से वेदवित् उत्तम विद्वान् शुद्ध होते हैं।

अद्विर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।

विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥ (मनु० ५.१०९)

स्वेदादि युक्त शरीर जल से शुद्ध होते हैं। निषिद्धचिन्तनादि से दूषित हुआ मन सत्य से शुद्ध होता है। सूक्ष्मलिङ्गशरीरावच्छिन्न जीवात्मा विद्या (यथार्थ दृष्टि) और तप (योगाभ्यास और धर्माचरण) से शुद्ध होता है। विपर्ययज्ञान से उपहित बुद्धि सत्यज्ञान से शुद्ध होती है।

और भी- **इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत्,**

यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेषे अभिरुणम् ।

आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु ॥ (यजु० ६.१७)

भो सर्वविद्याव्यापक विद्वान् लोगो! जैसे जल शुद्धि करते हैं, वैसे आप मेरा जो अकथनीय निन्द्य कर्म और विकार तथा जो अविद्यारूपी मल है, इसको बहा दीजिये अर्थात् दूर कर दीजिये और जो मैं झूठ-मूठ किसी से द्रोह करूँ और जो निर्भय निरपराधी पुरुष को उलाहने देता हूँ, उस उक्त पाप से मुझे अलग रखो, और जैसे पवित्र करने वाला व्यवहार मुझको पाप व्यवहार से अलग रखता है, वैसे अन्य मनुष्यों को भी रखे।

यद्देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम् ।

अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः ॥ (यजु० २०.१४)

हे विद्वन्! जो हम अध्यापक और उपदेशक विद्वान् तथा अन्य विद्वान् लोग परस्पर विद्वानों का अनादर करें, उस समस्त अपराध और दुष्ट व्यसन से पावक के समान सब विद्याओं में आप मुझ को पृथक् करो।

यदि दिवा यदि नक्तमेनांसि चकृमा वयम् ।

वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः ॥ (यजु० २०.१५)

हे विद्वन्! जो दिवस में, जो रात्रि में अज्ञात अपराधों को हम लोग करें, उस समग्र अपराध और दुष्ट व्यसन से वायु के समान वर्तमान आप्त स्वरूप आप मुझे पृथक् करें।

यदि जाग्रद्यदि स्वप्न एनांसि चकृमा वयम् ।

सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः ।। (यजु० २०.१६)

हे विद्वन्! जो जाग्रद् अवस्था और जो स्वप्नावस्था में अपराधों को हम करें, इस समग्र पाप और प्रमाद से सूर्य के समान वर्तमान आप मुझको पृथक् करें।

इन तीनों मन्त्रों में अग्नि, वायु और सूर्य का अर्थ सादृश्य लक्षणा में अग्निसदृश, वायुसदृश व सूर्यसदृश अर्थ किया। अभिधा में भी कह सकते हैं कि सृष्टि की शक्तिशाली देवशक्तियाँ मुझे बल प्रदान करें जिससे मैं पापभावों पर विजय प्राप्त करूँ। इससे अग्रिम मन्त्र में कहा—

यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये ।

यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधि

धर्मणि तस्यावयजनमसि ।। (यजु० २०.१७)

हे विद्वन्! हम लोग जो गाँव में, जो जङ्गल में, जो सभा में, जो मन में, जो शूद्र के विषय में, जो स्वामी या वैश्य के विषय में (अर्थः स्वामिवैश्ययोः । अ० ३.१.१०३) जो एक के ऊपर होकर उसके धर्म विषय में हस्तक्षेप करते हैं तथा जो और कोई अपराध करते हैं या करने वाले हैं, उस सब के आप छुड़ाने के समान हैं, इसी से महान् हैं।

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः ।

पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा ।

पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः ।

पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ।। (यजु० १९.३७)

ऐश्वर्य से युक्त या चन्द्रमा के तुल्य शान्त ज्ञान देने से पालक पितर लोग शुद्ध सौ वर्ष की आयु से मुझ को पवित्र करें। चन्द्रवत् अति शीतल स्वभाव वाले पितामह, प्रपितामह भी सौ वर्ष पर्यन्त शुद्ध जीवन से मुझे पवित्र करें।

शुद्धि को लेकर छान्दोग्य का एक प्रसिद्ध वचन है— ‘आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।’ अर्थात् जो कुछ भी इन्द्रियों (मन तथा ज्ञानेन्द्रियों) के माध्यम से बुद्धि या आत्मा में पहुँचता है वही व्यक्ति को संसारी या मुक्त बनाने में निमित्त बनता है। यदि अशुद्ध आहार जा रहा है तो व्यक्ति

‘संसारी’ बन जायेगा और शुद्ध जा रहा है तो ‘मुक्त’ हो जायेगा। राग-द्वेष से युक्त होकर जो कुछ भी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाता है, वह अशुद्ध हो जाता है।

अतः साधक के पुरुषार्थ का क्षेत्र यही है कि राग-द्वेष जो कि प्रत्येक इन्द्रिय में अनुप्रविष्ट हैं, विषयों को ग्रहण करते समय उनको बीच में न आने दिया जाए। गीता में भगवान् ने चेतावनी दी—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्नवशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।। (गीता- ३.३४)

किसी व्यक्ति को कब आत्मसाक्षात्कार होगा, वह व्यक्ति के हाथ में नहीं है अर्थात् यह बात मनुष्य के पुरुषार्थ की पहुँच से बाहर है यह तो भगवान् की कृपा के अधीन है, सत्य, भगवान्, परमशान्ति, मुक्ति, स्वराज्य अथवा जो कुछ कहें, यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसके ऊपर धावा बोलकर या आक्रमण करके कोई प्राप्त कर सके। अर्थात् व्यक्ति जहाँ खड़ा है, वहाँ से चलकर सत्य के पास नहीं पहुँचता बल्कि वहीं सत्य के आगमन के लिए या सत्य के उद्घाटन अथवा प्रकट होने के लिए ऐसी परिस्थिति तैय्यार करता है कि सत्य उसके पास आ जाता है। इसी को कह दिया है भगवत् प्राप्ति उसकी कृपा के अधीन है (अञ्जसासत्यमुपगेषम्)। हाँ! कोई भी साधक इस विषय में पूर्ण स्वाधीन है कि यदि वह चाहे तो अपने राग-द्वेष को देखते हुये उसे नियन्त्रित कर सकता है। साधक के द्वारा ईमानदारी के साथ अपना कर्तव्य पूरा कर दिये जाने पर भगवान् की कृपा तो सुनिश्चित है। साधक को जो करना है वह तो करे नहीं और ऊपर से शिकायत करता रहे या बाट जोहता रहे कि मैं तो बहुत सारे शुभ कर्म कर रहा हूँ, दान देता हूँ, निर्बलों की सहायता करता हूँ, ध्यान आदि भी करता हूँ, तपस्या करता हूँ, फिर भी मेरे ऊपर भगवान् की कृपा नहीं हो रही, पता नहीं मैं तो कब उनकी कृपा का पात्र बनूँगा, तो इस विषय में यही कहना होगा कि उत्तम कर्मों का अपना अलग फल है। साधक के लिए तो करने की मूल बात एक ही है ‘इन्द्रिय-इन्द्रिय में उठते हुए राग-द्वेष को देख पाना और उनके वश में न आना’। यह हो जाता है तो अन्य स्वतः होगा और इसमें पराधीनता भी नहीं है। केवल अखण्ड प्रचण्ड-पुरुषार्थ चाहिए।

जीवन के चार रूप

मछलियों के चार प्रकार अपने सामने रखकर हम जीवन को समझने का प्रयास कर रहे हैं। कुछ मछलियाँ ऐसी होती हैं जो जाल के नजदीक ही नहीं आती। वे इतनी कुशल इतनी बुद्धिमती होती हैं कि उन्हें ऐसा अन्तर्भास (Intuition) हो जाता है कि यहाँ नहीं जाना। वास्तव में मछली के सन्दर्भ में ऐसा होना कठिन है, पर समझने-समझाने के लिये एक कल्पना है। दूसरी वे होती हैं जो जाल में फँस तो जाती हैं पर फँसकर भी जाल से निकल जाती हैं। सम्भवतः ऐसा भी न होता हो पर जीवन को समझने के लिये कल्पना तो की ही जा सकती है, जैसे मानकर ही गणित के बड़े-बड़े सवालों को हल कर लिया जाता है। तीसरा एक प्रकार है— जो एक बार जाल में फँसी और बस फँस गयी, निराश होकर शक्ति लगाना ही छोड़ देती हैं, अर्थात् वे सोचने लगती हैं कि अब हम कुछ नहीं कर सकती। कुछ ऐसी भी मछलियाँ हो सकती हैं जो फँसी पड़ी हैं, परन्तु उन्हें यह अहसास ही नहीं होता कि हम फँस गई हैं, या फँसी हुई हैं, वे समझती रहती हैं कि हम तो आनन्द के अथाह सागर में तैर रही हैं।

जीवन भी कुछ ऐसा ही है— प्रथम कोटि के वे महापुरुष होते हैं, जो शरीर में तो हैं पर फिर भी माया से अछूते रहते हैं, ईश्वर की तरह ही माया के प्रभाव से मुक्त हैं, माया सदा उनकी दासी बनकर रहती है। दूसरे वे लोग हैं जिनके जीवन का प्रारम्भ तो माया की अधीनता में ही हुआ होता है किन्तु किसी करुणामय गुरु के प्रेमपात्र होकर या किसी दुःख के तीव्र प्रहार से जगकर, या धीरे-धीरे शास्त्रों पर विचार करते-करते उनके भीतर यह सामर्थ्य पैदा हो जाता है कि माया के दुर्भेद्य व दुश्छेद्य बन्धन को काट डालते हैं। तीसरे वे होते हैं जिनके भाग्य में लिखा होता है— रोना-धोना, अन्तहीन शिकायतें, बीच-बीच में विषयों का मधुर विषपान, नियति की मार के ऊपर मार, अथाह दुःख सागर, बस यही उनका संसार होता है इसके सिवाय उन्हें कुछ नहीं दिखायी देता। न उन्हें शास्त्र पर श्रद्धा होती है, और न ही उन्हें इस क्रूर संसार में प्रेम पूरित किसी

सहृदय गुरु के दर्शन होते हैं। सब जगह आपा-धापी, संघर्ष, स्पर्धा, मुख में राम बगल में छुरी यही सब उनकी दृष्टि में होता है। सत्यं-शिवं-सुन्दरं, शुभ, मङ्गल, कल्याण, अमृतत्व, चिरशान्ति, चिरविश्राम, स्वाधीनता, अप्रयत्न, सहजता, दुःखमुक्ति इन सब बड़े-बड़े शब्दों से कहे तथ्य या तो शशशृङ्गायित अथवा खपुष्पवत् दिखायी देते हैं या फिर योगशास्त्र की विकल्पवृत्ति के समान वस्तुहीन शब्दमात्र।

चौथे प्रकार के लोगों की तो क्या चर्चा करनी। उनकी तो ऐसी स्थिति होती है जैसे किसी का पैर कट जाये, लोहू-लुहान हो रहा है पर उसे कोई अहसास ही नहीं। इतने गहरे मोह में, अज्ञान में फँसे होते हैं, पर कभी यह महसूस नहीं करते कि हम भी मोह में हैं, बल्कि अपने को बड़ा ही बुद्धिमान् और विशेष समझते हैं। इस विश्लेषण को सामने रखकर हमें अपने-अपने लिये देखना है कि हम किस श्रेणी में आते हैं। अपने आकलन में पूरी ईमानदारी बरतनी चाहिये। पहले-दूसरे स्तर वालों से तो क्या कहना। तीसरे व चतुर्थ स्तर पर खड़े लोगों के लिये ही यह चर्चा है कि वे अपना-अपना ठीक अवलोकन करके अपनी स्थिति से बाहर निकलें और किसी तरह दूसरे स्तर पर पहुँचने का प्रयास करें। गुरु, शास्त्र, स्वविचार व दुःख इन चारों की ही अस्तित्व में मानव के उद्धार के लिये अद्भुत व्यवस्था है, यह सर्वथा प्रमाणित है।

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।

पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा।। (यजु० १९.३९)

१. हे प्रभो! मा= मुझे देवजनाः= देवजन दिव्यवृत्ति वाले लोग पुनन्तु= पवित्र करें। गत मन्त्र में कहा था कि 'आरे बाधस्व दुच्छुनाम्' दुष्ट कुत्तों के समान मनुष्यों को दूर ही नष्ट कीजिए। प्रस्तुत मन्त्र में दुःसंग से विपरीत सत्सङ्ग की प्रार्थना से आरम्भ करते हैं कि देव वृत्ति वाले लोगों के सङ्ग से हमारा जीवन पवित्र बने। २. मनसा = विचारपूर्वक किए जाने वाले धियः= कर्म पुनन्तु= हमारे जीवन को पवित्र करें। अविचारपूर्वक किए गए कर्म मनुष्य को मलिन कर देते हैं। ३. विश्वा भूतानि= सभी लोग हमारे जीवन को पवित्र करें। ४. जातवेदः= हे सर्वज्ञ प्रभो मा पुनीहि= आप मेरे जीवन को पवित्र कर दीजिए।

हृदयस्थ प्रभु मुझे अपने ज्ञान से दीप्त करके पवित्र कर डालते हैं।

पवित्रेण पुनीहि मा शुक्लेण देव दीद्यत्।

अग्ने क्रत्वा क्रतूरनु॥ (यजु० १९.४०)

१. गत मन्त्र में 'जातवेदः पुनीहि मा' यह प्रार्थना थी। उसी प्रार्थना को दूसरे शब्दों में करते हुए मन्त्र का आरम्भ करते हैं कि देव= ज्ञान की ज्योति से दीप्त होने वाले तथा पवित्र अन्तःकरणों को द्योतित करने वाले प्रभो! मा= मुझे पवित्रेण= पवित्रता के सर्वोत्तम साधनभूत ज्ञान से पुनीहि=पवित्र कीजिए। मेरा ज्ञान उत्तम होगा तो विचारों की उत्तमता के कारण उच्चारण व आचरण भी उत्तम होगा। २. हे दीद्यत्= तेजस्विता से दीप्त प्रभो! आप मुझे शुक्लेण= शुद्ध वीर्य पराक्रम से पुनीहि= पवित्र कीजिए। ३. हे अग्ने= सारे संसार को गति देने वाले प्रभो! क्रतून् अनु= यज्ञों को लक्ष्य करके क्रत्वा= संकल्प व क्रिया से मुझे पवित्र कीजिए। मेरे हृदय में सदा यज्ञात्मक कर्मों का ही संकल्प हो तथा उस संकल्प के अनुसार मैं उन यज्ञों के सम्पादन में प्रवृत्त रहूँ। ये यज्ञ ही उत्तम कर्म हैं। इनमें निरन्तर प्रवृत्त मैं अपने जीवन को अपवित्रता से बचा सकूँगा।

यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनातु मा॥

(यजु० १९.४१)

हे स्वप्रकाशस्वरूप जगदीश्वर! तेरे सत्कार करने योग्य शुद्ध तेजः स्वरूप में सब से भिन्न विस्तृत, सबमें व्याप्त शुद्धस्वरूप ब्रह्म=उत्तम वेदविद्या है, पवित्रताओं के साधनभूत उस उत्तमज्ञान से मुझ को आप पवित्र कीजिये।

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृणं बृहस्पतिर्मे तद्धातु।

शं नो भवतु भुवनस्य यस्यतिः॥ (यजु० ३६.२)

जो मेरा आँख का, हृदय का, या मन का बहुत फटा हुआ गहरा घाव है, बहुत त्रुटियुक्त दोष है। ज्ञान का स्वामी प्रभु मेरे उस छेद को भर दे।

संन्यासी संसार में कैसे रहे ?

कुछ प्रतीकों को सामने रखकर इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है। अतिथि, चींटी, नदी, पृथिवी, अप् तेज, वायु, आकाश, वैद्य, कमल, वृक्ष, धर्म, सूर्य, शिशु, हंस, चातक, मछली, कछुआ, समुद्र, बादल, सरोवर इत्यादि। आईये एक-एक पर विचार करते हैं-

१. अतिथि- अतिथि का किसी घर में आना वहाँ बसने के लिए नहीं होता बल्कि सुनिश्चित रूपेण वहाँ से प्रस्थान करने के लिए होता है, वह कुछ समय के लिए गृहजनों के साथ प्रेमपूर्वक मिलता है, उनसे कुछ सीखता है, समझता है और उन्हें सिखाता है अर्थात् ज्ञान का आदान-प्रदान करता है, अपनी उपस्थिति, अपनी वाणी, अपनी दृष्टि, अपने व्यवहार से उन्हें सुख देता है, उस घर से अपना कोई स्वार्थ नहीं रखता, घर की किसी भी वस्तु-व्यक्ति में जरा-सा भी राग या मोह नहीं रखता इसीलिए किसी के प्रति द्वेष भी नहीं होता, सभी गृहजनों को समभाव से देखता है इत्यादि उसकी विशेषाँ सहज रूप से देखी जा सकती हैं। बस, संन्यासी भी यदि इन्हीं विशेषताओं से युक्त होकर इसी तरह संसार में जीता है तो सचमुच उसका जीवन धन्य है।

२. चींटी- चींटी में दो विशेषताएँ विशेष रूप से देखी जा सकती हैं। एक तो वह सदा गतिशील रहती है, दूसरी दूर से ही उसे अपनी अभीप्सित वस्तु (कोई मीठी या चिकनी वस्तु) का आभास मिल जाता है। दोनों विशेषताओं को एक शब्द से ही मिलाकर भी कहा जा सकता है कि चींटी सदैव अपने अभिप्रेत विषय के प्रति गतिशील रहती है। बस, संन्यासी को भी भगवत्-प्राप्ति रूप अपने लक्ष्य के प्रति सदैव गतिशील रहना चाहिए। अपनी सभी गतिविधियों में, भीड़ में अर्थात् वाणी के प्रयोग में या मौन में, श्रमकाल में या विश्राम में प्रवृत्ति में या निवृत्ति में गति में या स्थिति में एक शब्द में कहें तो कर्मयोग में या कर्मसंन्यास में संन्यासी को पूरी ईमानदारी के साथ भगवान् की खोज को सामने रखकर चलते रहना चाहिए- चरैवेति, चरैवेति।

३. नदी- नदी की विशेषता है- अपने लक्ष्य की ओर सतत प्रवाह। बाधाओं को चीरती हुई, पहाड़ जैसी बाधाओं के आने पर बाह्य रूप से देखने

में तो विश्राम करती हुई-सी, किन्तु वहाँ भी अन्दर ही अन्दर शक्ति संचय करती हुई, कहीं न कहीं से रास्ता खोजती हुई अपने सागर रूप इष्टदेव से मिलने के लिए सदा तत्पर रहती है, जब तक अन्तिम गन्तव्य नहीं मिल जाता सतत प्रवहमान रहती है। संन्यासी को भी इसी प्रकार कर्म में और कर्म-प्रवाह से निवृत्ति की स्थिति में अर्थात् प्रवृत्ति या निवृत्ति में भगवान् की ओर बढ़ते रहना चाहिए। नदी की तरह ही बाधाओं में भी अपना रास्ता खोजते हुए बिना हताश-निराश हुए लगे रहना चाहिए। नदी अपने कर्म के द्वारा संन्यासी को यह भी एक विशिष्ट दृष्टि प्रदान कर उसे अपार उत्साह देती है कि बाधाओं को पार करते ही पहले से कई गुणा वेग बढ़ जाता है। नदी का एक और भी विशेष गुण है जो संन्यासी के लिए प्रेरणा बन सकता है। नदी जो भी उसके समीप आता है सभी को अपना आश्रय-प्रश्रय प्रदान करती है। वह नहीं देखती कि यह चोर है, हत्यारा है, व्यभिचारी है, इसे शीतल जल के रूप में मैं अपना प्रेम प्रदान नहीं करूँगी बल्कि निष्पक्ष होकर सभी को अपना आशीर्वाद देती रहती है। इसी प्रकार संन्यासी के पास भी जो भी ऊँचे-नीचे, अच्छे-बुरे, सदाचारी-दुराचारी उपस्थित हों, उन्हें समभाव से अपना प्रेम-प्रदान करते रहना चाहिए।

४. पृथिवी- पृथिवी का विशिष्ट गुण है- 'सहन करना'। निघण्टु (वैदिक शब्दकोष) में पृथिवी के पर्यायवाची २१ शब्द गिनाए हैं, उनमें एक शब्द 'क्षमा' भी है। पृथिवी को कितनी गन्दगी सहनी पड़ती है, इसकी कल्पना मात्र व्यक्ति में सिहरन पैदा कर देती है, किन्तु पृथिवी उसे भी खाद में बदल देती है, उसको भी उपयोगी बना देती है। संन्यासी भी संसार से मिलने वाली प्रतिकूलताओं को, कष्टों को, अपमान को सहन करता हुआ अपने को और भी अधिक सशक्त बना लेता है और संसार के लिए उपयोगी हो जाता है। पृथिवी सदैव व्यवस्थित रूप में सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती रहती है। कभी अपने काम में प्रमाद नहीं करती, संन्यासी को भी ब्रह्म के चारों ओर परिक्रमा करते रहना चाहिए।

५. अप् (जल)- जल में विशेष गुण हैं- पवित्रता, शीतलता और स्वाभाविक प्रवाह नीचे की तरफ होते हुए भी निमित्त विशेष से ऊपर भी उठ जाता है। संन्यासी को भी जल की तरह अपने जीवन में, अपनी बुद्धि में,

अपनी वाणी में, अपने मन व इन्द्रियों में पवित्रता बनाए रखनी चाहिए। शतपथ ब्राह्मण में कहा है-

अन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ्निष्ठन्नप उपस्पृशति तद्यदप उपस्पृशत्यमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वाऽआपो मेध्यो भूत्वा व्रतमुपयानीति पवित्रं वाऽआपः पवित्रपूतो व्रतमुपयानीति तस्याद्वाऽअप उपस्पृशति। (शत०- १.१.१)

अर्थात् दर्श, पूर्णमास इष्टि करने का व्रत करने वाला मनुष्य आहवनीय और गार्हपत्य अग्नियों के बीच पूर्वाभिमुख खड़ा होकर जल का स्पर्श करता है। जल क्यों छूता है? इसलिए कि मनुष्य अपवित्र है जो कि वह झूठ बोलता है। जल के स्पर्श से उसकी शुद्धि हो जाती है। जल वस्तुतः पवित्र है। प्रयोजन यह है कि पवित्र होकर व्रत करूँ। जल वस्तुतः पवित्र है, 'पवित्र के द्वारा पवित्र होकर मैं व्रत करूँ' ऐसा सोचता है। इसीलिए जल का स्पर्श करता है।

'जल पवित्रता का प्रतीक है' अपनी इस बात को सिद्ध करने के लिए हमने यह प्रमाण दिया है। दूसरी बात है, जल शीतल है, संन्यासी को भी सदा सर्वदा अपने मन-बुद्धि-इन्द्रियों को शीतल रखना चाहिए और एक बात, किसी निमित्तविशेष से अर्थात् अग्नि के सम्पर्क से जल में उष्णता आ जाती है। अतः संन्यासी को इस बात से सावधान रहना चाहिए कि संन्यासी के शरीर में जो रेतस् रूपी जल हैं, उनमें काम व क्रोध की अग्नि से कभी भी उष्णता न आए। वे जल सदा शान्त बने रहें अर्थात् संन्यासी काम व क्रोध के निमित्तों से अपने को बचाता रहे। तीसरी बात जो जल के साथ जुड़ी हुई दिखाई देती है, वह यह कि जल निमित्तविशेष को पाकर ऊपर उठ जाते हैं, अन्यथा तो नीचे की तरफ ही बहते हैं, संन्यासी को अपनी निम्न प्रकृति से उच्च प्रकृति में आरोहण करने के लिए सतत प्रयत्नशील होना चाहिए। निम्न प्रकृति जड़स्वरूप होती है और उच्च प्रकृति चिन्मयस्वरूप है। दोनों ही भगवान् की प्रकृतियाँ हैं, सो भाव यही है कि भगवान् का, सत्संग का, सच्चर्चा का, अपनी माँग या अभीप्सा का, सद्विचार का, अपने आत्मबल का सहारा लेकर जैसे जल विद्युत् की सहायता से या सूर्य-किरणों के स्पर्श से ऊपर पहुँच जाता है, वैसे ही संन्यासी जड़भूत अपनी निम्न प्रकृति से चिन्मयस्वरूप अपनी उच्च प्रकृति में आरोहण करे।

६. तेज- तेज अग्नि का ही दूसरा नाम है। अग्नि के प्रमुख दो गुण हैं- उष्णता व प्रकाश। शतपथ ब्राह्मण में कहा है-

सोऽग्निमेवाभीक्ष्माणो व्रतमुपैति। अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामित्यग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तस्माऽएवैतत् प्राह व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामिति नात्र तिरोहितमिवास्ति।

(शत०- १.१.२)

अर्थात् आहवनीय अग्नि की ओर देखकर यह व्रत करता है। 'अग्ने व्रतपते' (यजु०- १.५) इस मन्त्र से- 'हे व्रत के पालक अग्नि, मैं व्रत करना चाहता हूँ। मैं व्रत का पालन कर सकूँ। मैं इस योग्य हो जाऊँ। अग्नि देवों का व्रतपति है। इसीलिए अग्नि को सम्बोधन करके कहता है कि मैं व्रत करना चाहता हूँ। मैं व्रत का पालन कर सकूँ। मैं इस योग्य हो जाऊँ कि सदैव अनृत से सत्य की ओर बढ़ता रहूँ।

यहाँ अग्नि को व्रतपति कहा है। संन्यासी को भी अपने गृहीत संकल्प को पूरा करने के लिए अग्नि की तरह कटिबद्ध रहना चाहिए। 'अग्निर्वै देवानां मुखम्' अग्नि देवताओं का मुख है। मुख में डाली आहुति सभी देवताओं को मिल जाती है। अग्नि को देवों का आह्वान करने वाला भी कहा है (ह्वाता देवानाम्)। संन्यासी को भी अग्नि की तरह देवों का मुख बनकर जीना चाहिए तथा सतत देवों का आह्वान करते रहना चाहिए। संन्यासी में, भगवान् जो कि सभी देवों का समुच्चय है, उस भगवान् को पाने की आग धधकती रहनी चाहिए और अग्निवत् उसे प्रकाशपुञ्ज (ज्ञानस्वरूप) बनकर जीना चाहिए तथा अग्नि जैसे अशुद्धि को जला डालती है, वैसे ही संन्यासी को भी अपनी अशुद्धि तथा तज्जन्य दुःखों को जला डालने वाला होना चाहिए।

७. वायु- वायु की विशेषता है कि वह सदा प्रवहमान रहता है, बल का भण्डार है। उसके रास्ते को कोई रोक नहीं सकता। संन्यासी को भी वायु की तरह अपार ईश्वरीय बल को धारण करके इस संसार में विचरण करना चाहिए। असत्य के साथ कोई समझौता नहीं, जीवन में सत्य, कर्म में सत्य, वाणी में सत्य, विचार में सत्य, भाव में सत्य। सत्य का बल ही संन्यासी को वायु जैसा बलिष्ठ बना देता है। जो जिधर से चलता है, उधर ही असत्य के

किलों को तोड़ता हुआ सब कुछ को अपने साथ बहाकर ले जाता है। गीता में कहा गया कि सब जगह विचरने वाला परिमाण में अति महान् वायु सदा आकाश में ही स्थित है, वैसे ही आकाश के समान सर्वत्र परिपूर्ण मुझ परमात्मा में समस्त भूत निर्लिप्त भाव से स्थित हैं।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ (गीता- ९.६)

८. आकाश- आकाश व्यापक है और निर्लिप्त है। गीता में कहा गया है-

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।

सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ (गीता- १३.३२)

जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त हुआ भी सूक्ष्म होने के कारण किसी भी पदार्थ के साथ लिप्त नहीं होता- सम्बन्धयुक्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा भी शरीर में सर्वत्र स्थित रहता हुआ भी उसके गुण-दोषों से लिप्त नहीं होता। संन्यासी को भी समस्त प्रपञ्च के बीच में रहते हुए आकाश की तरह निर्लिप्त रहना चाहिए।

९. वैद्य- यह एक सुन्दर प्रतीक है। वैद्य की यह विशेषता होती है कि वह इस रोगी संसार में चाहे वे रोग कितने भी प्रकार के हों, उन रोगों से तो घृणा करता है, उनको नष्ट करने के लिए तत्पर भी रहता है, किन्तु रोगियों से तो प्यार ही करता है और उन विविध रोगियों के बीच में रहते हुए भी स्वयं को कैसे उन-उन रोगों के प्रभाव से मुक्त रखा जाए इस युक्ति को भी ठीक से जानता है; क्योंकि अधिकतर रोग सम्पर्क में आने वाले स्वस्थ जनों को भी रोगी बना देते हैं। जैसे देखा गया कि कोई एक ऊँची आवाज में बोलता है, उसको सुनने वाला भी वैसे ही लहजे में प्रत्युत्तर देने लगता है। कामी को देखकर दूसरा व्यक्ति भी कामी हो जाता है, क्रोधी को देखकर क्रोधी और लोभी को देखकर लोभी, ईर्ष्यालु को देखकर ईर्ष्यालु, अहंकारी के सम्पर्क से दूसरा भी अहंकारी हो जाता है, इस सूची को कितना भी फैलाकर देख सकते हैं। शारीरिक या मानसिक दोनों ही तरह के रोगों की यही स्थिति है।

एक संन्यासी उत्तम वैद्य की तरह इस आपा-धापी से परिपूर्ण संसार में इस संघर्ष व स्पर्धा से भरे हुए जगत् में, इस दुःख-कष्ट व विविध बाधाओं से चीत्कार मचाते हुए, चिल्लाते रोते-बिलखते दीन-दुःखियों के बीच में, अहंकार

और उसकी विनाशकारी प्रवृत्तियों के मध्य में, इस राग-द्वेष-ईर्ष्या-मद-मान-मोह से लबालब भरी दुनिया में, इस ऐसे संसार में जहाँ चिन्ता-शोक-असुरक्षा धक्कम-धक्का, बेचैनी, मिश्रित सुख, अशान्ति, भोगोन्माद, कामोन्माद, लाभोन्माद सतह पर रहता है, जहाँ लोग पद-पदार्थ से, सामान की बहुतायत से, उल्टी-सीधी विविध क्रियाओं से ही एकमात्र सुखी होने का तरीका जानते हैं, जहाँ कुशल लोग अपनी विविध इच्छाओं की पूर्ति के लिए या तो शोषण करते हैं या कुछ होशियार लोग दूसरों का अपने काम के लिए प्रयोग करते हैं, जहाँ धर्मान्ध लोग हिंसा को भी स्वर्ग या जन्नत प्राप्त करने का साधन समझते हैं, जहाँ वस्तु-संचय और धन के आधार पर ही व्यक्ति का मूल्यांकन किया जाता है, जहाँ त्रिविध एषणाओं की पूर्ति से जीवन को धन्य माना जाता है, जहाँ सत्ता में हाथ होना और उससे भी आगे सत्ता हाथ में होना, सत्ता पर आरुढ़ होना जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि मानी जाती है, जहाँ त्याग-तपस्या की बजाय किसी हुनर, किसी योग्यता के आधार पर चाहे वह हाथ की है या मस्तिष्क की या वाणी की, व्यक्ति का बड़प्पन आँका जाता है, ऐसी विचित्र दुनिया में एक संन्यासी को वैसे ही अपनी भूमिका अदा करनी होती है, जैसे कि सन्निपात व उन्मादरोग से पीड़ित पागल रोगियों के बीच में किसी डॉक्टर या वैद्य को अपनी ड्यूटी करनी होती है।

१०. कमल- कमल निर्लिप्तता का प्रतीक है, जल के बीच में रहकर भी वह जल से अस्पृष्ट रहता है-

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा । (गीता- ५.१०)

एक संन्यासी को भी रोग-शोक-मोह से भरे कीचड़ रूप संसार में रहते हुए भी अलिप्त जीवन जीने की कला सीखनी होती है। ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान ही वह कला है, जो संन्यासी को सभी विकृतियों से बचाकर रखती है। श्रीअरविन्द का अपने लिए चुना हुआ प्रतीक यही है।

११. वृक्ष- वृक्ष सहिष्णुता व त्याग का प्रतीक है। धूप-सर्दी-गर्मी-वर्षा-ओले आदि की हर अवस्था में हरा-भरा रहता है। संन्यासी को भी प्रतिकूलताओं, अपमान, उपेक्षा के बीच भी खुश रहना चाहिए और संसार दावानल से झुलस कर निकट आने वाले दुःखी लोगों को अपनी तपोमयी

शीतल छाया प्रदान कर अपनी स्निग्ध, पवित्र व शान्त दृष्टि से उनको राहत देने वाला होना चाहिए। चैतन्य महाप्रभु ने 'वृक्षादपि सहिष्णुना' कहकर सहिष्णुता को भगवद्भक्ति व भगवददर्शन का साधन बताया है।

१२. धर्म- धर्म का विग्रह सुखदाता के रूप में कल्पित है। चाणक्य सूत्रों में पहला ही सूत्र है- '**सुखस्य मूलं धर्मः**।' मनुष्य के द्वारा प्राप्तव्य चार पुरुषार्थों में से एक यह पुरुषार्थ है। अर्थ और काम तभी 'अर्थ व काम' इस नाम से कहे जाते हैं, जब वे धर्म से संयुक्त होते हुए प्राप्त किए जाते हैं, अन्यथा उनका नाम अनर्थ व दुष्टकाम या कुकाम पड़ जाता है। धर्म के बिना वैभव, धन, साधनों की बहुतायत या कोई भी कामना-पूर्ति सुख नहीं दे सकती। संन्यासी को भी धर्म की तरह इस दुःखी संसार को सुख देने वाला होना चाहिए।

१३. सूर्य- सूर्य प्रकाश का प्रतीक है, इतना प्रकाश है कि जिसे अन्धेरे का बोध ही नहीं। अज्ञान के कारण ही माया ने जीव को बाँधा हुआ है। जहाँ अज्ञान नहीं अर्थात् अन्धकार नहीं, वहाँ बन्धन भी नहीं। संन्यासी को सूर्य के समान सदा आलोकमय रहना चाहिए। वेदों में कल्याण पथ पर चलने के लिए सूर्य व चन्द्र की उपमा दी गई कि हम सदा स्वस्ति पथ पर वैसे ही चलते रहें जैसे सूर्य व चन्द्रमा कभी भी न प्रमाद करते हैं, न विश्राम। ३६५ दिन अपनी उसी एक ही गति में चलते रहते हैं, कभी ऊबते नहीं। वैसे ही संन्यासी को भी अपनी जीवनचर्या सूर्य व चन्द्र की तरह एकरस व सरस बनाकर रखनी चाहिए। **स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव** (ऋ०- ५.५१.१५) सूर्य का एक और अनुकरणीय गुण है कि वह अपने पूरे सौर परिवार को लेकर किसी अपने से बड़े सूर्य के चारों ओर चक्कर लगा रहा है। संन्यासी को भी सब मनुष्यों को साथ लेकर परम आत्मा रूपी सूर्य की परिक्रमा करते रहना चाहिए।

१४. चन्द्र- चन्द्रमा आह्लाद का प्रतीक है। वेदों में कहा गया है कि परमात्मा के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई और आँख से सूर्य की। **चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽजायत ।** (यजु०- ३१.१२) चन्द्रमा के तेज को शान्ततेज शब्द से कहा जाता है। परमात्मा में जब मातृत्व को प्रमुखता से

देखते हैं तो उसके शान्त तेज को ही स्मरण करते हैं। (नमः शान्ताय तेजसे)। ओषधियों में जो विशिष्ट गुणों का आधान होता है, उसमें चन्द्रमा की ही अहं भूमिका मानी जाती है। संन्यासी को चन्द्रमा से सदा प्रसन्न रहने की कला सीखनी चाहिए। **श्री स्वामी रामेदव जी महाराज** में अन्य गुणों के साथ यह गुण भी मुखरित हुआ देखा जा सकता है। 'मैं प्रसन्न रहूँगा' ऐसा केवल विचार करने से प्रसन्नता नहीं आती, यह तो हमारे पूरे जीवन का जो हम प्रातः से सायंकाल तक जीते हैं, उसका प्रतिबिम्ब (Reflection) है।

१५. शिशु- शिशु समर्पण का प्रतीक है। शिशु का प्रकृतिप्रदत्त सहज स्वाभाविक समर्पण है। दूसरा शिशु सरलता का प्रतीक है। वह स्वाभाविक रूप से कुछ भी छुपाना नहीं जानता। यदि रो रहा है तो रो ही रहा है और यदि हँस रहा है तो हँस ही रहा है। अन्य कोई स्थिति नहीं है, जैसे कि बड़े लोग बाहर से हँस रहे होते हैं, किन्तु अन्दर तो रो रहे होते हैं। इसी को सरलता कहते हैं कि अन्दर-बाहर एकरूपता। इससे विपरीत कुटिलता कहलाती है कि अन्दर कुछ बाहर कुछ। संन्यासी को शिशु जैसा सरल व समर्पित होना चाहिए। एक ज्ञानी पुरुष की सूक्ति है- 'शिशु और सन्त को महामाया की रस्सी नहीं बांधती'।

१६. हंस- हंस की एक विशेषता काव्यशास्त्र में प्रसिद्ध है- कि वह नीरक्षीरविवेकी होता है। दूध और पानी मिले हुए हों तो दूध पी लेता है और पानी को छोड़ देता है। इसी प्रकार संन्यासी को भी आत्म व अनात्म (चिज्जड ग्रन्थि) को अलग-अलग करना है। इसीलिए संन्यासियों को परमहंस कहते हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थि को सुलझा दिया अर्थात् अनात्म से अपने आत्मा को जिन्होंने अलग कर लिया है। जैसा कि कठो०- २.३.१७) में कहा है-

तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुज्जादिवेषीकां धैर्येण।

जैसे मूँज से इषीका (सीक) को अलग कर देते हैं, वैसे ही धैर्यपूर्वक अपने शरीर से आत्मा को अलग कर दे।

१७. चातक- चातक एक पक्षी का नाम है, उसके लिए प्रसिद्ध है कि वह स्वाति नक्षत्र में जब वर्षा होती है तो ही अपनी प्यास बुझाता है। निम्न से सन्तुष्ट न होना यही चातक के व्यवहार से परिलक्षित होता है। संन्यासी को

भी चातक की तरह भागवत ज्ञान आनन्द को ही अपना अभीष्ट ध्येय चुनकर रखना चाहिए। इसके सिवा सब उसके लिए व्यर्थ है।

१८. मछली- मछली जल से बाहर होते ही तड़पने लगती है, दो-चार सेकण्ड में तो साँस ही तोड़ देती है। संन्यासी को भी चेतना के सागर से एक क्षण के लिए भी बाहर नहीं होना चाहिए। जड़ता में पहुँचते ही उसे घुटन महसूस होनी चाहिए।

१९. कछुआ- गीता में स्थितप्रज्ञ के प्रसङ्ग में कूर्म का दृष्टान्त दिया गया है कि कूर्म के ऊपर जैसे ही कोई बाह्य प्रहार होता है तो तुरन्त अपने भीतर चला जाता है। वैसे ही स्थिरप्रज्ञ संन्यासी के समक्ष जैसे ही संसार के विषय उपस्थित हों तो उसे अपने को सिमेटने की, अन्तर्मुख होने की, कला से परिचित होना चाहिए।

२०. समुद्र- संन्यासी को अपने भीतर बाह्य सागर के समान चेतना का एक अन्तहीन सागर अनुभव में आना चाहिए। प्रतीक चयन में प्रतीक के सभी गुणों को ग्रहण नहीं किया जाता, जैसे कि कोई कहे सागर तो खारा होता है, खारापन तो अभीष्ट होता नहीं। सो सागर की प्रतीयमान अनन्तता को ही यहाँ प्रतीक में ग्रहण किया गया है।

२१. बादल- बादल चलता रहता है और एक स्थान विशेष में जाकर बरस पड़ता है। संन्यासी को भी अपने ज्ञान जल को बादल की तरह ही लोगों के ऊपर उड़ेलते रहना चाहिए, जिससे उनका जीवन खुशहाल हो जाए।

२२. सरोवर- बादल से विपरीत प्रकृति का प्रतीक सरोवर या कूप है। संन्यासियों की दो प्रकार की प्रकृति देखी जाती है। कुछ बादल के समान होते हैं, दूसरे सरोवर की तरह। एक वे हैं- जो स्थिर होकर एक ही जगह बैठे रहते हैं, जिज्ञासु लोग आते हैं और अपनी समस्याएँ रखते हैं, समाधान पाकर आगे बढ़ जाते हैं। दूसरे वे हैं- जो संन्यासी रूपी बादल बनकर जिज्ञासुओं के पास पहुँचते हैं, जैसे सरोवर अथवा बादल (पर्जन्य) भौतिक प्यास बुझाता है उसी प्रकार संन्यासी लोगों की आध्यात्मिक प्यास बुझाने वाले होते हैं।

संन्यासी के लिए एक गम्भीर आदेश

संस्कार विधि के संन्यास प्रकरण में संन्यासी के कर्तव्याकर्तव्य नाम से एक प्रकरण रखा है, जिसमें कुछ वेद मन्त्र, मैत्रायणी उपनिषद् का एक मन्त्र तथा मनुस्मृति के दो श्लोक उद्धृत किए हैं। उनमें से एक श्लोक है—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेद् विषादिव ।

अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य हि सर्वदा ।।

महर्षि दयानन्द अपनी आर्ष प्रज्ञा का प्रयोग करते हुए श्लोक का अर्थ प्रस्तुत करते हैं— संन्यासी जगत् के सम्मान से विष के तुल्य डरता रहे और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे, क्योंकि जो अपमान से डरता और मान की इच्छा करता है, वह (मिथ्या) प्रशंसक होकर मिथ्यावादी और पतित हो जाता है। इसलिए चाहे निन्दा चाहे प्रशंसा, चाहे मान चाहे अपमान, चाहे जीना चाहे मृत्यु, चाहे हानि चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे चाहे वैर बाँधे, चाहे अन्न-पान, वस्त्र, उत्तम स्थान न मिले या मिले, चाहे शीत-उष्ण कितना ही क्यों न हो इत्यादि सबको सहन करे, अधर्म (असत्य) का खण्डन तथा धर्म (सत्य) का मण्डन सदा करता रहे। इससे परे उत्तम धर्म किसी को न माने।

अब देखना यह है कि मनु महाराज तथा श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती दोनों ही महान् पुरुषों ने ऐसा क्या देख लिया जो वे सम्मान से विष के तुल्य डरने की बात कर रहे हैं और अपमान की अमृत के समान इच्छा करने की सलाह दे रहे हैं। श्री स्वामी जी ने अपनी श्लोकव्याख्या में हेतु तो दे ही दिया है, उनका भाव स्पष्ट है। आईये! उसी हेतु पर थोड़ा और विचार करते हैं—

प्रत्येक व्यक्ति का मनुष्य शरीर के रूप में जो स्थूल रूप दिखाई दे रहा है। उस स्थूल शरीर के साथ उसका एक सूक्ष्म शरीर भी है, जो कि उसका अपना व्यक्तित्व है। जो खिलाड़ी (Sports men) या मॉडल्स होते हैं, सौन्दर्य स्पर्धाओं में जिन्हें भाग लेना होता है, उनका व्यक्तित्व स्थूल शरीर के साथ सम्बद्ध अधिक है, किन्तु वहाँ पर भी तो स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर के साथ घुला-मिला हुआ ही रहता है और उसी के आधार पर तो वे लोग अपने

को विशेष-अविशेष अनुभव करते हैं। 'मैं' ऐसा— मैं वैसा और अमुक-अमुक वस्तुओं, व्यक्तियों, पद-पदार्थों, शक्तियों, सामर्थ्यों का मैं मालिक, इतने लोगों के साथ मेरी प्रत्यक्ष और परोक्ष मुलाकात, पहचान, इतनी मेरी प्रतिष्ठा, यश-कीर्ति, इतना मेरे कार्य का विस्तार, इतने मेरे शत्रु-मित्र, इतने सहयोगी, इतने अनुयायी, पुत्र-पुत्रियाँ, भक्त या शिष्यगण यह सब कुछ व्यक्ति के व्यक्तित्व (Personality) में समाहित रहता है। अर्थात् कहीं यह व्यक्तित्व स्थूल शरीर और उसके बल-रूप-वर्ण आदि के आधार पर गठित होता है, कहीं पर पद-प्रतिष्ठा के आधार पर, कहीं सामर्थ्य के आधार पर, कहीं विद्या व गुणों के आधार पर, कहीं धन के आधार पर, कहीं भूखण्ड के आधार पर, कहीं राजनीतिक शक्ति के आधार पर, कहीं कार्य विशेष के आधार पर, जो कुछ भी व्यक्ति की पहचान का साधन होता है, वह सामान्य रूप में भी हो सकता है और विशेष रूप में भी, उन सब छोटे-बड़े सूत्रों के द्वारा व्यक्ति का ऊँचा-नीचा, अच्छा-बुरा, विशेष-अविशेष व्यक्तित्व निर्मित होता है।

व्यक्तित्व का स्वरूप, उसकी अवधारणा जब असंदिग्ध व निर्भ्रान्त रूप से स्पष्ट हो जाती है तो मनु महाराज के द्वारा प्रदत्त तथा स्वामी दयानन्द द्वारा अनुमोदित उस उपर्युक्त श्लोक का भाव ग्रहण करने में कोई असुविधा नहीं होगी। मैं ब्रह्मचारी हूँ, संन्यासी हूँ, ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण हूँ, सत्यनिष्ठ हूँ, साधक हूँ या साक्षाद् ब्रह्मस्वरूप हूँ, ये भी सब व्यक्तित्व के ही विविध रूप हैं, किन्तु ये ऐसे रूप हैं जो व्यक्ति को ससीम से असीम की ओर ले जाते हैं, प्रतीयमान या दृश्यमान व्यक्तित्व को एक अखण्ड अविनाशी जीवन में एक पूर्ण व अखण्ड चेतना में, एक पूर्ण आनन्द में ले जाकर विलय (Dissolve) कर देते हैं। व्यक्ति अपने सीमित व्यक्तित्व से हटकर अपने निर्वैयक्तिक (Impersonal) स्वरूप में पहुँच जाता है। यदि व्यक्ति अपने बाह्य स्वरूप से ही चिपका रहे अर्थात् अपने उस रूप से जो व्यक्ति को संसार में पूजा-प्रतिष्ठा-सम्मान, यश-कीर्ति, शक्ति (Power) सुख-सुविधाएँ, साधन-सम्पत्ति, वस्तुएँ, सामान या एक शब्द में कहें तो सांसारिक वैभव दिलाता है तो वह अपने उस निर्वैयक्तिक अखण्ड अविनाशी जीवन, अखण्ड चिन्मय जीवन, अखण्ड आनन्दमय जीवन अपने असीम जीवन को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता।

जरा सोचिये! व्यक्ति को असत्य क्यों बोलना पड़ता है, क्यों दिखावा करना पड़ता है अर्थात् जितना वह है नहीं, उससे बढ़ा-चढ़ा कर क्यों अपने को प्रदर्शित करना पड़ता है, क्यों वह किसी ठीक बात को भी स्वीकार ही नहीं विचार तक भी नहीं करना चाहता, जबकि उसकी अन्तरात्मा उसे भीतर से झकझोर रही होती है, क्यों वह किसी की झूठी प्रशंसा करता है? और यदि उसे पता चल जाए या भूलवश ही यह मान बैठे कि अमुक व्यक्ति अच्छा है, किन्तु अब मेरे काम का नहीं रहा या मेरा सहयोगी नहीं रहा या मेरे मत का नहीं रहा तो उससे क्यों सर्वथा उदासीन हो जाता है? जिस अच्छाई की उसने हजार बार प्रशंसा की थी, अब क्या हो गया। जिसकी कोई भी बात गलत नहीं लगती थी, अब ऐसा क्या हुआ कि ढेर सारी कमियाँ दिखाई देने लगी। इन सभी या इसी प्रकार के और भी प्रश्नों का या बातों का एक ही उत्तर है कि एक सर्वतन्त्रसिद्धान्त या सर्वमान्यसिद्धान्त है कि सामान्य रूप से (ज्ञानियों या योगियों को छोड़ दीजिए) **भोग की रुचि से अनुचित तथा पुण्य की रुचि से उचित कार्य होते हैं।** दूसरे की मिथ्या प्रशंसा इसीलिए करता है कि उससे दूसरा प्रभावित हो और वह भी बदले में उसकी प्रशंसा करे।

जब कभी किसी को दूसरे से मनचाहा प्रत्युत्तर नहीं मिलता तो उससे अपना हाथ वापस खींच लिया जाता है। होगा अच्छा व्यक्ति, किन्तु उससे मुझे क्या? संसार दशा में व्यक्ति किसी सत्य का प्रशंसक नहीं होता, अपने कार्य को केन्द्र में रखकर या अपने आपको, स्वयं को केन्द्र में रखकर विचार करता है कि मुझे इससे कितना कुछ मिलेगा, यश-कीर्ति, धन-सम्पत्ति, पद-प्रतिष्ठा, शक्ति तथा जो कार्य मैं कर रहा हूँ उसका विस्तार इत्यादि। एक प्रकार से दो पार्टियों का परस्पर आदान-प्रदान चलता है, जब तक एक-दूसरे के द्वारा एक-दूसरे की वृद्धि होती है, एक दूसरे को पोषण मिलता है, तो एक-दूसरे की प्रशंसा अबाधित रूप से चलती रहती है। दोनों ही पक्षों के पोषण का ध्येय पूर्ण रूप से लौकिक या भौतिक होता है, चाहे सुविधा के लिए या अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक आदि बड़े-बड़े शब्दों का भी प्रयोग क्यों न किया जा रहा हो।

ध्यान रहे! यह सारा चित्रण हमने स्वामी दयानन्द की उस सत्य वाणी को सामने रखकर किया है, जो कि उन्होंने मनु-वचन की व्याख्या करते हुए प्रस्तुत

की है कि- संन्यासी जगत् के सम्मान से विष के तुल्य डरता रहे और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे; क्योंकि जो अपमान से डरता है और मान की इच्छा करता है, वह प्रशंसक होकर मिथ्यावादी और पतित हो जाता है।

पर इसका अर्थ यह नहीं है कि स्वामी दयानन्द किसी की प्रशंसा करने के पक्ष में नहीं है। वे तो केवल संन्यासी को सीख दे रहे हैं कि सम्मान से डरे और अपमान की इच्छा करता रहे अर्थात् कोई मेरे प्रति उदासीन है या किसी के द्वारा कम सम्मान दिया गया तो इसे उसकी कृपा के रूप में ग्रहण करे।

संन्यासी अपने मन के समक्ष अपमान प्रसङ्गों को रखकर विचार कर सकता है कि यदि कोई मेरी उपेक्षा करता है, सभा मञ्च पर मुझे स्थान नहीं दिया जाता, वक्ताओं के द्वारा मेरा नाम उच्चारण नहीं किया जाता, विशेषकर जब कोई अत्यन्त सम्मानित व्यक्ति सभा में पधारे हों, मेरे साथियों का तो गुणगान किया जा रहा है और मेरा कहीं नाम ही नहीं आ रहा, साथ में ऐसे मौके पर मुझे बोलने के लिए भी समय नहीं दिया। किसी पुस्तक के लेखक ने सबको धन्यवाद दिया, पर मुझे छोड़ दिया। यदि कहीं पाँच-सात संन्यासी खड़े हैं, कोई एक व्यक्ति मुझको छोड़कर सभी को प्रणाम करके चला जाता है। मैं किन्हीं लोगों के बीच में जाता हूँ और मेरे पहुँचने पर सबके सब बैठे हुए ही मेरी तरफ देखते रहते हैं, कोई भी उठकर अभिवादन-सूचक शब्द नहीं बोल रहा कि आईये, बैठिए। मैं किसी दूसरे संन्यासी के आश्रम में जाता हूँ और वहाँ के महन्त मुझे नीचे ही बिठा देते हैं, कोई मुझे पानी तक नहीं पूछता है। कहीं किसी रेलवे स्टेशन आदि पर कोई बड़े अभद्र, रफ शब्दों का प्रयोग करता हुआ विशेष कारण के बिना ही मुझे डाँट रहा है। कोई मेरी मान्यता को और मुझे एक अज्ञानी के रूप में करार देता हुआ मेरे बारे में कहता है, इस व्यक्ति से अमुक विषय सीख लो, बाकी को छोड़ो। कोई मेरी दृष्टि को हीन मानकर मेरी अवहेलना करता है। कोई व्यक्ति मुझसे प्रेम न होने के कारण मेरे साथ बेरुखी का व्यवहार करता है, मुझे किसी भी प्रकार का गौरव नहीं देता। मुझसे ऐसा व्यवहार करता है, जैसे मैं कुछ हूँ ही नहीं, किसी भी रूप में सम्मान की कल्पना तो छोड़ो, सदा अपमान ही करता है, इत्यादि जीवन में अपमान के ऐसे सैकड़ों प्रसङ्ग आ सकते हैं, आते ही रहते हैं, नित्य प्रति आते हैं। संन्यासी का पहले से ही ऐसा निश्चय होना चाहिए कि यदि मेरे समक्ष ऐसे

अवसर उपस्थित होते हैं तो मैं शान्त प्रतिक्रियारहित होकर रहूँगा। बल्कि इन सब व्यवहारों में दुःखी होने की बजाय प्रसन्नता या सौभाग्य का अनुभव करूँगा; क्योंकि यहीं तो मेरी सच्ची परीक्षा होनी है कि मैं कितना अपने संन्यास धर्म का पालन कर रहा हूँ, जिससे मेरा वास्तव में विकास हो सकता है।

इसी प्रकार संन्यासी सम्मान को भी अपने समक्ष रखकर विचार करे कि यदि कोई मुझे सम्मान देता है और उससे यदि मैं प्रभावित हो गया तो इस भोग का एक संस्कार बनेगा और आगे-आगे एक अन्तहीन शृङ्खला बढ़ती चली जायेगी। किसी सभा में जाऊँगा, वहाँ अपने सम्मान के लिए वहाँ के प्रबन्धकों की मुझे अनावश्यक प्रशंसा करनी होगी। क्योंकि यदि मैं उनकी प्रशंसा नहीं करूँगा तो वे भी नहीं करेंगे। इस प्रकार प्रशंसा की भूख में मुझे अपनी आत्मस्थिति से बाहर एक सामान्य लौकिक व्यक्ति के स्तर पर आना होगा। शरीर को अपना स्वरूप समझे बिना प्रशंसा करना-कराना बनता ही नहीं। यदि कोई अपने को शरीर से अलग देखने लगता है तो प्रशंसा या निन्दा को कहीं जगह ही नहीं मिलती। प्रशंसा चाहने का अर्थ है, व्यक्ति आत्मा से शरीर में उतर आया अर्थात् ज्ञान से अज्ञान के कीचड़ में आ गया। अतः उसे विचार करना चाहिए मुझे इस सम्मान के दलदल में नहीं धँसना।

यदि कहीं प्रशंसा हो भी रही हो तो संन्यासी उसको अपने व्यक्तित्व के साथ न जोड़े, अपना गुण न मानें बल्कि दूसरों की उदारता समझे या ऐसा समझे कि यह तो सब भगवान् की ही महिमा है, इसमें मेरा क्या है। ऐसा करने से भगवान् के साथ जुड़ा रह सकता है, बाह्य चीजों से अपने को अलिप्त रख सकता है। अखण्ड अविनाशी, पूर्ण चेतनामय जीवन और पूर्ण अखण्ड आनन्दमय असीम जीवन जी सकता है।

यहाँ यह तो सदा ध्यातव्य है कि बाहर से आने वाले सम्मान को संन्यासी के लिए हेय कहा गया है। अपने भीतर आत्म-गौरव का भाव तो संन्यासी के लिए भी आवश्यक है। जैसे पतञ्जलि योगपीठ में श्री स्वामी रामदेव जी इस स्व-सम्मान, स्वगौरव या आत्मगौरव को स्वाभिमान शब्द से प्रकट करते हैं। इसके बिना तो व्यक्ति दृढता से अपने पथ पर आगे बढ़ ही नहीं सकेगा।

संन्यासी की वाणी (ब्रह्मगवी)

प्राचीन शास्त्रों की यह शैली रही है कि रूपकों के द्वारा या यों कहें कि प्रतीकों के द्वारा कथ्य को प्रस्तुत किया गया है। भवन में जैसे वस्त्रादि सामान को टाँगने के लिए खूँटियाँ होती हैं, वैसे ही वैदिक ऋषियों के लिए प्रतीकों की कल्पना है, जहाँ अनेकानेक वैदिक अर्थों को टाँग दिया है। 'ब्रह्मगवी' एक ऐसा ही सुन्दर प्रतीक है। ब्रह्मगवी का अर्थ है- ब्राह्मण की गाय। अथर्ववेद के पञ्चम काण्ड के १८वें और १९वें सूक्त को ब्रह्मगवी सूक्त के नाम से जाना जाता है। जैसे कृषक लोगों के पास गाय होती है, वे उसे बड़े चाव से पालते-पोसते हैं, उसे खिलाते-पिलाते हैं, उसकी सेवा करते हैं। कृषकों के द्वारा पालित या पोषित हुई वह गाय बदले में उन्हें अमृत रूप दुग्ध प्रदान करती है, खेती करने के लिए बछड़े देती है, गोबर के रूप में खाद देती है, मरने के बाद अपने चर्म तक को दे जाती है। भारतीय पौराणिक कल्पना के अनुसार उसके शरीर में ३३ कोटि देवी-देवताओं का वास है। गौ मनुष्य के भौतिक अस्तित्व को बनाए रखने के लिए सहयोगी या उपयोगी के रूप में विधाता की सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है।

जैसे भौतिक रूप में गौ की महिमा है, उसी प्रकार ब्राह्मण की वाणी रूपी गौ है, जिसने सम्पूर्ण अस्तित्व को सुरक्षित किया हुआ है, जिसकी रक्षा में समूचे अस्तित्व की रक्षा है। संस्कृत भाषा में 'गौ' शब्द का एक अर्थ वाणी भी होता है। भौतिक रूपेण गाय की रक्षा न होने पर अर्थात् गौ की हत्या की चीत्कार से, उसके करुण-क्रन्दन से मनुष्य का सारा भौतिक सुख खण्डित हो जाता है, बस! वैसे ही यदि ब्राह्मण की वाणी की कोई शक्तिशाली राजा या राज स्थानीय कोई शक्तिशाली व्यक्ति हत्या करता है तो उसकी आहों से सारा राष्ट्र पीड़ित हो उठता है। जैसे गौ प्राणी की हत्या का कारण मांस-लोलुपता व इन्द्रिय सुख के सिवा और कुछ नहीं होता, वैसे ही ब्राह्मण की वाणी की भी कोई राजा या कोई शक्तिशाली व्यक्ति हत्या करता है, अवहेलना करता है तो उसके पीछे उसका तात्कालिक सुख और अहङ्कार ही कारण होता है। चाहे गौ प्राणी की हत्या हो या ब्राह्मण की वाणी की, हत्या करने वाला यह भूल जाता

है कि तू अल्प के लिए महत् की आहुति दे रहा है। अज्ञानवश उसकी बुद्धि उसके भावी परिणाम को देख नहीं पाती। गौ की रक्षा और गौ की हत्या में जो लाभ व हानि का अनुपात है, उसका ठीक आकलन नहीं कर पाती, जिसके कारण वह इस क्रूर कर्म में प्रवृत्त हो जाता है; क्योंकि आखिर तो सभी भूतों की प्रवृत्तियाँ सुख के लिए ही होती हैं, किन्तु ज्ञान व अज्ञान के कारण मार्ग व अमार्ग ये दो धाराएँ फट जाती हैं। इस विषय में आचार्य पुनर्वसु के कुछ तेजस्वी वचन उपलब्ध हैं-

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।

ज्ञानाज्ञानविशेषात् मार्गामार्गप्रवृत्तयः॥

हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः।

रजोमोहावृतात्मानः प्रियमेव तु लौकिकाः॥

श्रुतं बुद्धिः स्मृतिर्दाक्ष्यं धृतिर्हितनिषेवणम्।

वाग्विशुद्धिः शमो धैर्यमाश्रयन्ति परीक्षकम्॥

लौकिकं नाश्रयन्त्येते गुणा मोहरजःश्रितम्।

तन्मूला बहवो यन्ति रोगाः शारीरमानसाः॥

(चरक सू.- २८.३५-३८)

जो विचारशील होते हैं, वे तो अपने हित को ढूँढ़ लेते हैं, किन्तु रजस् व तमस् से जिनकी बुद्धि आच्छादित रहती है, वह तो तात्कालिक प्रिय को ही देख पाती है, बेशक परिणाम में कितना भी अहित हो रहा हो। जो विचारशील परीक्षक अन्वेषक होते हैं, उन्हें ही ज्ञान, बुद्धि, स्मृति, दक्षता, धृति, हित का सेवन, वाणी की विशुद्धि अर्थात् ब्रह्मगवी की प्राप्ति, शम और धैर्य आदि गुणों की प्राप्ति होती है जो विचारहीन हैं, उन्हें यह सब प्राप्त नहीं होता और परिणामतः शारीर व मानस रोगों से घिरे रहते हैं।

अतः वेद में शक्तिशाली व्यक्तियों को बड़ी रोचक व काव्यमयी शैली में यह चेतावनी दी गई कि हे राजन्य! दैवी शक्तियों ने इस अनाद्या (अभक्षणीया) गौ को तुम्हें खाने के लिए नहीं दिया है, इस ब्राह्मण की गौ को खाने के इच्छुक मत बनो। अपनी इन्द्रियों का मारा हुआ जो पापी राजा अपने से ही हारा हुआ जो इस गौ को खायेगा, वह आज तो जिन्दा रह सकता है, किन्तु कल नहीं। हे राजन्! उस ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ की यह वाणी चमड़े द्वारा घिरी हुई हत्यारे विष

वाली पृदाकू सर्पिणी की तरह है, वह वाणी जब रक्त की प्यासी हो जाती है, तब अदन योग्या अर्थात् विनष्ट करने योग्य नहीं होती। ब्राह्मण क्षत्रिय राजा को निश्चय से राष्ट्र से बाहर निकाल देता है, क्षत्रिय राजा के वर्चस् का हनन कर देता है, सब ओर लगी हुई अग्नि के सदृश सबको उपतप्त कर देता है, जला देता है। जो क्षत्रिय ब्रह्मज्ञ को अन्न ही मानता है, वह मानो जल में घुले विष का पान करता है। ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ विद्वान् हिंसा के योग्य नहीं हैं, यह अपने प्रिय तनु की अग्नि के सदृश हैं। तीक्ष्ण बाणों वाले तथा अस्त्रों वाले ब्रह्मज्ञ और वेदज्ञ विद्वान् जिस शरसमूह या घातक अस्त्र को फेंकते हैं, वे व्यर्थ नहीं होते, ब्राह्मण के तप व मन्यु द्वारा पीछे-पीछे जाकर तथा दूर से इस राजा को ये इषु और अस्त्र छिन्न-भिन्न कर देते हैं, इत्यादि। इस विषय में हम अपने पाठकों के समक्ष एक उदाहरण रखना चाहेंगे। अभी पिछली (कांग्रेस) सरकार ने अपनी शक्ति या बलप्रयोग से श्री स्वामी रामदेव जी महाराज की वाणी को कुचलना चाहा, उसके जो परिणाम निकले, वे सबके सामने हैं। वेद कहता है ऐसे अत्याचारी व बहरे शासक का इसी तरह अधःपतन होता है।

इन दो सूक्तों में कुल मिलाकर २६ मन्त्रों में ऐसा ही तेजस्वी गीत गाया गया है कि ज्ञानी व्यक्ति के परामर्श को जो अज्ञानी व्यक्ति अपने बल के कारण नहीं मानता, वह नष्ट हो जाता है। अब कहना यह है कि एक संन्यासी को विशुद्ध सत्य (मिश्रित सत्य नहीं) और तप का आलम्बन लेकर शास्त्र के गहन रहस्य को खोजने के लिए अपनी आहुति लगा देनी चाहिए। संन्यासी का मात्र यही एक कार्य है कि शास्त्रों में छुपे हुए सत्य को श्रमसाध्य मन्थन द्वारा निर्भ्रान्त रूप से नवनीत के रूप में सबके समक्ष रखे। जैसे कृषक अपनी गौ की पालना करते हैं, वैसे ही एक आदर्श संन्यासी को भी तप, भक्ति, ईश्वरीय प्रेम, सत्य, निर्वैरता, ब्रह्मचर्य आदि का आलम्बन लेकर यथार्थ ज्ञान की खोज करनी चाहिए और अपने आचरण से मुक्ति की राह प्रशस्त करनी चाहिए। इसी में संन्यासी के जीवन की धन्यता है कि वह अपनी गौ की रक्षा और वृद्धि करते हुए समष्टि को अमृतपान कराए। इसकी पहचान है, पहले स्वयं तृप्त, सन्तुष्ट, निर्भ्रान्त व आत्मस्वरूप में स्थित हो और फिर दूसरों को भी इस यथार्थ मार्ग का दिग्दर्शन कराए।

संन्यासी का निश्चय (Firm-Determination)

किसी भी व्यक्ति को कठिन या सरल किसी मार्ग में आगे बढ़ने के लिए एक पक्का निश्चय करना होता है कि मुझे अमुक स्थान, मुकाम (Destination), लक्ष्य पर पहुँचना है। प्रायः व्यक्ति निश्चय तो करता है, पर कठिनाईयाँ आने पर निश्चय को बदल देता है अथवा निराश होकर अपने ही द्वारा किए हुए उस निश्चय का त्याग कर देता है। ज्ञान की स्पष्टता या अस्पष्टता ही उस-उस निश्चय के होने या न होने में कारण बनती है। ज्ञान निश्चय तो करा देता है, किन्तु उस निश्चय को फलवान् बनाने के लिए बल की आवश्यकता होती है। बल की कमी से निश्चय टूट जाता है, जैसे किसी ने निश्चय किया कि मुझे ५०० दण्ड लगानी हैं, किन्तु कुछ देर बाद ही बल की कमी पड़ने लगती है और उसे वह सदा के लिए ही छोड़ देता है। यदि वह अपने निश्चय का त्याग न करे और धैर्य धारण करके प्रतिदिन लगा ही रहे तो एक समय आयेगा कि व्यक्ति अपने संकल्पित लक्ष्य (Target) पर पहुँच ही जायेगा। इस प्रकार निश्चय को लक्ष्य तक पहुँचने के लिए यदि धैर्य का सम्बल मिल जाए तो धीरे-धीरे सफलता सुनिश्चित है, किन्तु लक्ष्य प्राप्ति की कालावधि सबकी समान नहीं होगी; क्योंकि सबका प्रारब्ध=कर्म का वेग अलग-अलग ही होता है। इसी बात को महर्षि पतञ्जलि ने अपने शब्दों में इस प्रकार कह दिया है कि-

‘तीव्रसंवेगानामासन्नः, मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः’।

(योगसूत्र- १.२१, २२)

महान् पुरुष हमें समझाते हैं कि अध्यात्म का सत्य यही है कि एक बार कोई पक्का निश्चय करके चल पड़ा तो एक जन्म में या आने वाले कई जन्मों में लक्ष्यप्राप्ति सुनिश्चित है।

संन्यासी का अपना यह निश्चय होना चाहिए कि शास्त्रकार और सभी ऋषि-महर्षि जिस भगवान् की चर्चा करते हैं, हो सकता है नाम अलग-अलग हों, कोई उसे आत्म-साक्षात्कार कहता है, कोई ईश्वर-प्राप्ति, कोई क्षेमप्राप्ति, कोई

मुक्ति या अपवर्गप्राप्ति, कोई नैष्कर्म्य सिद्धि, कोई संस्कार क्षय तो कोई निर्वाण इत्यादि। वह भगवत्प्राप्ति का रास्ता कितना ही कठिन क्यों न हो, उसके लिए मुझे जो कुछ भी करना पड़ेगा जप, तप, अदर्शन मौन, ध्यान, भजन-कीर्तन, स्वाध्याय, सभी कामनाओं का त्याग, अहंता-ममता का त्याग, विचार, अल्प आहार इत्यादि। मैं वह सब कुछ प्रसन्नतापूर्वक करने के लिए तैय्यार हूँ। सिद्धि प्राप्ति में आज के दिन से मरण पर्यन्त पूरा समय शक्ति ऊर्जा बुद्धि मुझे इस काम के लिए लगानी पड़े तो मेरे लिए यह परम सौभाग्य की बात होगी।

भौतिक जगत् में आगे बढ़ने के लिए एक-एक महान् व्यक्ति ने जिस उत्साह के साथ अपने जीवन की आहुति दी, मुझे भी अपने इस इच्छित कार्य के लिए सब कुछ लगा देना है। मुझे अपने इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो कुछ भी त्याग करना पड़ेगा, उसे मैं पूरे हर्ष के साथ करूँगा। जैसे सब प्रकार के सम्मान का सुख, विषयों का सुख, ज्ञानचर्चा का सुख, सत्संग का सुख, अपने प्रियजनों से मिलने का सुख, खेलने का सुख, भोजन का सुख, किसी महापुरुष के दर्शन का सुख, जंगल-नदी या पर्वत पर भ्रमण का सुख, देश-विदेश में या अपने इर्द-गिर्द अलग-अलग लोगों से मिलने का और उनसे बातचीत करने का सुख, पढ़ने-पढ़ाने का सुख, शास्त्रचर्चा का सुख, गोसेवा या गोदर्शन का सुख, एकान्तवास या अदर्शन मौन का सुख गीता-उपनिषद् आदि के अध्यापन का सुख, वृक्षारोपण, तरह-तरह की फुलवाड़ी और हरियाली देखने का सुख, अपनी सारी पसन्द व अभिरुचियों की पूर्ति का सुख, एक शब्द में कहें तो यहाँ तक कि यदि भगवान् को पाने के लिए अपनी सभी शुभ प्रवृत्तियों पर रोक लगानी आवश्यक हुई तो उसे भी मैं पूरे प्रेम व तन्मयता के साथ करने के लिए तैय्यार हूँ। अर्थात् इस महान् लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो कुछ भी अभ्यास रूप मौनादि विधेयात्मक साधन और वैराग्य या त्याग रूप निषेधात्मक साधन करना होगा, वह सब मैं करूँगा और यह सब करते हुए किसी को मुझे कुछ करके दिखाना है, इस भाव के साथ नहीं बल्कि अपनी सत्य आत्मा को पाना ही एक मात्र इसका प्रयोजन है, ऐसे गम्भीर भाव के साथ महान् उत्साह से युक्त होकर मुझे इस आत्म-पथ, प्रकाशपथ, देवपथ, शान्तिपथ, विशुद्धधर्मपथ पर आगे बढ़ना है। विरले लोग इस पथ पर चलते

हैं, इस आत्मसम्मान और आत्मगौरव के साथ मुझे अपना रास्ता तय करना है। यदि इस प्रकार के ज्ञान के आलोक में ऐसा किसी का निश्चय हो गया तो बताओ कैसे वह आत्म-साक्षात्कार या भगवत्प्राप्ति से वञ्चित रह सकता है ?

हमने ऊपर एक सामान्य चित्रण प्रस्तुत किया है कि आत्मसाक्षात्कार के मार्ग में कुछ मजबूती से पकड़ना होता है और कुछ एकदम से छोड़ना। कुछ चीजें तो इस लम्बी चौड़ी सूची में सब के लिए साझी हैं, जैसे आत्मसम्मान व प्रसन्नता का अनुभव, महान् उत्साह और धैर्ययुक्त होना, संसार सुख का त्याग इत्यादि, किन्तु कुछ ऐसी हैं जो एक-एक के लिए अलग-अलग हो जाती हैं, यह साधक को या इस पथ पर चलने वाले संन्यासी को स्वयं अपने लिए निर्धारित करना होता है- कैसे मेरी प्रगति हो सकती है या कोई आगे बढ़ा हुआ गुरु हमें बता सकता है।

यह तो एक सामान्य नियम है कि रजोगुण की मात्रा अधिक है तो प्रवृत्ति पथ से अधिक विकास हो सकता है और जिनमें सत्त्व प्रबल है, उनके लिए निवृत्तिरूपी साधन अधिक सहयोगी होगा- भगवान् की भी अनुमति इसी प्रकार की है-

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।। (गीता- ६.३)

जो शास्त्रों के सम्पूर्ण रहस्य को जानते हैं, श्रोत्रिय हैं, किन्तु ब्रह्मनिष्ठ होना चाहते हैं, उनके लिए तो भगवान् ने निवृत्ति में रहते हुए गीता अध्याय १८.५१ से ५५ तक भक्तिपूर्वक ध्यान पर पूर्ण बल दिया है। अन्त में फिर हम वही बात कहेंगे- यदि किसी को संसार में असारता दिखने लगी, विषयों के सुख में जो जलन और तपन है, वह वैसे ही प्रतीत होने लगी जैसे किसी ने हमारे नंगे सिर के ऊपर तप्त लोहा रख दिया हो और उस समय जैसे ठण्डक प्राप्त करने के लिए हम पानी की तरफ बड़ी तेजी से दौड़ पड़ते हैं वैसे ही संन्यासी संसार से अपनी आँखें बन्द करके एक निश्चय के साथ आत्माभिमुख हो जाए, आत्मा में ही ठहरा रहे। आत्मा को ही अपना सदा के लिए शरण बना ले। यही उसके उद्धार का साधन है।

संन्यासी की ईमानदारी (Sincerity)

संन्यासी के मन-मस्तिष्क में जो बात अच्छे से बैठ जानी चाहिए, वह यह है कि मैं किसी भी लौकिक कामना से प्रेरित होकर इस रास्ते पर नहीं आया हूँ, बल्कि एकमात्र भगवान् को पाने और उसे जीवन में अभिव्यक्त करने के लिए अपना कदम बढ़ाया है। उसे हर हालत में इतनी ईमानदारी तो अपने प्रति बरतनी ही होगी, यदि यहाँ चूक हो जाती है तो आध्यात्मिक रूप से आगे बढ़ने की बजाय युग-युगों तक पीछे चला जाएगा। उन प्रसिद्ध तीन कामनाओं में, जिन्हें संन्यास दीक्षा के समय छोड़ने की बात की जाती है, यश की कामना सबसे अधिक शक्तिशाली है। सुख-सुविधाओं के रूप में ऐश्वर्य की कामना या इन्द्रियभोगों की कामना कुछ कम शक्तिशाली नहीं हैं, ये भी बड़े वेग से अपना काम कर ही रही हैं, किन्तु पद-प्रतिष्ठा की कामना का अपना अलग ही निराला रूप है। किसी पद पर प्रतिष्ठित होना या मनुष्यों को अपने आदेश में चलाने का जो सूक्ष्मभाव मानव मन में अन्तर्निहित होकर छुपा बैठा रहता है, वह भी यश की कामना का ही एक रूप है कि दूसरे मेरी हैसियत को समझें। लोगों को ऐसी भाषा बोलते हुए सुना भी जाता है कि तेरी यह औकात, तू मुझे जानता नहीं, मेरे सामने तू होता कौन है, मैं तुझे धरती में गाड़ दूँगा इत्यादि। विश्व कीर्तिमान स्थापित करने के लिए जो प्रयास होते हैं या राजनीतिक सत्ताप्राप्ति की जो चाह होती है या किसी संस्था के अध्यक्ष बनने के लिए जोड़-तोड़ किए जाते हैं। इन सब गतिविधियों के मूल में यशः कामना, लोक में बड़ा व्यक्ति कहलाने की इच्छा ही काम कर रही होती है।

संन्यासी को जैसे कि व्यक्ति प्रायः दूसरों की चीर-फाड़ करता है। अपने भीतर घुसकर अपनी जाँच-परख करनी चाहिए कि मैं चाहता क्या हूँ, केवल मात्र भगवान् या भगवान् के उपहारों को ? यदि वह केवल मात्र भगवान् को चाहता है तो वह सही दिशा में चल रहा है, किन्तु प्रायः ऐसा होता है कि बड़े-बड़े शब्दों (Sound words) की ओट में चाहत उपहारों की ही होती है। यदि कोई पूरा ईमानदार है और फिर दोनों चीजें चाह रहा है तो इसका भी अर्थ यही है कि अभी वह कुल मिलाकर उपहारों को ही चाह रहा है। किन्तु यह व्यक्ति पहले वाले की तुलना में तो बहुत श्रेष्ठ है, जिसने पूर्ण ईमानदारी

के साथ इस बात को स्वीकार कर लिया है कि मुझे भोग और योग, उपहार व भगवान् दोनों चाहिए।

बड़े-बड़े शब्दों की ओट तो इसलिए लेनी होती है कि संसार में सफल होने के लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त साधन है। संसार को आकर्षक लेबल से बहुत ही प्यार या लगाव है। मेरे इस कथन का कोई यह अभिप्राय न लेने लगे कि जो भी यशस्वी होते हैं, वे सब संसार को ही पसन्द कर रहे होते हैं, ऐसा मेरा तात्पर्य बिल्कुल नहीं है। याज्ञवल्क्य प्रभृति हजारों ऋषि, वर्तमान में महर्षि दयानन्द, श्री अरविन्द, रमण महर्षि आदि बहुत से यशस्वी हो चुके हैं, किन्तु उन्होंने संसार को तो पसन्द नहीं किया। अतः मैं तो मात्र अपने स्वयं का अध्ययन करने के लिए केवल एक बात रख रहा हूँ कि हमें ईमानदारी से अपनी जाँच-परख करते रहनी चाहिए कि कहीं किसी कोने में छुपी हुई यह मानवीय दुर्बलता तो नहीं बैठी है। निश्चय ही दिखावा या प्रदर्शन अध्यात्म-पथिक की एक बहुत बड़ी दुर्बलता है, किन्तु संसार में तो आगे बढ़ने के लिए यह एक विशेष गुण और सफलता का साधन माना ही जाता है।

यदि कोई व्यक्ति अध्यात्म, योग, धर्म, परम शान्ति आदि के नाम पर भोगसाधनों को जुटा रहा है, अपनी यशःकामना को पूर्ण कर रहा है, जैसे कि प्रायः (Mostly/सब नहीं) राजनीतिक लोग नाम तो सेवा का लेते हैं, किन्तु उनके भीतर जाकर वे स्वयं या कोई और देख सके तो भूख सत्ता की होती है; क्योंकि यदि वे यह बोल दें कि मैं सत्ता चाहता हूँ, आप मुझे वोटिंग कीजिए तो कौन करेगा। सेवा के नाम से तो लोग सहमत हो ही जाते हैं। सेवा तो वह करता ही है पर इतनी सी बात है कि मूल में वह सत्ता-लोलुप (Power-hungry) है। संन्यासी को अपनी छान-बीन करनी चाहिए, निरन्तर करते ही रहनी चाहिए कि तू भगवान् को पाने का इच्छुक है या प्रतिष्ठा-लोलुप, (Name & fame hungry) साधन-लोलुप। भारत में तो साधुओं की बहुत बड़ी जमात, गीता के शब्दों में कहें तो राजस व तामस त्याग से युक्त है और उनका तप भी राजस या तामस है तथा इस सब के मूल में ज्ञान भी राजस व तामस है। एक संन्यासी को यह सख्त हिदायत है कि वह अपनी प्यास में सच्चा बने और शास्त्रमर्यादा का अतिक्रमण न करे।

संसार में दूसरों को ठगने के लिए बहुत कुछ जोड़-तोड़ करना पड़ता है, किसी को ठगना आसान नहीं है, किन्तु अपने को ठगने के लिए तो केवल अज्ञान मात्र चाहिए कि उसे पता ही न चले कि तू ठग रहा है या फिर अपनी आत्मा को मारना पड़ता है और यदि लौकिक इच्छाएँ हैं तो अपनी आत्मा को मारना कुछ कठिन नहीं है। मनुष्य जब किसी काम को करना चाहता है तो उसके दोषों को सामने नहीं लाता, केवल उसके गुणों को ही अपने समक्ष रखता है, जैसे मेरे एक मित्र हैं, वे कहते हैं- जो मैं कर रहा हूँ, इससे बहुत बड़ा लोकहित होगा, महिमामण्डित किए बिना लोग इसका मूल्य (Value) ही नहीं समझते, इसलिए मुझे जानबूझकर दिखावे के साथ रहना पड़ता है, यदि मुझे कुछ करना न हो तो फिर यह सब करने की मुझे भी आवश्यकता न पड़े, पर याद रखना चाहिए, उससे कार्य तो हो जाता है पर व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास रुक जाता है। किन्तु पूरे होश-हवास के साथ सप्रयोजन कोई कुछ ऐसा कर रहा है तो उसका ऐसा आचरण कुछ हद तक स्वीकार्य हो भी सकता है, पर बेहोशी में किया गया उक्त व्यवहार तो निश्चित ही लोकैषणा के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता और योग, त्याग व अध्यात्म के नाम पर भोगसञ्चय तो लोकैषणा है ही, इसमें तो किसी का क्या मतभेद। फिर यह भी सत्य है कि यदि व्यक्ति में सच्चाई का गुण है तो व्यक्ति के द्वारा अपना आकलन कर पाना, अपनी वास्तविक चाहत को जानना कठिन नहीं है। वह पूर्ण अन्तर्मुख होकर इस काम को कर सकता है।

हाँ! तो संन्यासी की ईमानदारी या सच्चाई को संक्षेप से हम इस रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं कि उसकी सत्ता के सभी अङ्गों की एक ही माँग हो 'भगवान्' कहीं भी कोई दिखावा न हो। बाहर से लेकर भीतर तक रोम-रोम की, एक-एक कोशिका (Cell) की एक ही पुकार हो 'भगवान्'। नदियाँ जैसे समुद्र की ओर प्रवाहित रहती हैं वैसे ही उठते-बैठते, चलते-फिरते, हृदय का भाव, बुद्धि का विचार, मन का संकल्प, सभी उस एक ही परम सत्य को पाने और उसे अभिव्यक्त करने के लिए उत्कण्ठित रहे। बेशक उसे इतनी ईमानदारी व सच्चाई से भगवान् को चाहने वाला एक भी साथी न मिले तो भी परम प्रसन्नता के साथ चलते हुए वह यदि अपने भीतर आत्म-गौरव बनाए रख सके तो समझा जायेगा कि संन्यासी सच्चा है।

ब्रह्मचर्य

इस संन्यास धर्म का ही जो एक महत्वपूर्ण घटक है, ऐसे एक अत्यन्त संवेदनशील बिन्दु पर हम अपने पाठकों के साथ चर्चा करना चाहते हैं, वह है- 'ब्रह्मचर्य'। इस शब्द का जो सामान्य अर्थ है, वही इसका विशेष अर्थ भी है। अर्थात् इस शब्द से ही वह सम्पूर्ण अर्थ प्रकट हो रहा है अथवा इस शब्द में ही वह विशिष्ट अर्थ समाहित है, जिसको हम ब्रह्मचर्य का स्वरूप क्या है? उसका साधन अर्थात् मार्ग क्या है? उसके असाधन अर्थात् बाधक क्या हैं? उसका लक्ष्य क्या है? इन सब प्रश्नों के माध्यम से खोजना चाहते हैं। आईये! इन बिन्दुओं पर चर्चा कर लेते हैं-

प्रथम प्रश्न है- ब्रह्मचर्य का स्वरूप क्या है? ब्रह्मचर्य का अर्थ है- ब्रह्म में, किसी बृहत् तत्त्व में, किसी बड़े लक्ष्य में, किसी बड़ी साधना में, किसी विद्या-विशेष में, किसी बड़े ज्ञान में जिसको पाकर मनुष्य, जीवन जीवनदाता और जगत् के सम्बन्ध में निर्भ्रान्त व संशय रहित हो जाता है, ऐसे ज्ञान में विचरण करना ब्रह्मचर्य है और ऐसे उस ज्ञान में विचरण करने वाला ब्रह्मचारी है। यह हुआ- ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी का स्वरूप।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि ज्ञान दो प्रकार का होता है- एक विषय से संयुक्त ज्ञान और दूसरा विषयी रूप शुद्ध ज्ञान। जैसे मैं आम को जानता हूँ या जान रहा हूँ, इस ज्ञान में जानने वाला ज्ञाता जिसको विषयी भी कह देते हैं और ज्ञेय रूप आम जो विषय स्वरूप है, दोनों उपस्थित हैं अर्थात् विषय संयुक्त विषयी या दूसरे शब्दों में आधेय से संयुक्त अधिष्ठान(आधार) ज्ञान में भास रहा है। इसे ही सविकल्पक ज्ञान भी कह देते हैं। यह ज्ञान का साकार रूप है। विषयी के रूप में जो ज्ञान है, वह तो एक ही बना रहता है, किन्तु उसके समक्ष उपस्थित होने वाले विषय बदलते रहते हैं। जैसे एक स्थान पर रखे हुए दीपक के सामने बारी-बारी से सौ चीजें प्रस्तुत की जाएं तो दीपक के रूप में विषयी तो एक ही है, किन्तु विषय बदलते जा रहे हैं। इसी प्रकार आत्मा विषयी के रूप में एक ही है, किन्तु प्रकाश्य विषय अन्य-अन्य आते रहते हैं। शब्दों के माध्यम से होने वाला समस्त शास्त्रीय ज्ञान इसी श्रेणी में आता है। मन-बुद्धि व इन्द्रियों के माध्यम से जो विषयों का ज्ञान है, वह भी इसी प्रकार का है।

किन्तु एक निर्विकल्पक ज्ञान या निराकार ज्ञान भी होता है, जहाँ ज्ञाता

और ज्ञेय का द्वैत नहीं होता। जहाँ केवल ज्ञाता (अधिष्ठान) मात्र ही रहता है, वहाँ किसी ज्ञेय के न होने से ज्ञान शुद्ध अद्वैत रूप में रहता है। वह विषयी किसी विषय का आकार ग्रहण नहीं करता। ब्रह्मचारी वह है जो उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के ज्ञान की खोज में रहता है। **ब्रह्मचारीणांश्चरति** (अथर्व) विषयी को जानना यह परा विद्या के अन्तर्गत आता है और विविध विद्याओं को ज्ञेय के रूप में जानना अपरा विद्या के क्षेत्र में आता है; क्योंकि ज्ञाता आत्मा कभी भी ज्ञेय नहीं बनता, वह तो सदा ज्ञाता ही बना रहता है। जैसा कि बृह० श्रुति में कहा है- '**विज्ञातारमरे केन विजानीयात्**'। जो स्वयं विज्ञाता है, उसके लिए दूसरा विज्ञाता कहाँ से आयेगा।

द्वितीय प्रश्न है- ब्रह्मचर्य का साधन क्या है? अथवा प्रश्न को इस रूप में रखें कि ब्रह्मचारी जहाँ पहुँचना चाहता है, उसका मार्ग क्या है? ब्रह्मचर्य का साधन है ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य तो साध्य है। क्या साध्य ही कभी साधन होता है? हम तो ज्ञानियों से ऐसा सुनते आए हैं कि साध्य-साधन सदैव अलग ही होते हैं, यह क्या कह डाला कि ब्रह्मचर्य ही साध्य है और ब्रह्मचर्य ही साधन। साध्य-साधन विषयक ऐसे प्रसङ्गों को अपवाद कोटी में रख सकते हैं कि जो साध्य है वही साधन है। इस रहस्य को जो समझ जायेंगे, उनका ब्रह्मचर्य सहज रूप से सिद्ध हो जाएगा। अन्यथा विविध कोशिशें करते रहेंगे और रोते रहेंगे।

कोई नंगे पाँव रहेगा, कोई शीतकाल में भी दोनों समय ठण्डे पानी में स्नान करेगा। कोई नमक खाना छोड़ेगा, कोई दो-दो घण्टे प्राणायाम करेगा, कोई बहुत अधिक उपवास करेगा। कोई दो-दो घण्टे मूलबन्ध लगायेगा, कोई १५-२० किलोमीटर दौड़ लगायेगा, कोई एक-एक घण्टा उल्टा लटकेगा, कोई दो-तीन घण्टे व्यायाम करेगा, दो-ढाई हजार दण्ड लगाएगा, कोई दो-दो हजार सूर्य-नमस्कार करेगा, कुश्ती करेगा, कोई माताओं को देखकर तख्त के नीचे घुस जाएगा। साधन भी चलेंगे और रोना-धोना भी। किन्तु साध्य को साधन बना लिया तो समस्या का हल (शाश्वत समाधान) मिल जाएगा। यह रहस्य बड़े पुण्यों के फलस्वरूप किसी-किसी को प्राप्त होता है। जिनको प्राप्त हो जाता है, वे सचमुच धन्य हो जाते हैं। अर्थात् ब्रह्मचर्य का साध्य रूप यदि ब्रह्म में विचरण करना है तो साधन भी यही है कि ब्रह्म में विचरण करना। मेरे इस कथन से कोई यह अर्थ न निकालने लगे कि मैं ब्रह्मचर्य सिद्धि के लिए अनुष्ठित बाह्य साधनों का मना कर रहा हूँ, केवल अन्तरङ्ग साधन की प्रमुखता

बताने के लिए मेरा उपर्युक्त कथन है। अन्तरङ्ग साधन के साथ बहिरङ्ग साधनों का उपयोग हो सकता है, पर केवल बहिरङ्ग साधनों से बात नहीं बनेगी, यह बात बार-बार इस लेख में दोहराई गई है।

अब तक तीनों प्रश्नों का एक ही उत्तर निकलकर सामने आया कि ब्रह्मचर्य का स्वरूप क्या है? अर्थात् ब्रह्मचर्य की परिभाषा क्या है? उत्तर है ब्रह्म में विचरण करना। द्वितीय प्रश्न ब्रह्मचर्य का साधन क्या है? उत्तर वही है- ब्रह्म में विचरण करना। तीसरा प्रश्न है ब्रह्मचर्य का लक्ष्य क्या है? इसका भी उत्तर वही है- ब्रह्म में विचरण करना। चरकसंहिता में एक प्रसङ्ग में कहा कि यह संसार एक बीहड़ वन की तरह है, इससे पार जाने के लिए एक ही मार्ग है- ब्रह्मचर्य, अन्यथा इस कटीले संसार में उलझे बिना रह नहीं सकते।

एकमयनानामुत्कृष्टतमम्।

ब्रह्मचर्यमयनानामुत्कृष्टतमम्॥ (चरक सू.- ३०.१५)

वाग्भट ने अष्टाङ्गहृदय उत्तरस्थान (४०.४) में कहा-

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयसायनम्।

अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम्॥

इह लोक और परलोक दोनों लोकों के लिए रसायन स्वरूप एकान्तनिर्मल ब्रह्मचर्य का हम अनुमोदन करते हैं जो धर्म युक्त है अर्थात् जीवन को धर्म के साथ जोड़े रखता है, यश का हेतु है और आयु के लिए हितकारक है।

अन्यत्र चरकसंहिता के निदानस्थान (६.७) में कहा-

आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।

क्षयो ह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति॥

आहार का परम सारभाग शुक्र कहलाता है, ऐसे उस शुक्र की अपने द्वारा सदा रक्षा करनी चाहिए। इसका क्षय बहुत सारे रोगों को प्रदान करता है या मृत्यु ही करा देता है।

एक चतुर्थ प्रश्न रह गया कि ब्रह्मचर्य के मार्ग में बाधक क्या है? अर्थात् पति से इसका उत्तर यही निकलकर आ रहा है- अब्रह्मचर्य अर्थात् अब्रह्म में विचरण। आत्मव्यतिरिक्त अनात्म विषयों में विचरण, संसार के जितने भी सुख हैं, मन से उनका ध्यान करना यही है 'अब्रह्मचर्य'।

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में बहुत ही खोज पूर्ण कुछ और भी बातें अपने

पाठकों के सामने रखी जा रही हैं। हो सकता है किसी जिज्ञासु को समझ में आ जाए और उसका जीवन धन्य हो जाए। मनुष्य का स्थूलशरीर काममय है, स्थूलशरीर में सूक्ष्मशरीर भी मिला हुआ रहता है। हाँ! सूक्ष्मशरीर में स्थूलशरीर नहीं होता। सूक्ष्मशरीर माने मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ और जन्म-जन्मान्तर के विविध संस्कार। मनुष्येतर प्राणियों में तो हर चीज प्रकृति के द्वारा स्वाभाविक रूप से नियन्त्रित होती है, वहाँ उन्हें अपनी तरफ से कुछ करना नहीं पड़ता, किन्तु मनुष्य एक विकसित मनोमय प्राणी है। ऐसा मन मनुष्य को प्राप्त है, जो कुछ भी सोच सकता है। मनुष्य अपने उपलब्ध ज्ञान के अनुसार सुखप्रद विषय को पाने के लिए संकल्प करता है, दुःखप्रद समझता है तो उसका त्याग करता है। बाह्य आलम्बनों से या अपने संस्कारों से मनुष्य के मन में संकल्प उठते रहते हैं। इस प्रकार सुखप्रद चीजों को बार-बार दोहराता रहता है। यह स्थिति है।

मनुष्य शरीर में काम की उत्पत्ति का कारण है- जीवन में नीरसता। कोई भी इस बात को अनुभव करके देख सकता है। जिन क्षणों में या जिन दिनों में व्यक्ति में सरसता होती है। वह सरसता किसी मन चाहे कार्य को करते समय अपने आपको भूल जाने के कारण उत्पन्न हो सकती है या किसी दुःखी की निष्कामभाव से की गई सहायता के कारण उभर सकती है या किसी रुचिकर विषय के स्वाध्याय के समय प्रकट हो सकती है या किसी कवि को कविता करते समय, किसी चित्रकार को चित्र बनाते समय, किसी खिलाड़ी को खेलते समय, किसी व्याख्याता को अपने विषय का प्रतिपादन करते समय, किसी भक्तिभाव से ओत-प्रोत भजन गाते समय, गोसेवा या मन चाहा कृषि कर्म या मनोवाञ्छित वृक्षारोपण फुलवारी आदि की देखभाल करते समय, शान्त मन से किये जाने वाले ध्यान के समय, किसी के प्रति निश्छल वासनारहित प्रेम के क्षणों में, अपना कर्तव्य ठीक-ठीक पूरा करने के समय, किसी अरण्य, वन, उपवन, नदी, पर्वत आदि रमणीय स्थान में शान्त मन से अकेले भ्रमण करते समय या अदर्शन मौन के कारण वृत्तियों के शान्त हो जाने के समय, इस सूची को और भी विस्तार के साथ देखा जा सकता है, किसी भी कारण से जब सरसता होती है तो व्यक्ति उस समय काम रहित होता है। उसकी सत्ता में दूर-दूर तक भी कहीं काम का दर्शन नहीं होता है। किन्तु मनुष्य अज्ञान के कारण अपनी नीरसता को मिटाने का एक ही उपाय समझता है कि उसे इन्द्रियों का नया-नया सुख मिलता रहे। नहीं मिलता तो उसकी नीरसता और

भी बढ़ती चली जाती है। उसी के परिणामस्वरूप कभी तनाव, कभी विषाद, कभी क्रोध, खिन्नता, बेचैनी, अनिद्रा, चिड़चिड़ापन, चञ्चलता, अकेलापन, असुरक्षा का भाव- ये सब व्यर्थ चीजें उसके ऊपर टूट पड़ती हैं।

जब व्यक्ति अहं से मुक्त होता है तो उस समय व्यक्ति एक निराले आनन्द से भर जाता है। और यह सत्य है कि काम के द्वारा व्यक्ति कुछ क्षणों के लिए अपने को भूल जाता है, किन्तु उससे बहुत सारी ऊर्जा का अपव्यय, जड़ता, शक्तिहीनता, पराधीनता और अभाव का अनुभव भी सभी को प्रत्यक्ष है। ये सभी दुःख के ही तो रूप हैं, अतः यह सिद्ध हो जाता है कि कामसुख दुःखमुक्ति का, नीरसता को मिटाने का सच्चा उपाय नहीं, केवल तात्कालिक और वह भी क्षणिक समाधान है, जैसे किसी को खुजली लगी और खुजला लिया। खुजली कभी खुजली मिटाने का उपाय या समाधान नहीं है, वह तो उसको कई गुणा बढ़ा देती है। अतः नीरसता को मिटाने का कोई समाधान खोजना चाहिए।

व्यक्ति के मन में कामविषयक जो एक संकल्प पैदा होता है, यदि वह उसके प्रति उसी समय जब कि संकल्प उदय हो रहा हो, सचेत रहे तो इस काम रूपी दुश्चक्र से मुक्ति पा सकता है; क्योंकि चित्त में किसी इच्छा या संकल्प को उठते समय ही कोई देख सके तो शान्त भाव से उसको देखना ही उसकी निवृत्ति में हेतु बन जाता है। महाभारत में कहा है-

काम जानामि ते मूलं संकल्पात्किल जायसे।

न त्वां संकल्पयिष्यामि समूलं त्वं विनश्यसि।।

(महा० शान्ति० १७७.२५)

अर्थात् हे काम! मैं तुम्हारे मूल को जानता हूँ संकल्प से तुम्हारी उत्पत्ति होती है। संकल्प मैं करूँगा नहीं तो तुम समूल ही नष्ट हो जाओगे। सभी विकार सविषयक होते हैं, निर्विकारता निर्विषयक स्थिति का नाम है। किसी व्यक्ति के मन में स्त्री या पुरुष बैठ जाता है तो वह काम बन जाता है, धन लोभ, सम्बन्धी जन मोह, प्रतिकूल आचरण करने वाला क्रोध का रूप ले लेता है। यदि इन धनादि को मन से निकाल दिया जाए तो निर्विकारता सहज स्वाभाविक है। निर्विकारता का ही दूसरा नाम शान्ति है। काम के सापेक्ष वह शान्ति 'ब्रह्मचर्य' है, लोभ के सापेक्ष 'सन्तोष' है, मोह का नाश करने वाली शान्ति का नाम 'निर्मोह' है और अभिमान को मारने वाली शान्ति का नाम है 'निरभिमानता'।

एक दूसरी जगह कहा है-

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।।

जो संसार में कामसुख है या और भी जो कोई बड़ा सुख है। तृष्णा के नाश से होने वाले सुख की तुलना में वह बड़े से बड़ा सुख १६वीं कला के बराबर भी नहीं बैठता। अर्थात् कामना का अन्त होते ही मनुष्य के भीतर एक महान् सुख का प्रादुर्भाव स्वतः ही हो जाता है।

अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है-

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।

अथ मर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।। (कठ०- २.३.१४)

अर्थात् जिस समय सम्पूर्ण कामनाएँ, जो कि इसके हृदय में आश्रय करके रहती हैं, छूट जाती हैं, उस समय वह मर्त्य (मरणधर्मा) अमर हो जाता है और इस शरीर में ही जीवन-मुक्त होकर शरीर छूटने पर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है, आगे जन्म ग्रहण नहीं करता। फिर तो यह एक शास्त्र का प्रसिद्ध इतरेतराश्रय दोष बन गया। कामना का नाश हो तो नीरसता मिटे और नीरसता मिटे तो कामना का नाश हो। नीरसता के कारण जो काम की उत्पत्ति हो जाती है, इसका क्या समाधान निकला। यह समस्या कैसे सुलझे? इसका उत्तर है- दोनों एक दूसरे पर काम करते हुए एक दूसरे को धीरे-धीरे कम करते हुए एक दूसरे का नाश करते हुए आगे बढ़ते हैं। श्रवण-मनन के सहारे कामनाओं का प्रबल वेग कम होगा तो निश्चय ही नीरसता में कमी आयेगी और जब नीरसता मिटेगी तो उतनी ही मात्रा में उसी अनुपात में काम भी मिटता जायेगा। इस प्रकार नीरसता व काम का अन्त होने से व्यक्ति ब्रह्मप्रतिष्ठ (ब्रह्मचारी=सतत ब्रह्म में विचरण करने वाला) हो जाता है। उसका ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाता है।

अच्छा, नीरसता मिटाने के लिए साधन का आरम्भ कहाँ से करें? आरम्भ होगा- मनुष्य को विशेषरूप से जो तीन शक्तियाँ (क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति व भावशक्ति) प्राप्त हैं, उनके सदुपयोग से। क्रियाशक्ति निष्काम कर्म के रूप में फलेच्छा से मुक्त होकर सेवा में लगती रहे, जिसका फल होगा- सुन्दर समाज का निर्माण और साथ में व्यक्ति में करने के राग की निवृत्ति, जिसका परिणाम होगा- व्यक्ति को परमशान्ति की प्राप्ति। अर्थात् क्रियाशक्ति के द्वारा यह शरीर विश्व-वाटिका के लिए खाद बनकर सार्थक सिद्ध हो जाए तो

ऐसी स्थिति में नीरसता के लिए कोई जगह ही नहीं बचेगी। तात्पर्य निकला उदारता से रस की उत्पत्ति होती है और इस प्रकार उत्पन्न हुआ रस नीरसता को भगा देता है।

ज्ञानशक्ति (विचार-पथ) का उपयोग पराश्रय के त्याग में हो अर्थात् अपने में अपने को पाकर स्वाधीन हो जाएँ। जीते जी मर जाएँ अमर हो जाएँ। अभिमानरहित हो जाएँ, न बुराईरहित होने का अभिमान हो, न भलाई करने का। अचाह हो जाएँ किसी से किसी प्रकार की कोई चाह न रहे। अप्रयत्न हो जाएँ अपने देह के साथ तादात्म्य न रहे या दूसरे शब्दों में अकिञ्चन ममतारहित हो जाएँ, अहंरहित हो जाएँ, असङ्ग हो जाएँ, निर्विकार हो जाएँ, शान्त हो जाएँ, सभी अवस्थाओं से अतीत जीवन को पसन्द करें, अद्वैतभाव में स्थित हो जाएँ। सारे प्रपञ्च से विमुख होकर अकेले हो जाएँ, निरपेक्ष हो जाएँ। भाव यह है त्याग में भी रस है, जहाँ रस है वहाँ नीरसता के लिए स्थान समाप्त।

और भावशक्ति का प्रयोग अपने प्रेमास्पद को प्रेम प्रदान करने में हो। दिल देकर दिलबर को पायें। दिलबर या दिलदार तो इस समूचे अस्तित्व में एक ही है, जिसमें एक बार दिल लग जाए तो वहाँ से हटता नहीं। संसार में ऐसा कोई वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति से मिलने वाला सुख नहीं, ऐसा कोई मजा नहीं जिससे दिल एक क्षण के लिए भी हटे नहीं। कितना भी बड़ा सुख हो अन्ततः कटु (Bitter) हो जाता है। अतः एक दिलबर ही ऐसा अनन्त सुख, अनन्त प्रेम, अनन्त करुणा का भण्डार कहा जा सकता है, जिसमें एक बार दिल लग जाने पर कभी ऊबता नहीं। अर्थात् प्रेमरस के कारण सदा के लिए नीरसता समाप्त हो जाती है।

जब इन तीनों शक्तियों के सदुपयोग से व्यक्ति के राग-द्वेष शान्त हो जाते हैं तो व्यक्ति योग में स्थित हो जाता है। योग में स्थित होने पर योगरूपी अग्नि कामरूपी ईंधन को जलाकर भस्म कर देती है और उस स्थिति में व्यक्ति का विवेक जागरित हो जाता है और विवेक के जागरण से स्वतः ही व्यक्ति के असत् का त्याग और सत् का ग्रहण सहज रूप से होने लगता है। असत् का त्याग होते ही व्यक्ति या तो आत्मतृप्त, आत्माराम, आत्मारति, आत्मक्रीड होकर अपने में ही शान्त हो जाता है या अपने प्रेमास्पद की प्रीति में प्रेममय होकर झूमने लगता है। कुल मिलाकर तीन साधनों में से किसी भी एक, दो या तीनों साधनों के द्वारा नीरसता मिटाने की यह एक प्रक्रिया पूरी हुई।

नीरसता मिटाने की दूसरी प्रणाली योगशास्त्र के अनुसार क्रियायोग का अनुष्ठान अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान में रहना। अपनी आवश्यकताओं को कम करते हुए शरीर को स्वस्थ रखते हुए आहार को संयमित करके तप करना, प्रणवजप तथा मोक्षशास्त्रों का अध्ययन अर्थात् उपनिषद्- श्रीमद्भगवद्गीता आदि का स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान ईश्वर की भक्ति, उसी की प्रीति को सामने रखकर समस्त कर्म करना, कर्मों से मिलने वाले फल को भी उसी के अर्पण कर देना। इस क्रियायोग के अभ्यास से नीरसता शनैः शनैः जैसे-जैसे क्लेश क्षीण होते जाते हैं, मिटती जाती है और मन एकाग्र होता जाता है। पवित्र जीवन, शाश्वत जीवन की सच्ची प्यास या अभीप्सा और उसकी अपूर्ति में गहरी वेदना, आन्तरिक पीड़ा, भगवत्प्राप्ति के लिए व्याकुलता भी जीवन से नीरसता को भगा देती है।

नीरसता मिटाने का एक उपाय यह है कि चित्तवृत्तियों को देखें, उनके स्वरूप को समझें, उन वृत्तियों के क्लिष्ट व अक्लिष्ट भेदों को जानें। सभी क्लिष्टवृत्तियाँ जो सुख-दुःख-मोहात्मक होती हैं, सुख राग को जन्म देता है और दुःख द्वेष को, मोह अविद्या रूप है। उनका अभ्यास और वैराग्य के द्वारा निरोध करें। इस प्रक्रिया से चित्तवृत्तियों का शोधन होता जाता है, व्यक्ति में रजोगुण व तमोगुण का क्षय और सत्त्वगुण की निरन्तर वृद्धि होती रहती है, जिससे राग-द्वेष की अभावरूप आन्तरिक निर्मलता तथा उसके परिणामस्वरूप चित्त की प्रसन्नता दिनोंदिन बढ़ती जाती है। भगवान् ने भी कहा है-

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ (गीता- २.६५)

चित्त की स्वच्छता में सभी दुःखों का अन्त हो जाता है, जिससे मन प्रसन्न रहने लगता है ऐसे प्रसन्न चित्त वाले व्यक्ति की बुद्धि स्थिर हो जाती है।

नीरसता मिटाने का एक और उपाय है- हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय- इन चार घटकों में फैला हुआ जो योगशास्त्र या अध्यात्मशास्त्र है, उसको बुद्धि से समझना। अर्थात् दुःख का स्वरूप और उसके कारण को जानना और इसके साथ दुःखमुक्ति का स्वरूप तथा उसके उपाय को समझना। विवेकख्याति रूप उपाय को उपलब्ध करने के लिए अष्टाङ्गयोग का अनुष्ठान करना। इससे अशुद्धि का सतत क्षय और निरन्तर ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जाता है और

एक समय आता है कि संन्यासी को विप्लवरहित विवेकख्याति की प्राप्ति हो जाती है। स्थिर विवेकख्याति की प्राप्ति होने पर जीवन में अनन्त रस का प्रादुर्भाव होने से नीरसता शेष नहीं रहती, जीवन पूरा सरस हो जाता है। ऐसे सरस जीवन में काम के लिए कहाँ स्थान।

नीरसता मिटाने का एक अन्य साधन है- भगवान् की स्तुति-प्रार्थनोपासना। स्तुति का अर्थ है- शास्त्रोक्त रीति से भगवान् की महिमा स्वीकार करके पुनः-पुनः उस पर विचार करना, उसका गुणगान करना, जैसे हमारा प्रभु अद्वितीय है, सर्वसमर्थ है, सभी का है तो मेरा भी है, सभी में है तो मुझ में भी है, सदा है तो अभी भी है। वह अनुत्पन्न तत्त्व है, क्रिया से उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता, केवल साधक उसकी खोज, तलाश कर सकता है। अप्राप्त को किसी भजन-ध्यान आदि उपायविशेष के द्वारा प्राप्त करना नहीं है बल्कि उपायों के द्वारा प्राप्त को ही प्राप्त किया जाता है, जैसे कि अप्राप्त संसार जो भ्रान्तिवश प्राप्त समझ लिया गया है, उसका उपायों द्वारा त्याग किया जाता है। वह सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार सर्वशक्तिमान् न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर-अमर, अभय, नित्य, पवित्र, सृष्टिकर्ता है, वह हम सभी का उपास्य देव है इत्यादि।

उसको अपना हृदयेश्वर सर्वदुःखहन्ता, अपना प्रभु, अपना सुहृत्, अपना स्वामी, कृपानिधान, दयासागर, अपनी सभी समस्याओं का समाधाता, अपना प्रेमी, अपना सच्चा पथप्रदर्शक गुरु अपना परमसहायक, सखा, परमशान्ति का दाता, मुक्तिप्रद, उसकी तरफ एक कदम बढ़ाते ही दस कदम हमारी ओर दौड़कर आने वाला, हमारे राग-द्वेष-मोह के कठोर व सख्त बन्धनों को खोलने वाला, हमें परम आश्वासन प्रदाता, गुरु के अनन्त धैर्य और माता के समग्र प्रेम को एक ही साथ धारण करने वाला, पापियों को भी स्वीकार करने वाला, महोत्साहप्रद सच्ची प्रसन्नता का दाता ऐसे अद्भुत अद्वितीय सर्वगुणोपेत भगवान् से विह्वल होकर प्रार्थना करने से कठोर चित्त भी अपनी कठोरता को छोड़कर पिघल (Melt) जाता है और उसमें स्वाभाविक रूप से रस भर जाता है। क्योंकि 'रसो वै सः, रसं हि लब्ध्वानन्दी भवति'।

उपासना से उपास्य के गुण सहज रूप से उपासक में आ जाते हैं। साधक जीव जब अग्नि में पड़े लोहे की भाँति उस अनन्त रस सागर में अपने को

फेंक देता है तो उसकी सारी नीरसता का अन्त हो जाता है। एक दूसरी दृष्टि से कहें तो उपासना उपास्य के साथ उपासक का निकटतम सम्बन्ध स्थापित कर देती है, जिसके कारण साधक उसे अपना मानना प्रारम्भ कर देता है। किसी अवर का उच्च के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाए तो अवर के आनन्द का क्या ठिकाना।

इस प्रकार स्तुति-प्रार्थना व उपासना रूप साधन से नीरसता का अन्त होता है, किन्तु सदा ही यह ध्यातव्य है कि जैसे भोजन, स्नान व शुद्धि नित्य अपेक्षित होती है, वैसे ही नित्य स्तुति प्रार्थना व उपासना रूप साधन के द्वारा नीरसता का अन्त होता रहता है। जैसे अनियमित रूप से किया गया अध्ययन, अनियमित रूप से किया गया व्यायाम या भोजन फलवान् नहीं होता, वही नियम प्रकृत में भी काम कर रहा है। साधक को नियमतः यह साधन अपनाना होता है।

एक और भी नीरसता मिटाने का सहज उपाय है, जिसकी सामान्य चर्चा मनुष्य को प्राप्त तीन विशेष शक्तियों में से क्रियाशक्ति के प्रसङ्ग में कर चुके हैं। मनुष्य यदि अपनी रुचि का कोई भी कार्य गद्य-पद्य लेखन, किन्हीं विशिष्ट ग्रन्थों का स्वाध्याय, कला, नई-नई चीजें सीखना, अर्थात् हाथ-मस्तिष्क या वाणी किसी से भी सम्बन्धित नया सर्जन, कोई नया आविष्कार, सम्पूर्ण समाज को कोई नई दिशा, कोई महान् कार्य, परलोक का साधनभूत कोई अपना अभीष्ट यज्ञ-याग, किसी शास्त्र की व्याख्या, कोई सामाजिक कार्य, कोई कथा प्रवचनादि, नई-नई भाषाएँ सीखना अर्थात् कुछ नया करने और नया विषय सीखने में अद्भुत रस की उत्पत्ति होने से नीरसता नहीं रहती तो देखा गया कि काम की भी उत्पत्ति नहीं होती।

ब्रह्मचर्यसिद्धि का अन्तिम साधन है अपनी अन्तरात्मा (Psychic being) में वास। मन व बुद्धि से अतिरिक्त एक अविनाशी सत्य अखण्ड चेतना व पूर्ण आनन्द स्वरूप तत्त्व है, उसका अनुभव और उसमें स्थिति जब तक नहीं होती या आंशिक रूप से ही उस तत्त्व में स्थिति होती है तो उतनी सिद्धि की अपूर्णता रहती ही है। देहाध्यास के बने रहते कोई व्यक्ति अपने संकल्प बल से इस विषय में पूर्ण सफलता प्राप्त कर ले, असम्भव है। ब्रह्मचर्य सिद्धि का यही (आत्मस्वरूप में स्थिति ही) एक अन्तरङ्ग साधन है, शेष सबके सब बहिरङ्ग साधन हैं। बहिरङ्ग साधनों का भी अपना एक मूल्य तो है, किन्तु उन्हीं के बल पर यह कठिन चढ़ाई पार नहीं की जा सकती। आत्मस्वरूप में स्थिति के लिए

पहले यम-नियम रूप बाह्य जीवन शुद्ध होना चाहिए और मुख्यरूपेण गीता के छठे अध्याय अथवा अध्याय १८.५१ से ५५ तक तथा योगशास्त्र के अनुसार धारणा-ध्यान-समाधि का अभ्यास करना चाहिए। बुद्धि से सभी चीजों को शास्त्रमर्यादा के अनुसार समझना एक बात है और भावप्रवण होकर मन को अपनी आत्मा में लगाना, प्रतिदिन लगाना यह बिल्कुल दूसरी ही बात है। अन्तिम बिन्दु तक पहुँचने के लिए इन दोनों ही बातों की बराबर आवश्यकता है।

रामकृष्ण परमहंस व शारदा माँ, जयप्रकाशनारायण व प्रभावती बहन और इसी तरह के अन्य भी बहुत सारे विवाहित होते हुए पूर्ण ब्रह्मचर्य के उदाहरण मिल जाते हैं तथा ऐसे भी लोग हुए जिन्होंने अपने जीवन में एक ही पुत्र को जन्म अर्थात् एक ही बार इस धर्म विशेष का निर्वाह किया या विवाह के पाँच, आठ या दस वर्ष बाद युवावस्था में ही व्रत ले लिया और बड़ी ही ईमानदारी से उन्होंने उसे निभाया। इस प्रकार के सभी उदाहरणों में परस्पर के निश्चय रूप संकल्प बल से वे जीवन भर इस सुख से ऊपर उठे रहे, ऐसा नहीं हो सकता। अवश्य ही उन्हें संकल्प से सहयोग मिला है, किन्तु केवल संकल्प बल से इस दुर्धर्ष कार्य को करने में वे सक्षम हो गए, यह असम्भव जैसा लगता है। निश्चित रूप से उन्हें शरीर से भिन्न आत्म तत्त्व का स्पर्श मिल गया था। फिर उस तत्त्व का नाम चाहे वे कुछ भी रख लें। आत्मा के बड़े रस के समक्ष छोटा रस स्वतः ही सारहीन प्रतीत होता है। आत्मा तो रस के सिवा कुछ और है ही नहीं। उपलब्धि तो बहुत दूर की बात है उसकी तो प्राप्ति के लिए तीव्र व्याकुलता या उत्कण्ठा भी किसी में पैदा हो जाए तो वह भी नीरसता को खा जाती है। अतः उस अवस्था में काम की उत्पत्ति के लिए कोई जगह नहीं बचती।

इस सम्पूर्ण प्रबन्ध में वर्णित विषय-वस्तु का सार यही है कि जब व्यक्ति अपने जीवन को विविध उपायों से सरस बना लेता है, जब उसका हर क्षण सरसता में बीतता है, उदारता, कर्तव्यनिष्ठा, त्याग, विवेक (बोध), प्रेम के द्वारा जब जीवन रसमय हो जाता है तो नीरसता की भूमि में उत्पन्न होने वाला काम शेष नहीं रहता। साधन के बिना तो साध्य की सिद्धि होती नहीं। कर्तव्यपालन साधन है, त्याग-बोध साधन है या भगवत् प्रेम साधन है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, सत्ता, सम्पत्ति, सम्मान, वैषयिक सुखों की प्राप्ति से जो रस मिलता है, उसका स्वभाव कुछ ऐसा है कि उत्पन्न होता है और तत्काल

नष्ट हो जाता है। उदारता, त्याग-बोध व प्रेम से उत्पन्न रस की भाँति व्यक्ति की सत्ता के ऊपर छाया नहीं रहता। अतः वह काम का नाश करने की बजाय काम को और भी बढ़ा देता है।

आज के युग का एक जाना माना प्रसिद्ध उदाहरण **श्री स्वामी रामेदव जी महाराज** का अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहूँगा। मैं उनको बहुत करीब से जानता हूँ कि उनको मैंने कभी भी एक क्षण के लिए भी नीरसता में नहीं देखा, अतः उनके लिए काम कोई समस्या नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि पूर्ण निवृत्ति ही रस स्वरूप है ऐसा नहीं, बल्कि घनघोर प्रवृत्ति में रहता हुआ भी व्यक्ति रसमय जीवन जी सकता है या यह कह सकते हैं कि यदि कोई अपने प्रारब्ध के अनुसार प्रवृत्तिमार्गी है तो उसे भी योगेश्वर भगवान् श्री कृष्ण की तरह प्रवृत्ति में निवृत्ति की कला सीखनी होती है, जिससे उनकी प्रवृत्ति रसमय हो जाती है और वही उनके लिए काम पर विजय पाने का उपाय बन जाता है। तात्पर्य यह है साधक को कर्म (सेवा, निष्काम कर्म), उपासना (भक्ति, शरणागति) योग (अभ्यास-वैराग्य रूप साधन के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध) ज्ञान (श्रवण-मनन-निदिध्यासन के द्वारा आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रयत्न) इन चार निष्ठाओं में से किसी एक निष्ठा का अपनी प्रकृति के अनुसार प्रधान रूप से चयन तथा अन्यो को भी गौण रूप से धारण करना चाहिए।

इस **ब्रह्मचर्य-व्रत** की रक्षा के लिए छान्दोग्योपनिषद् में छः बातों पर विशेष बल दिया गया है-

- (१) **इष्ट-** अग्निहोत्र, शारीरिक, वाचिक, मानसिक तपस्या, वेदों का स्वाध्याय, वेदोक्त आचरण का अनुष्ठान, अतिथिसेवा, भूतयज्ञ।
- (२) **यज्ञ-** देवाराधन, अपने हक (अधिकार) की वस्तुओं का अन्य जनों के लिए वितरण, पञ्चभूतों की शुद्धि, समष्टि की सेवा।
- (३) **मौन-** मन में वासनाओं का स्फुरण न होना, मनोराज्य न होना, आवश्यकता से अधिक भाषण न करना।
- (४) **अरण्यायन-** शान्त, एकान्त, पवित्र निर्जन वन में वास करना।
- (५) **सत्रायण-** सत्सङ्ग में निवास करना।
- (६) **अनाशकायन-** भोजन के सम्बन्ध में एक निश्चित शैली रखना।

➤ शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्मचारी की चार शक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है-

- (१) अग्नि के समान तेजस्विता का होना।
- (२) मृत्यु के समान दोषों व दुर्गुणों के मारण की शक्ति का होना।
- (३) आचार्य के समान दूसरों को शिक्षा देने की शक्ति का विद्यमान होना।
- (४) संसार के किसी भी स्थान, वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा रक्खे बिना आत्माराम होकर रहना अर्थात् सर्वथा निरपेक्ष होकर जीना।

इस विषय के अनुभवी लोगों का कहना है- झूठे अभिमान और दम्भ से बढ़कर कोई पतन नहीं है, अतः अपनी कमजोरियों को जानना, अपने अज्ञान को पहचानना, अपना सतत आत्मनिरीक्षण करना सबसे बड़ी शिक्षा है। इस मार्ग पर चलने वाले प्रत्येक सच्चे जिज्ञासु को यह अनुभव हो ही जाता है कि रसना, आँख और स्पर्श- इन तीन इन्द्रियों का जरा-सा भी सुख बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों एवं योगियों को भी धीरे-धीरे बढ़ता हुआ बेसुध करके बन्धन-स्थान पर पहुँचा देता है। अपने ज्ञान से विपरीत आचरण करने पर व्यक्ति को अपराधबोध हमेशा घेरे रहता है और उसे अपने भीतर कभी भी चैन से नहीं बैठने देता, ऐसी अशान्त अवस्था में व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति सर्वथा अवरुद्ध हो जाती है। तैत्तिरीयोपनिषद् की भाषा में वह व्यक्ति सदा अपने अन्दर ही अन्दर जलता रहता है कि मैंने अमुक पाप क्यों किया, इस सुअवसर को मैं क्यों चूक गया इत्यादि। इस प्रकार पथभ्रष्ट होने पर कोई विरले ही होते हैं जो ऐसे एक गहन कूप में पहुँचकर फिर वहाँ से बाहर निकल सकें। अतः भावी अत्यन्त विकराल दुष्परिणाम को देखते हुए किसी भी साधक को पहले ही पूर्ण सतर्क व चौकन्ना रहना चाहिए कि अपने स्वीकृत पथ से अन्य किसी भी प्रकार का कोई संकल्प, इच्छा, विचार या भाव ही न उठे। सदा उसे यह सोचते रहना चाहिए कि मैंने आत्मा को खोजने के लिए कदम बढ़ाया है और इसमें केवल और केवल एक ही बाधा है, समस्त बाह्य अनित्य अनात्म का या ऐन्द्रियक सुखों का आकर्षण। इसके प्रति यदि मैं अपने भीतर से ही उदासीन हो जाता हूँ तो इसका पुरस्कार मिलेगा- सत्य का परम निधान, अनन्त शान्ति, चिरविश्राम, मुक्ति, भगवान् का प्रेम। अतः साधक को बार-बार अपने आप को सतत यह सुझाव देते रहना चाहिए कि केवल भगवान् को जानने, उनको पाने और उनका

काम करने के लिए ही मेरा जन्म हुआ है। मुझे अपने रोम-रोम में विषयों की दुर्गन्ध के स्थान में भगवान् की पवित्रता व प्रेम को चरितार्थ करना है।



बार-बार एक बात पूछी जाती है कि मनुष्य में काम की उत्पत्ति का कारण क्या है तथा उससे मुक्ति कैसे पा सकते हैं? शरीर व जगत् में जो सौन्दर्य व सत्यता का भास है, यही व्यक्ति में काम की उत्पत्ति में हेतु बनता है। यह जो कहा जाता है कि स्त्री के कारण पुरुष में और पुरुष के कारण स्त्री में काम की उत्पत्ति होती है, वह तो प्रकृति की एक व्यवस्था है, किन्तु उससे हटकर एक और बात पर ध्यान देना चाहिए- पहले व्यक्ति स्वयं में सुन्दरता व सत्यता का अनुभव करता है, फिर एक के बाद एक सभी कल्पनाएँ आने लगती हैं- एक विशिष्ट आकार-प्रकार रंग-रूप वाला साथी, उसके वस्त्र, उसके लिए अनुकूल परिस्थितियाँ इत्यादि, अर्थात् अपने से बाहर भी उसी सत्यता और सुन्दरता की जो अवधारणा उसने परम्परा से सुनी है, खोजना शुरू कर देता है। जैसे किसी देश या जाति में कृष्ण वर्ण को सुन्दर माना जाता है तो कहीं श्वेत, कहीं केशों का एक विशिष्ट प्रकार तो कहीं दूसरा, कहीं नाक और ओष्ठ आदि की एक विशेष बनावट तो कहीं दूसरी, कहीं एक विशेष प्रकार का परिधान तो कहीं दूसरा। इस समस्त चर्चा के मूल में वही बात है कि शरीर व संसार में सुन्दरता व सत्यता की प्रतीति।

अब बात आती है इस काम से मुक्ति कैसे पाएँ? प्रथम तो काम से मुक्त होने की तीव्र अभीप्सा ही अपने आप में एक बहुत बड़ा उपाय है। फिर भी सामान्य रूप से अनेक उपाय हो सकते हैं, किन्तु मूल रूप से तो दो ही हैं- विचार या भगवान् से प्रेम। यदि व्यक्ति ठीक से विचार कर पाये तो विचार के द्वारा काम का नाश हो सकता है। विचार यह दिखाता है कि जो चीजें आपात दृष्टि से रमणीय लगती हैं, यदि उनकी यथार्थता देखी जाए, सुन्दर लेबल के भीतर जो चीजें भरी हुई हैं, उन्हें देखा जाए तो व्यक्ति काम के नाम पर उन्हें कैसे पसन्द कर सकता है? नहीं कर सकता। आजकल हॉस्पिटल्स में जिन डॉक्टर्स को प्रसूति विभाग में अपनी सेवाएँ देनी होती हैं वे अपना अनुभव सुनाते हैं कि

वहाँ तो नाममात्र के लिए भी काम को जगह नहीं मिलती, सब कुछ एक विचित्र बदबू से भरा होता है, बल्कि दूसरे समय काम को उत्पन्न करने के लिए उस दृश्य को हटाना पड़ता है। शरीर के सभी अङ्गों से निरन्तर जो गन्दगी बहती रहती है, वह यदि जो कि काल्पनिक नहीं है यथार्थ है, व्यक्ति की दृष्टि में बनी रहे तो काम की उत्पत्ति के लिए कोई अवकाश ही नहीं। अतः काम से मुक्ति पाने का एक तो यह रास्ता हुआ- ‘शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः’ या ‘कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः’ यही है विचारमार्ग।

दूसरा है- समस्त सौन्दर्य के मूल में विराजमान भगवान् की उपस्थिति। भगवान् को वेद में ‘सुरूपकृत्नु’ कहा है- सुन्दर रूपों का निर्माण करने वाला। एक महात्मा किसी सुन्दर युवति को बहुत गौर से देख रहा था, वह युवति बहुत बुद्धिमती थी, उसने कहा- ‘जो गैरों की सूरत पर होते हैं शैदा। वे दुनिया में सदा रज्जों अलम देखते हैं’। महात्मा ने अपना अभिप्राय प्रकट किया कि- ‘न तुझसे गरज है न सूरत से तेरी। हम तो उस मुसम्बर की कारीगरी देखते हैं’। यदि किसी का किसी भी सौन्दर्य को देखकर सौन्दर्य के निर्माता की तरफ ध्यान चला जाए तो अनुभवी लोग कहते हैं- ‘राम व काम एक साथ नहीं रहते’। यद्यपि सिद्धान्ततः यह सत्य है कि विचार के द्वारा या भागवत प्रेम के द्वारा काम का नाश हो जाता है, किन्तु फिर भी ये उपाय उन्हीं के लिए हैं, जिन्होंने कामसुख से मिलने वाले सुख और कामसुख से मिलने वाले दुःख का अपने विवेक बल से यह निर्णय कर लिया है कि दुःख की तुलना में जो सुख मिलता है, वह बहुत ही नगण्य है। अन्यथा किसी भी सुख का प्रलोभन इतना तीव्र होता है कि अनन्त दुःखों को झेल कर भी वह भारी पड़ता है। यह एक सार्वभौम सत्य है कि जब तक व्यक्ति को कहीं सुख दिखाई देता रहता है, वहाँ से उसकी कभी निवृत्ति नहीं होती। जितनी देर दुःखदर्शन उतनी देर निवृत्ति, सतत दुःखदर्शन तो सतत निवृत्ति- यह एक ऐसा समीकरण है जिसका कोई अपवाद नहीं। अतः उपर्युक्त दोनों उपायों में से किसी एक उपाय का या दोनों का ही बिना परेशान हुए, बिना ऊब के, बिना किसी बाध्यता के सचेतन होकर सतत प्रयोग किया जाता है तो निःसन्देह काम का नाश हो ही जाता है।

संन्यासी की सर्वोत्तम वस्तु

आज हम एक ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय पर चर्चा करने जा रहे हैं, जिसको सभी संन्यासी बहुत पसन्द करेंगे; क्योंकि इस लेख में संन्यासी के लिए सर्वोत्तम वस्तु की ओर उसका ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है। यह एक सामान्य नियम है कि जिस-जिस पद-पदार्थ-योग्यता-सामर्थ्य आदि को व्यक्ति सबसे अधिक महत्त्व देता है, जिसको अपने लिए सर्वोपरि लाभप्रद वस्तु के रूप में देखता है तो उस व्यक्ति की सारी शक्ति, ऊर्जा, सामर्थ्य, समय इत्यादि सब कुछ उस अभीप्सित वस्तु को पाने में लग जाता है। अतः किसी के लिए किसी प्रकार यदि यह निर्धारित हो जाए कि तुम्हारे लिए यह सर्वोपरि लाभ की वस्तु है तो उसे समझ लेना चाहिए कि जीवन की एक बहुत बड़ी महनीय उपलब्धि (Great achievement) हो गई है। अभी उस वस्तु की प्राप्ति नहीं हुई है, केवल ज्ञान में यह बात आई है कि तेरा समग्र जीवन मात्र केवल इसी लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए है। अर्थात् केवल निश्चय हुआ है कि यदि यह लक्ष्य सिद्ध हो गया तो तुम्हारा जीवन सफल समझा जाएगा और यदि यह सिद्ध नहीं हुआ तो जो जीवन तुम्हें महान् सौभाग्य के रूप में मिला था, तुमने उसका सम्मान नहीं किया और वह अवसर तुम्हारे हाथ से निकल गया। अतः आइये! संन्यासी के लिए सर्वोत्तम वस्तु अर्थात् उसके जीवन की सिद्धि क्या है, इस विषय को आगे बढ़ाते हैं-

क्या गङ्गा किनारे एक सुन्दर रमणीय आश्रम को संन्यासी की सर्वोत्तम वस्तु मानी जा सकती है? नहीं, क्योंकि जिस किसी के पास भी खूब सारी अपार धन-सम्पदा हो, वह उसके द्वारा सुन्दरतम आश्रम का निर्माण कर सकता है, इसमें संन्यासी की क्या भूमिका रही? कुछ भी नहीं। जो वस्तु अर्थ या साधनों के द्वारा बनाई जा सकती है, वह तो संन्यासी के व्यक्तित्व से बाहर की वस्तु हो गई, उसे हम संन्यासी की वस्तु नहीं कह सकते। अकस्मात् गङ्गा में बाढ़ आ जाए, तेज भूकम्प आ जाए, भूचाल आ जाए तो १०-१५ सेकेण्ड में ऐसा तबाह हो सकता है, जैसे वहाँ कुछ था ही नहीं। संन्यासी की सर्वोत्तम वस्तु वह हो सकती है जो एक बार उसे मिल गई तो फिर उसे कभी भी कोई

बड़ी से बड़ी प्राकृतिकशक्ति, राज्यशक्ति, चोर-डाकुओं के रूप में आसुरी शक्ति छीन न सके। धन से निर्मित सुन्दर से सुन्दर वस्तु भी कालान्तर में बेशक लम्बी कालावधि के बाद ही सही, किन्तु नाश को प्राप्त हो ही जाती है। यहाँ आश्रम को उन सभी वस्तुओं का उपलक्षण समझ लेना चाहिए जो श्रम से साध्य हैं। श्रम के द्वारा जिनको उत्पन्न किया जाता है। अर्थात् बाह्य श्रम साध्य कोई भी वस्तु संन्यासी की सर्वोत्तम वस्तु (सिद्धि) के रूप में नहीं मानी जा सकती।

क्या दिग्दिगन्त में फैली हुई कीर्ति को संन्यासी की सर्वोत्तम वस्तु माना जा सकता है? नहीं, यह भी नहीं हो सकती; क्योंकि कीर्ति भी किसी न किसी नई खोज के आधार पर या किसी गुणविशेष या किसी क्रियाविशेष के आधार पर होगी। जो किसी ने नहीं किया वह उसने कर दिखाया, इस संन्यासी ने जीवन भर अन्न क्षेत्र चलाया, निर्धन बच्चों के लिए पाठशालाएँ चलाई, निर्धनों के लिए मकान बना-बनाकर दिए, हॉस्पिटल बनाए इत्यादि। कीर्ति का सम्बन्ध कर्मविशेष के साथ जुड़ा हुआ है। समाज के लिए जो कोई कुछ करता है, उसकी कीर्ति होती है। इस प्रकार कीर्ति में भी साधन, सामर्थ्य, योग्यता, श्रम या क्रिया आदि निमित्त बनते हैं, वे सब के पास एक जैसे होते नहीं। अतः यह एक ऐसी वस्तु हो गई जो सभी संन्यासियों को तो समान रूप से मिलेगी नहीं। संन्यास मार्ग में चलकर भी अर्थात् संन्यास धर्म का पूर्णतः पालन करके भी कुछ संन्यासी सफल माने जाएँगे, कुछ असफल। सिद्धि में भेद आ जायेगा। संन्यासी की सर्वोत्तम वस्तु कोई ऐसी होनी चाहिए जो सबको समान रूप से मिल जाए। कम सामर्थ्य वाले को भी, अधिक सामर्थ्य वाले को भी, कम योग्यता वाले को भी, अधिक योग्यता वाले को भी, अतः कीर्ति को भी संन्यासी के लिए सर्वोत्तम स्थान पर नहीं बिठाया जा सकता।

विद्या के बारे में पूछें तो उसकी भी वही स्थिति है। वह भी सबकी समान नहीं हो सकती। जिनके पास उत्तम बुद्धि होती है, वे विद्वान् हो जाते हैं, कम होती है तो कम विद्वान् रह जाते हैं। बुद्धि एक प्राकृतिक वस्तु है। प्राकृतिक वस्तुएँ सबके पास समान रूप से नहीं होती जैसे शरीरादि सबके अलग-अलग हैं। अतः यहाँ भी कीर्ति की भाँति सिद्धि में भेद आ जायेगा, सभी संन्यासियों को समान सिद्धि नहीं मिल सकेगी।

उत्तम स्वास्थ्य के बारे में पूछें तो उसकी भी वही स्थिति है। वह भी प्राकृतिक वस्तु है। सिद्धि सबको समान नहीं मिल पायेगी। सिद्धि अवश्य ही सबको समान रूप से मिलनी चाहिए। ध्यान रहे सर्वोत्तम वस्तु को ही हम बीच-बीच में सिद्धि शब्द से कह रहे हैं।

तो क्या समाधि में १२-१२ घण्टे बैठ सकता है इसे सिद्धि कहें, इसे संन्यासी की सर्वोत्तम वस्तु कहें। समाधि भी एक अवस्था विशेष है, अवस्थाएँ सदा बदलती रहती हैं। इस प्रकार परिवर्तनशील वस्तु समाधि भी संन्यासी की सर्वोत्तम वस्तु नहीं कही जा सकती।

इस अध्ययन से यह बात उभर कर आई कि संन्यासी की सर्वोत्तम वस्तु या सिद्धि शब्द से कहें, वह हो सकती है जिसको श्रम से उत्पन्न न किया गया हो, प्राकृतिक संसाधनों के द्वारा जिसको सिद्ध नहीं किया गया हो, भाषा आदि सीखने के लिए जैसे समय लगाना पड़ता है, वैसे काल में से गुजरकर जिसको नहीं पाया गया हो, किसी देश विशेष से जो निरपेक्ष हो। जो सभी अवस्थाओं से अतीत हो। बौद्धिक सामर्थ्य-योग्यता आदि के भेद का जिसके ऊपर असर न पड़े। इस प्रकार निश्चित ही उसे ऐसी कोई अनुत्पन्न वस्तु होना चाहिए, जिसकी हम इस चर्चा के द्वारा खोज कर रहे हैं। केवल अपनी प्रबलतम माँग के द्वारा अकाम होकर अपनी ऊर्जा को संसार की सेवा में अर्पित कर देने से और उस त्याग का भी जरा-सा भी किसी प्रकार का अभिमान न करने से और अपने हृदय को स्वच्छ-पवित्र करके उसमें भागवत-प्रेम की ज्योति को सतत जलाकर रखने से उस तत्त्व को पाया जा सकता है।

वह है तो एक ही, किन्तु उसको सत्य अर्थात् अखण्ड अविनाशी जीवन, पूर्ण अखण्ड चेतना, पूर्ण अखण्ड आनन्द, अमृतत्व, मुक्ति, अपवर्ग, परमशान्ति, चिरविश्राम, नैष्कर्म्य, ब्रह्मप्राप्ति, क्षेमप्राप्ति, अप्रयत्न, निर्वृति, परमकल्याण, परमतृप्ति, निवृत्ति, परं प्रशान्तं, शिवं-शान्तं-अद्वैतं इत्यादि अनेक नामों से कहा जा सकता है। जैसा कि ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त में स्पष्ट ही कहा है-

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋ०-१.१६४.४६)

अर्थात् एक ही सत्य को ज्ञानी पुरुष अनेक रूपों में वर्णन करते हैं। अर्थात् एक ही वस्तु के अलग-अलग पहलुओं को अलग-अलग शब्दों से प्रकट करते हैं।

किन्तु मुक्ति, परमशान्ति, चिरविश्राम आदि भी तो साधना करते-करते काल में प्राप्त होते हैं। इस स्थितिविशेष को अनुत्पन्न तत्त्व कैसे कह रहे हैं? इसका उत्तर यह है कि जिसको हम साधना कहते हैं, वह चित्त-शोधन की एक प्रणाली है। साधना के द्वारा चित्त के रजोगुण-तमोगुण को शिथिल तथा सत्त्वगुण को उभारा जाता है। अर्थात् साधना चित्त की चञ्चलता व जड़ता को नष्ट करती है, उसके पश्चात् चित्त में मौजूद सत्त्व स्वतः ही उभरकर ऊपर आ जाता है। साधना नहीं करते तो चित्त का प्रवाह भोगेच्छाओं की पूर्ति में होता है, उसके कारण सत्त्व (ज्ञान प्रकाश) मन्द होता जाता है। जब सत्त्व मन्द हो जाता है तो स्वाभाविक रूप से चित्तस्थ रजस्-तमस् उभरकर सतह पर उपस्थित हो जाता है। रजस्-तमस् का उभरकर चित्त की सतह पर उपस्थित होना ही चित्त की अशुद्धि है। अतः साधना केवल चित्त को माँजने का काम करती है। चित्त के शान्त और स्थिर होने पर जो परमशान्ति पहले से ही आत्मतत्त्व के रूप में मौजूद थी, प्रकट हो जाती है, जैसे आकाश में बादलों के हटने से सूर्य दिखाई देने लगता है। हम यह कह सकते हैं आत्मा को उत्पन्न नहीं करते बल्कि उसकी खोज की जाती है, उसके लिए मात्र तीव्र जिज्ञासा की जाती है। जैसा कि छान्दो ० श्रुति में कहा है- ‘सोऽन्वेष्टव्यः, स विजिज्ञासितव्यः’

केनोपनिषद् में उस आत्मतत्त्व पर प्रकाश डालते हुए साधक को एक दिशा दी। इस विशाल संसार में दो प्रकार की चीजें हमारे समक्ष हैं, एक विदित श्रेणी में आती हैं, दूसरी अविदित अर्थात् एक स्थूल व सूक्ष्म कार्य जगत् जो जानने में आता है, दूसरा कारण जगत् जो जानने में नहीं आ पाता है, किन्तु विदित-अविदित से पृथक् भी एक श्रेणी रह जाती है और वह है- जानने वाले की। ज्ञाता का समावेश न विदित में हो सकता है और न अविदित में। अर्थात् वह कभी भी बुद्धि का ज्ञेय नहीं होता बल्कि ज्ञेयमात्र से पृथक् ही एक ऐसा ज्ञान है, जिसके प्रकाश में सब कुछ जाना जाता है। श्रुति में स्पष्ट ही कहा है- ‘अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि’ बस यही है संन्यासी की सर्वोत्तम वस्तु जो एकरस परिपूर्ण, दुःख मुक्त, ज्ञातास्वरूप शान्त चैतन्य।

संन्यासी का अपरिग्रह

संन्यासी के साथ एक विशेषण के रूप में सारगर्भित शब्द का प्रयोग देखा जाता है- ‘अपरिग्रही’ हम इसे हेतुगर्भ विशेषण के रूप में भी देख सकते हैं; क्योंकि उसके पास किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं है, इसलिए वह संन्यासी है। परिग्रह शब्द का सामान्य अर्थ है- सब ओर से चीजों को ग्रहण करना, पकड़ कर रखना। यदि हम यह देखें कि वह कौन-सा वस्तु-संभार हो सकता है या उसके द्वारा ग्रहण करने की सम्भावना है, जो अब उसके लिए अग्राह्य बन गया है।

मनुष्य मात्र क्योंकि संन्यासी भी मनुष्य जाति का ही एक भाग है, जब संसार में आता है तो कुछ चीजें तो उसे जन्म से ही (By birth) मिलती हैं, वे स्वाभाविक क्रम में विकसित होती रहती हैं। उस विकास क्रम में अपने साथी-संगियों, माता-पिता, विद्यालय, सभा-सोसायटी, समाज, कार्यालय आदि के माध्यम से कुछ अनावश्यक स्वभाव, अनावश्यक आदतें तथा क्रियाएँ भी उसके पीछे लग जाती हैं। जैसे-जैसे उसका विवेक व उसकी समझ बढ़ती है, वह अपनी बुद्धि का प्रयोग करता हुआ जिन वस्तुओं या पदार्थों को, जिन गुणों को, जिन कर्मों को, जिन-जिन स्वभावों को, जिन लौकिक-अलौकिक विषयों को, जिस ज्ञान को अपने या दूसरों के लिए जितनी गहराई से उपयोगी समझता है, उसी अनुपात में उसका संग्रह करने के लिए और अनावश्यक व अनुपयोगी का त्याग करने के लिए अपनी पूरी शक्ति सामर्थ्य व समय को झोंक देता है। यह जीवन की स्थिति है।

संन्यास धर्म में दीक्षित होने के लिए उद्यत व्यक्ति के लिए समस्त परिग्रह जो उसने अपने पूर्व जीवन में ब्रह्मचारी गृहस्थ या वानप्रस्थ के रूप में अर्जित किया है, चाहे वह उसका स्थूल व सूक्ष्म शरीर है, उसके पास अपने महान् पुरुषार्थ से अर्जित धनसम्पत्ति है, जप-तप है, विद्या है, धर्म है, सदगुण हैं, यज्ञ-याग व दानादि पुण्य कर्म हैं, पुण्यों के द्वारा संचित यश है, यहाँ तक कि ब्रह्मतेज है, उस सब से अपना ममत्व हटाने की सीख (शिक्षा) दी जाती है, जैसे-

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् (अथर्व ०- १९.७१.१) ब्रह्मा ऋषि के द्वारा गायत्री की स्तुति में यह गीत गाया

गया है। मन्त्र में 'मया' और 'मह्यम्' पदबोध्य एक ही वस्तु है। यही है- 'परिग्रह का त्याग'। अपने स्वयं से अतिरिक्त जो कुछ है, उसको पकड़कर संन्यासी को यह अभिमान नहीं करना कि मैं ऐसा- मैं वैसा। न सुकर्मों व पुण्यों का अभिमान, न भलाई का अभिमान, बुराई के त्याग का अभिमान, न अपने द्वारा अर्जित किसी विशेषता का अभिमान, न प्राप्त यश का अभिमान, न अपनी विद्या या अपने वैदुष्य का अभिमान, न अपने सदगुणों का अभिमान, न अपने द्वारा भूतकाल में किसी विशिष्ट कार्य के लिए प्रदत्त धनराशि का अभिमान, न धन-वैभव का अभिमान और न उसके त्याग का अभिमान, न किसी बड़े पद का अभिमान और न उस पद के त्याग का अभिमान, न विनम्रतादि गुणों का अभिमान, न एकान्तवास और अदर्शन मौन का अभिमान, न किसी बड़े गुरु का शिष्य होने का अभिमान- इन सभी अभिमानों में सबसे ज्यादा जो सूक्ष्म अभिमान है, वह है 'किसी भी प्रकार के त्याग का अभिमान' चाहे वह सुख-सुविधाओं के त्याग का अभिमान अथवा पद-प्रतिष्ठा के त्याग का अभिमान या और कोई। सुख-सुविधाओं का त्यागना, पद-प्रतिष्ठा का त्यागना- यह एक बात है और उस त्याग का अभिमान न करना- यह बिल्कुल दूसरी बात है। त्याग करके भी व्यक्ति उस त्याग का अभिमान कर सकता है। संचित सामग्री, विद्या, बुद्धि, बल, पराक्रम, विविध गुण, उदारता, कर्मठता, विद्वत्ता आदि के आधार पर किए गए अभिमान का पता चलता है, जिसका पता चलता है, उसका त्याग भी किया जा सकता है, किन्तु त्याग का भी अभिमान होता है इसका पता ही नहीं चलता। अतः उसका त्याग होना भी दुष्कर हो जाता है, अतः यह भी अपरिग्रह का ही हिस्सा है कि किसी भी त्याग के अभिमान का त्याग।

अपरिग्रही होते ही व्यक्ति एक प्रकार से जीते जी मर जाता है और उस मरण से अमर पद को पा लेता है। इसी के लिए किसी सन्त ने कहा है- जीते जी मर जाए, अमर हो जावे। 'जीते जी मरना' का अर्थ है व्यक्ति अचाह, अकिञ्चन व अप्रयत्न हो गया। यह है अपरिग्रह का फल-

१. मेरा कुछ नहीं है। २. मुझे कुछ नहीं चाहिए। ३. मैं कुछ नहीं हूँ

यदि कोई परिग्रह करना भी चाहे तो एक जगह, केवल मात्र एक जगह परिग्रह कर सकता है, वह है- 'सर्वसमर्थ प्रभु मेरे अपने हैं'। अपरिग्रही की ममता अपने प्यारे प्रभु को छोड़कर और किसमें हो सकती है? किसी में नहीं। शरीर के साथ तादात्म्य टूटते ही व्यक्ति अप्रयत्न हो जाता है, अवस्थाओं

(जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति) से अतीत जीवन मिल जाता है। जिसकी कहीं ममता नहीं है तो वह स्वतः निर्विकार हो जाता है, निष्काम होने से अहंता मिट जाती है और अहंता मिटते ही असंग हो जाता है। ऐसा व्यक्ति सब तरफ से निरपेक्ष हो जाता है। एक अपरिग्रह को अपनाते ही साधक पूर्ण स्वाधीन चिन्मय जीवन को अपने से अपने में पा लेता है। तात्पर्य यह है कि मुक्त जीवन की प्राप्ति के लिए किसी भी साधक को परिग्रह के त्याग पर ध्यान देना ही होगा।

भगवान् का प्रेमी होने के लिए भी अपरिग्रही होना आवश्यक है। संसार के पद-पदार्थ, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति, प्रतिष्ठा आदि में जिसका मन अटका हुआ है। जो इन तमाम बोझों को अपने ऊपर से उतारकर हल्का नहीं हो गया वह इस कठिन भागवत पर्वत की चढ़ाई को कैसे पार कर पायेगा या इन बोझों को लेकर इस संसार सागर के परले पार कैसे जा पायेगा? परिग्रह आत्मा पर एक बोझ की तरह लद जाता है, जिसके कारण एक-एक कदम भी आगे बढ़ा पाना आत्मा के लिए अत्यन्त दुष्कर हो जाता है।

संस्कारों का बोझ भी संन्यासी के लिए अप्रत्यक्ष परिग्रह का ही एक रूप है। यह ऐसा सूक्ष्म बोझ है जो समस्त भूतकाल के रूप में संन्यासी के सिर पर चढ़कर बैठा रहता है। यह कठिन बेड़ियों की तरह होता है जो व्यक्ति को जहाँ वह खड़ा है, उससे इधर-उधर हिलने नहीं देता। अध्यात्म की चढ़ाई पर आगे बढ़ने के लिए इस बोझ को भी, परिग्रह के इस रूप को भी साधक को समझना होता है और उसे अपने ऊपर से उतारने की विशिष्ट कला सीखनी होती है। योगसाधना ही वह कला है, त्याग व भक्ति ही वह मूलसूत्र है, जिससे साधक इस अदृश्य बोझ को भी अपने ऊपर से उतार कर दूर फेंक सकता है।

किसी पात्र में यदि पहले से ही कोई वस्तु मौजूद है तो स्पष्ट है उसमें दूसरी वस्तु नहीं डाली जा सकती। भागवत प्रेम, भागवत आनन्द, भागवत करुणा, एक शब्द में दिव्यत्व को अपने अन्दर प्रतिष्ठित करने के लिए, अपने में दिव्यत्व का आवाहन करने के लिए अपने मनरूपी पात्र को तमाम प्रकार के परिग्रह से रिक्त करके एक दम उसे अपने निजरूप में खाली पात्र के रूप में रखना होता है। प्रार्थना को चरितार्थ करने के लिए मन यदि खाली है तो उपयुक्त परिस्थिति तैयार है, अवश्य प्रत्युत्तर मिलेगा।

संन्यासी-शान्तिदूत

संसार में एक-एक व्यक्ति की भूमिका जब हम देखते हैं तो हर एक व्यक्ति का अपना-अपना अलग ही संसार दिखाई देता है। ऋषियों ने ये जो मनुष्यों का वर्णों व आश्रमों में विभाजन किया है, वह उनके भूमिका भेद के आधार पर ही है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र या प्रत्येक वर्ण के साथ सम्बद्ध आश्रमों के अनुसार ब्रह्मचारी-गृहस्थ-वानप्रस्थ अथवा संन्यासी की जो पृथक्-पृथक् भूमिकाएँ हैं, वे हर एक जीव की जन्म-परम्परा के विकास क्रम में से गुजरते हुए जो उनके गुण-कर्म-स्वभाव बनते हैं, उसी का परिणाम हैं। हम बाल्यकाल से ही बच्चों की अलग-अलग अभिरुचियों पाते हैं, वे ही विकसित होती हुई आगे चलकर उनके द्वारा किये गये सामाजिक अभिनय का रूप ले लेती हैं। कोई व्यक्ति तटस्थ होकर पूरे मानव समाज को आँख उठाकर देखे तो पता चलता है- कितने प्रकार के लोग हैं, जो अपने-अपने कामों में व्यस्त हैं। वे सबके सब अपनी-अपनी कामनाओं को लेकर उनकी पूर्ति के द्वारा जीवन का सुख खोज रहे हैं, किन्तु जीवन का कोई ऐसा रूप है नहीं कि कामनाओं की पूर्ति से जो सुख मिलता है, वह विशुद्ध सुख के रूप में प्राप्त हो सके। उसमें दुःख का मिश्रण रहता ही है।

ब्राह्मण की भूमिका मुख्य रूप से ब्रह्म की खोज, ज्ञान के प्रचार-प्रसार अर्थात् अपने स्वयं की तरह ही दूसरों को ज्ञानी बनाने के रूप में, क्षत्रिय की समाज को न्याय और नेतृत्व प्रदान करने के रूप में, वैश्य की समाज के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के रूप में और शूद्र की अपनी शारीरिक सेवाओं के रूप में होती है। जैसे वर्णों की यह स्थिति है, वैसे ही आश्रमियों की भी परस्परता में एक दूसरे के सहयोग से जीवन की गाड़ी चलती है।

अब हम जानना चाहते हैं कि समाज में संन्यासी की क्या भूमिका है। प्रधानता से किस बिन्दु को लक्ष्य कर संन्यासी का अभिनय होता है? संन्यासी मनुष्यों में ब्रह्म के प्रति प्यास जगाना चाहता है। उस जीवन के लिए प्यास जो सर्वत्र= सब देश में, सर्वदा= सब काल में मौजूद है, जो सत्यस्वरूप, अविनाशी,

अखण्ड रूप में एक ही है, जिसको सभी लोग अपने में पा सकते हैं, जो सब मनुष्यों का निज स्वरूप ही है, जो अखण्ड, पूर्ण, परम चैतन्य रूप है, जो अखण्ड पूर्ण आनन्द है, जो प्रेममय, करुणामय है, जो परमशान्त शिवस्वरूप है, जो 'मैं' इस प्रतीति का आधार है, जो इन्द्रियों का विषय नहीं है, किन्तु इन्द्रियों का अपना-अपना कार्य उसी से हो रहा है। जैसे आँख उसको नहीं देख सकती, किन्तु आँख के रूप में वह सबको देख रहा है। कान उसको नहीं सुन सकता, किन्तु कान बनकर जो सुन रहा है। मन उसका मनन नहीं कर सकता, मन के रूप में जो मनन कर रहा है, बुद्धि जिसको जान नहीं सकती अर्थात् जो बुद्धि का विषय नहीं बनता, किन्तु बुद्धि के रूप में जो सब कुछ को जान रहा है। अर्थात् जिससे सभी ज्ञान व अनुभूतियाँ होती हैं, वह ब्रह्म है न कि जो कुछ भी जानने में और अनुभव में आ रहा है अर्थात् भासमान पदार्थ। जो अदृश्य है, अग्राह्य है, अलक्षण है (किसी भी लक्षण से रहित है) अव्यपदेश्य है (शब्द जिसको बताने के लिए अपर्याप्त हैं) अव्यवहार्य है, अचिन्त्य है। इस तथ्य को प्रकट करने से लिए बोले गए बृहदा० श्रुति (३.८.११) के शब्द हैं-

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातं, नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्त्र नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन् खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति।

संन्यासी ऐसे उस तत्त्व के प्रति प्यास जगाता है, जिसके बारे में या जिसकी महिमा का वर्णन करते हुए सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य थकता नहीं है। जिसके विषय में गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा था-

हे याज्ञवल्क्य! जो द्युलोक से ऊपर है, जो पृथिवी से नीचे है और जो द्युलोक और पृथिवी के मध्य में है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य, इस प्रकार कहते हैं, वे किसमें ओत-प्रोत हैं?

याज्ञवल्क्य ने कहा-

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्०। (बृहदा०- ३.८.४)

अर्थात् हे गार्गी! जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे और जो द्युलोक

और पृथिवी के मध्य में है और स्वयं भी जो द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भू, वर्तमान एवं भविष्य, इस प्रकार कहते हैं, ये सब आकाश में ओत-प्रोत हैं।

और इससे आगे जब गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि जिस आकाश में सब कुछ ओत-प्रोत है, वह आकाश किसमें ओत-प्रोत है? तो याज्ञवल्क्य का उत्तर था- गार्गी! इस तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं- वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम (अन्धकार) है, न वायु है, न आकाश है, न जतु (लाक्षा) के समान सङ्गवान् है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख (द्वाररूप) है, न माप (जिसके द्वारा किसी को मापा जाता है, वह मापने का साधन भी नहीं है), उसमें न अन्तर है अर्थात् छिद्ररहित है, न बाहर, वह कुछ भी नहीं खाता, उसे कोई भी नहीं खाता। अर्थात् वह समस्त विशेषणों से रहित है।

हे गार्गी! यह जो सर्वान्तर साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्मरूप अक्षर जाना जाता है, जो क्षुधादि धर्मों से रहित आत्मा है, हे गार्गी! जैसे कि राजा के प्रशासन में राज्य अखण्ड और नियमित रूप से रहता है, वैसे ही इस अक्षर के शासन सूत्र में बंधे हुए सूर्य और चन्द्र अपने-अपने स्थानों में ठहरे हुए हैं। इसी अक्षर के शासन सूत्र में बंधे निमेष, मुहूर्त, रात्रि, अर्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर ठहरे हुए हैं। हे गार्गी! इसी अक्षर के शासन सूत्र में बंधी नदियाँ सफेद बर्फीले पर्वतों से पूर्व को, पश्चिम को और भिन्न-भिन्न दिशाओं को बह रही हैं। हे गार्गी! अक्षर के प्रशासन सूत्र में बंधे हुए मनुष्य दानियों की प्रशंसा करते हैं, देवलोग यजमानों की प्रशंसा करते हैं।

हे गार्गी! इस अक्षर को जाने बिना जो इस लोक से चला जाता है, वह कृपण (दयनीय) है और जो इसे जानकर जाता है, वही ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) मनुष्यों में श्रेष्ठ है।

जो असीम है, निरतिशय है, महान् है, सुखस्वरूप है। जिस परमशुद्ध अवस्था में आत्मा अन्य वस्तु को न देखता है, न सुनता है, न जानता है, वह भूमा है अर्थात् जो कि वह स्वयं से स्वयं में अपनी ही महिमा में तृप्त रहता है। संन्यासी लोगों में ऐसे उस भूमा की प्यास जगाता है।

जो तत्त्व ज्ञानैकगम्य है, जो अखण्ड शान्ति है, जहाँ अशान्ति प्रवेश नहीं कर सकती। किसी भी कर्म के द्वारा जिसको उत्पन्न नहीं किया जा सकता (नास्त्यकृतः कृतेन- मु०) बल्कि जिसकी खोज की जाती है, उसको जानने की इच्छा की जाती है। 'सोऽन्वेष्टव्यः, स विजिज्ञासितव्यः' (छा०-८.७.१) निष्काम कर्म और भक्ति दोनों मिलकर जिसके अवतरण के लिए चित्त को अनुकूल बना देते हैं, शुद्ध चित्त ही वह भूमि है, जिसमें उस अभीष्ट शान्ति का अवतरण होता है। संन्यासी ऐसे उस तत्त्व की प्यास जगाता है।

व्याकरण महाभाष्य में- 'मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः' (अ०-६.१.१४९) सूत्रस्थ 'मस्करी परिव्राजकः' शब्द की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं- 'मा कुरुत कर्माणि, मा कुरुत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसी' अर्थात् मस्करी उस परिव्राजक का नाम है, जो लोगों में शान्ति की प्रशस्यता तथा कामना प्रेरित कर्मों की व्यर्थता का ही संदेश सुनाता रहता है।

जिन प्राकृतिक सत्त्वादि गुणों के द्वारा सत्य का मुख ढका हुआ है, सत्य का द्वार बन्द है। संन्यासी सत्य के उस बन्द द्वार को उद्घाटित करने के लिए लोगों के भीतर जिज्ञासा जगाता है। (हिरण्मयेन पात्रेण- ईशो०)

जो आत्मा न नेत्र से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से और न तप अथवा कर्म से ही। ज्ञान के प्रसाद (निर्मलता) से जब व्यक्ति विशुद्धचित्त हो जाता है, तभी वह ध्यान के द्वारा अनुभव कर पाता है। संन्यासी इस आत्मतत्त्व के अनुभव करने हेतु जिज्ञासुओं के हृदय में जिज्ञासा पैदा करता है। (मु०-३.१.८)।

सारे शास्त्रों के सार के रूप में शान्ति का तो एक ही सूत्र समझ में आया कि व्यक्ति आत्मा के ऊपर 'मैं और मेरे' के रूप में जो अनेकानेक उपाधियाँ ओढ़े रहता है, उनको उतार फेंके, फिर जो शेष रहता है, वह शान्ति के सिवा और क्या बचता है। संन्यासी शान्तिदूत बनकर जीवनभर बड़े ही आत्मसम्मान के भाव के साथ अपने इस प्रियतम कार्य को अहर्निश सतत करता चला जाता है। मनुष्य जीवन की अन्तिम प्यास यही तो है कि वह शान्ति में जाए। लोगों को उसका उपाय ज्ञात नहीं है, उस कार्य को संन्यासी ने अपने लिए चुनकर रखा है। यही है अस्तित्व में संन्यासी की गौरवपूर्ण भूमिका।

संन्यासियों की स्थिति

प्रत्येक विषय में ही अवान्तर विभाग अनेक होते हुए भी अर्थात् तर-तम भेद की बहुलता होने पर भी किसी भी विषय को तीन भागों में बाँटकर देख सकते हैं- उत्तम-मध्यम-तृतीय अथवा पूर्णता मध्यम व शिक्षमाण- जैसे एक तो जो व्याकरण को पूर्ण रूप से जानता है, वह वैयाकरण होता है, दूसरा मध्यम जानकार तीसरा जो अभी सीख रहा है, वह भी वैयाकरण है। संन्यासी या योगी भी एक तो पूर्णता प्राप्त उत्तम कोटि के होते हैं, जिनका वर्णन प्राचीन संस्कृत साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों में पाते हैं। जैसे 'तत्परं पुरुष०'। यो०- १.१६ सूत्र के भाष्य में उत्तम कोटि के योगी का चित्रण प्रस्तुत किया है-

प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसङ्क्रमः, यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते, मृत्वा च जायत इति। ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव नान्तरीयकं कैवल्यमिति।

अर्थात् प्राप्तव्य प्राप्त हो गया, नष्ट करने योग्य क्लेश नष्ट हो गए और वह शृङ्खलाबद्ध संसारचक्र टूट गया, जिसके टूटे बिना जीव जन्म ले लेकर मरता तथा मर-मर कर जन्म लेता रहता है। ज्ञान की पराकाष्ठा ही परवैराग्य है। कैवल्य इसी का नान्तरीयक है अर्थात् इसी परवैराग्य का ही अविनाभावी नियतपरवर्ती है (Necessary corollary of invariable consequent)।

इसी प्रकार का चित्रण व्याकरण महाभाष्य के पस्पशाह्निक में भी प्रस्तुत है-

'एवं हि श्रूयते- यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः परापरज्ञाः विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः'। ते तत्रभवन्तः 'यद्वा नः' 'तद्वा नः' इति प्रयोक्तव्ये 'यर्वाणस्तर्वाण' इति प्रयुज्यते।

अर्थात् योगिप्रत्यक्ष से जिन्होंने सब कुछ जान लिया था, जो पराविद्या और अपराविद्या के विभाग को जानने वाले थे, श्रवण-मनन-निदिध्यासन के द्वारा जिनको वेदितव्य का पूर्ण बोध हो गया था, यथार्थता का जिन्होंने साक्षात् अनुभव कर लिया था, जो सर्वथा सभी वस्तुओं से निरपेक्ष हो गए थे इत्यादि

निरुक्त में भी कहा है- **साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः।** जिन्होंने धर्मतत्त्व साक्षात् कर लिया ऐसे ऋषि हुए। ऋग्वेद के ज्ञान सूक्त के एक मन्त्र में तीन प्रकार के लोगों का चित्रण किया है, कुछ लबालब भरे हुए ज्ञानसमुद्र में

स्नान करते हैं, कुछ ऐसे तालाब में जिसमें मुख तक पानी आता है और कुछ ऐसे सरोवर में जिनका पानी काँख तक ही आता है। मनुष्यों को आँख व कान तो सबको समान प्राप्त हैं, किन्तु मन के वेगों में सब अलग-अलग हो जाते हैं।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।

आदध्नास उपकक्षास उ त्वे हृदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे।।

(ऋ०- ८.७१.७)

उत्तम अथवा मध्यम कोटि के संन्यासियों को ही संन्यासी नहीं कहते, बल्कि जिन्होंने इस रास्ते पर चलना अभी आरम्भ किया है, जो बहुत आगे नहीं पहुँचे हैं, जो अभी शिक्षमाण अवस्था में हैं, वे भी निष्काम कर्म से धीरे-धीरे जप-तप का अभ्यास बढ़ाने से, भक्तिभाव के साथ भजन-कीर्तन से, नियमपूर्वक थोड़ी-थोड़ी सच्चर्चा, सत्श्रवण और स्वाध्याय से आगे बढ़ सकते हैं, उन्हें भी संन्यासी नाम से पुकारा जा सकता है। अपनी-अपनी पृष्ठभूमि के अनुसार अपने-अपने लिए साधन का चुनाव किया जा सकता है। साधन वही है जो किया जा सके और जिसमें ऊब न आए। साधन के चलते सम्बन्धों में जितनी-जितनी अलिप्तता और असङ्गता आती जाती है, अपने आप ही उन्नति की गति बढ़ती जाती है।

गीतादि शास्त्रों में जिन तीन प्रसिद्ध योगों की चर्चा है- कर्मयोग-ज्ञानयोग-भक्तियोग, उनका साधक के द्वारा पूरा सहयोग लिया जा सकता है। फल की आशा से मुक्त होकर सभी कर्मों को भगवान् का ही समझ कर करने से कर्मयोग के साथ भक्तियोग भी जुड़ जाता है। अपने लिए कुछ भी न चाहना, एक रूप से समस्त प्रपञ्च से अपने आपको अलग अनुभव करना, अपने में ही देहादि सभी अवस्थाओं से अतीत दिव्य अविनाशी चिन्मय जीवन को पा लेना ज्ञानयोग है। शास्त्र और सन्तों के मुख से सुने हुए प्रभु को ही अपना मान लेना और उसी के लिए अपने आपको समर्पित समझना यह भक्तियोग हो जाता है। साधक जप-तप के द्वारा मन को शुद्ध करने का उपाय अपनाता हुआ आगे बढ़ता रहता है। राग-द्वेषादि क्लेशों का जिस अनुपात में क्षय हो जाता है, उसी अनुपात में चित्त शुद्ध माना जाता है। यही संन्यासी की प्रगति की कसौटी है।

संन्यासी के मार्ग की बाधाएँ

कोई शास्त्रकार लेखक या विचारक जब किसी विषय पर विचार करने लगता है तो उसके समक्ष सिद्धि में साधक (सहायक) क्या है और बाधक क्या है, ये दो बातें अवश्य उपस्थित होती हैं। यदि ये दोनों बातें हस्तमलकवत् स्पष्ट हो जाती हैं तो किसी को भी अपने स्वीकृत मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए बहुत सुविधा हो जाती है। संन्यासी के लिए जो सहायक बातें हैं लगभग उन सब विषयों पर अलग-अलग दृष्टिकोण (Angle) से पर्याप्त चर्चा हो चुकी है, जैसे संन्यासी का निश्चय, उसकी सच्चाई, उसकी दृष्टि, कुछ प्रतीकों के आधार पर संसार में संन्यासी की जीवन शैली, संन्यासी का कर्मसंन्यास, कर्मयोग, ज्ञानसंन्यास, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, जप-उपासना, तप-दीक्षा, शुद्धिकरण की प्रक्रिया इत्यादि। यदि ये सब चीजें साधक या सहायक हैं तो इनसे जो विपरीत होगा, वह संन्यासी की सिद्धि में या लक्ष्यप्राप्ति में अवश्य ही बाधक होगा। इस प्रकार यद्यपि बाधकों का भी एक अर्थ में कथन कर ही दिया तो भी स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए नामनिर्देशपूर्वक उन सब बाधकों का पृथक् विवेचन भी हम अपने पाठकों की सुविधा के लिए कर रहे हैं-

१. आहार का असंयम- यदि संन्यासी आहार विषय में असंयत एवं असंयमी है तो उसका किसी भी इन्द्रिय विषय पर संयम हो पाना कठिन हो जायेगा और साथ में शरीर भी रोगी बना रहेगा। आहार के विषय में एक अनुभवी सन्त की प्रभावशाली वाणी है- 'एकै साधे सब सधे'। एक आहार को अच्छे से पकड़ लेने पर मन व नेत्रेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय सब पकड़ में आ जाती हैं।

२. वाणी का असंयम- जिह्वा इन्द्रिय के दो काम हैं- रसना और बोलना अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय। रसना का असंयम आहार असंयम से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वाणी का असंयम चार रूपों में प्रकट होता है। पहला है कठोर बोलने के रूप में। वाणी के इस कठोर बोलने रूप असंयम से पूरे वातावरण में क्रोध के परमाणु व्याप्त हो जाते हैं। बाण की तरह दूसरे का हृदय बिंध जाता है। आहत हुआ हृदय प्रतिक्रिया में विष उगलता है। दोनों तरफ से ही सम्पूर्ण वायुमण्डल और भी अधिक विषाक्त होता चला जाता है। क्रोध विवेक को नष्ट कर देता है जिससे वक्ता और श्रोता दोनों ही व्यक्ति

ऊँची-ऊँची आवाज में बोलते हुए दूसरों को भी प्रभावित करते हैं। वाणी के असंयम का दूसरा रूप है- व्यक्ति झूठ बोलता है तथा उसका तीसरा रूप है परचर्चा, चुगली आदि करता है, चौथा रूप है असम्बद्धप्रलाप (व्यर्थ वार्तालाप) करता है। अतः संन्यासी को सदा विचार करते रहना चाहिए कि मुझे वाणी के असंयम-विषयक इन चारों दोषों से मुक्त रहना है।

३. क्रोध- किसी भी कारणवश विच्छिन्न हुई इच्छा से क्रोध उत्पन्न होता है। भगवान् ने कहा-

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।। (गीता ०- २. ६३)

अर्थात् क्रोध से सम्मोह अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्यविषयक अविवेक उत्पन्न होता है; क्योंकि क्रोधी मनुष्य मोहित होकर गुरुजनों को भी अर्थात् अपने से बड़ों को भी गाली दे दिया करता है।

मोह से स्मृति का विभ्रम होता है अर्थात् शास्त्र और आचार्य द्वारा सुने हुए उपदेश के संस्कारों से जो स्मृति उत्पन्न होती है, उसके प्रकट होने का निमित्त प्राप्त होने पर भी वह प्रकट नहीं होती। इस प्रकार स्मृतिविभ्रम होने से बुद्धि का नाश हो जाता है। अन्तःकरण में कार्य-अकार्यविषयक विवेचन की योग्यता का न रहना बुद्धि का नाश कहा जाता है।

अतः उस अन्तःकरण की विवेकशक्तिरूप बुद्धि का नाश होने से पुरुष का नाश हो जाता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि वह व्यक्ति किसी भी पुरुषार्थ (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) के अयोग्य हो जाता है। अतः संन्यासी को क्रोध से मुक्त होने का विचार करते रहना चाहिए।

४. काम- काम का अर्थ है- पर का आकर्षण। उसका आकर्षण जिसकी स्वतन्त्र स्थिति या सत्ता नहीं है, जो अनित्य है, विनाशी है, जड़ है, वस्तु-व्यक्ति-परिस्थिति के रूप में है। आत्म से भिन्न जो भी है वह अनात्म है और उस अनात्म में सुख का दिखाई देना ही काम है, इस काम से प्रेरित होकर किया गया कर्म भी काम की ही सन्तति (Product) है, अतः काम व काम की सन्तान कामना प्रेरित कर्म और आगे की सम्पूर्ण लोभ शृङ्खला, ये सब संन्यासी के मार्ग की बाधाएँ हैं।

५. अविश्वास- परम सत्य जो 'एकमेवाद्वितीयम्' है, जिसको ब्रह्म

इत्यादि अनेक नामों से पुकारते हैं, उस अविनाशी तत्त्व में जो पूर्ण अखण्ड चेतना है, जो अखण्ड आनन्द है, जिसमें रत्तीभर भी दुःख का प्रवेश नहीं है ऐसे उस तत्त्व में अविश्वास; कर्म व कर्मफल के रूप में काम कर रहा विधान जो कि सब अवस्थाओं व परिस्थितियों में पूर्ण निष्पक्ष होकर मनुष्य का हित साधने में जुटा हुआ है, जिसके शासन को कोई लाँघ नहीं सकता, ऐसे विधान में अविश्वास; शास्त्र जो मनुष्य के लिए सनातन चक्षु बनकर मनुष्य को राह दिखा रहे हैं, उस शास्त्र में अविश्वास; अमृतत्व-मुक्ति-संस्कारक्षय-ऊर्ध्वारोहण में अविश्वास; प्रारब्ध-पुरुषार्थ-नियति में अविश्वास; साधन अभ्यास या साधना ही सिद्धि है, इस दृष्टि में अविश्वास; निष्काम कर्म (सेवा) के द्वारा चित्तशुद्धि में अविश्वास; भगवान् कृपा करते हैं, पथ प्रदर्शन भी करते हैं, प्रेरणाएँ भी देते हैं, साधक के पथ की बाधाओं व विघ्नों को हटाने में भी सहायता करते हैं, प्रत्येक साधक से व भरपूर प्रेम करते हैं, वे समय-समय पर किसी कारणवश साधक के दुःखी होने पर करुणा भी करते हैं, साधक के सच्चे होने पर वे सब प्रकार से उसकी माँग-पूर्ति भी करते हैं, ऐसे इन सभी विषयों में अविश्वास; यह अध्यात्म-पथ ही मेरा पथ है और निश्चित रूप से मुझे इसमें सफलता मिलेगी, ऐसी इस आत्मनिष्ठा में अविश्वास अर्थात् पथ पर चलने के लिए अपनी शक्ति में अविश्वास; बुराई का उत्तर भी भलाई में दिया जा सकता है, किसी की क्रिया के प्रति प्रतिक्रियारहित रह सकते हैं, समदृष्टि होकर जीया जा सकता है ऐसे इन सभी शक्य विषयों में अविश्वास; ऊपर दर्शाए गये अविश्वास के जो भी रूप हैं या इनसे अतिरिक्त भी इन्हीं की तरह कोई और भी हो सकते हैं, वे सभी अविश्वास एक संन्यासी के लिए बाधाएँ हैं।

६. योगसूत्रों में जो समाधि की बाधाएँ गिनाई गई हैं, वे सबकी सब संन्यासी की भी बाधाएँ हैं; क्योंकि यदि बाधा नष्ट हो जाती है तो चित्त भी समाहित हो ही जाता है। अतः इन बाधाओं के हटने पर संन्यासी स्वस्थचित्त होकर जीता है। जैसे-

(क) व्याधि- व्याधि एक बाधा है क्योंकि रुग्ण शरीर द्वारा योग का प्रयत्न भली-भाँति नहीं हो सकता। 'उपद्रवांस्तथा रोगान् हितजीर्णमिताशनात्' (शा०- २७४.८) अर्थात् कायिक उपद्रवों तथा रोगों को हित-जीर्ण होने के बाद कृत परिमित आहार के द्वारा दूर करना चाहिए।

(ख) स्त्यान- चित्त की अकर्मण्यता है। उत्तम कर्तव्य ज्ञान होने पर भी अत्यन्त चञ्चलता के कारण चित्त को ध्यानादि साधन में प्रवृत्त न करने या प्रवृत्त न रखने की इच्छा होना ही स्त्यान है। आलस्य व स्त्यान में यह अन्तर है कि आलस्य कायिक तथा मानसिक गुरुता के कारण आसन ध्यानादि में प्रवृत्ति का न होना है। स्त्यान में चित्त अवश होकर इधर-उधर घूमता है, अत एव साधन कार्य में उसका प्रयोग नहीं हो पाता। चैतिक आलस्य में चित्त तमोगुण के प्राबल्य से स्तब्धवत् रहता है- दोनों में यही भेद है। अप्रीतिकर होने पर भी वीर्यपूर्ण प्रयत्न करते रहने से स्त्यान हट जाता है।

(ग) संशय- शास्त्र में, गुरु में, मुक्ति आदि अतीन्द्रिय विषयों में उभयदिक्स्पर्शी विज्ञान संशय कहाता है, जैसे 'स्यादिदमेवं नैवं स्यादि'ति अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मादि की सत्ता हो भी सकती है न भी हो। संशय के रहते हुए, उपयोगी वीर्यपूर्ण प्रयत्न नहीं हो सकता। अत्यन्त दृढता और वीर्यपूर्ण प्रयत्न के बिना योग में सिद्धि पाने की सम्भावना नहीं है, इसलिए निःसंशय होना आवश्यक है। श्रवण-मनन के द्वारा तथा स्थिर और संशयहीन उपदेश के सहवास से संशय दूर होता है।

(घ) प्रमाद- अपने आत्मस्वरूप से हट जाना ही प्रमाद है। जिसको महाभारत में सनत्सुजात ऋषि के द्वारा साक्षात् मृत्यु का ही स्वरूप बताया गया है। बुद्ध 'धम्मपद' में कहते हैं- अप्रमाद अमृतपद और प्रमाद मृत्युपद है।

पातञ्जल सूत्रों के भाष्यकार व्यासदेव जी के अनुसार समाधि के लिए उपयुक्त साधनसमूह की भावना न करना तथा आत्मविस्मृत होकर विषय में लिप्त रहना ही प्रमाद है।

(ङ) आलस्य- आलस्य दो प्रकार का होता है- शारीरिक शरीर की स्थूलतादि और चित्त की गुरुता (चित्त का भारीपन) जिसके कारण आसन व ध्यानादि में अप्रवृत्ति रहती है।

(च) अविरति- विषयसन्निकर्ष के लिए विषयोपभोगरूपा तृष्णा अर्थात् संसार का राग अविरति कहाती है। विषयों से दूर रहकर वैषयिक संकल्प को त्यागने का अभ्यास करने से अविरति नष्ट हो जाती है। 'कामं संकल्पवर्जनात्' (शान्तिपर्व- २७४.५) यह शास्त्रवाक्य इस विषय में सारभूत है। स्मृति (श्रद्धावीर्यस्मृति०- यो०- १.२०) इसका प्रतिपक्ष है।

(छ) भ्रान्तिदर्शन- विपर्ययज्ञान। यथार्थ हान और हानोपाय को न जानकर निम्नपद को ऊँचा या श्रेष्ठपद मानना और श्रेष्ठपद को निम्नपद मानना भ्रान्तिदर्शन है। योगसूत्रों में जो अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनवेश पञ्च क्लेशों के रूप में पठित हैं, वे सब भ्रान्तिदर्शन के ही रूप हैं। जैसे कोई साधन के समय ज्योतिर्मय पदार्थ दर्शन कर सोचते हैं कि उन्हें ब्रह्मदर्शन हो गया। कोई कुछ आनन्द पाकर सोचते हैं कि उन्हें ब्रह्म साक्षात्कार हो गया; क्योंकि ब्रह्म आनन्दमय है। कोई कुछ औपनिषद ज्ञान प्राप्त कर सोचते हैं कि उन्हें आत्मज्ञान हो गया है। ये सब भ्रान्तिदर्शन है। ईश्वर तथा गुरु के प्रति भक्ति और श्रद्धा के साथ योगशास्त्र व औपनिषद दर्शन के अनुसार श्रवण-मनन-निदिध्यासन पूर्वक अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति से भ्रान्तिदर्शन हट जाता है।

(ज) अलब्धभूमिकता- समाधिभूमि का अलाभ। जो साधक ने लक्ष्य बनाया और वह उसे मिले ही नहीं तो एक बाधा बन जाती है; क्योंकि ऐसे में साधक का विश्वास डगमगाने लगता है। वह सोचने लगता है कि कभी ये सब कल्पनाएँ ही हों।

(झ) अनवस्थितत्व- योग की जो उच्चभूमि प्राप्त हुई, साधक उसमें ठहर नहीं पाता, वापस नीचे आ जाता है यही बाधा है।

योगशास्त्र में कहा है- ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा ये सब अन्तराय दूर हो जाते हैं; क्योंकि जिस अन्तराय का जो प्रतिपक्ष है, ईश्वरप्रणिधान से वह प्रकट होकर उस अन्तराय को दूर कर देता है। ईश्वर प्रणिधान से सात्त्विक निर्मल बुद्धि उगती है एवं योगी में इच्छाभिधात शून्यतारूप ऐश्वर्य क्रमशः सञ्चारित होता रहता है, उसी से साधकों को अन्तरायाभाव तथा अन्तरायनाश (बाधाऽभाव तथा बाधानाश) की उपायप्राप्ति- ये दोनों सिद्ध होते हैं।

(ञ) दुःख- जिसके द्वारा उद्विग्न होकर प्राणी उसकी निवृत्ति की चेष्टा करते हैं, वही दुःख है। (येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद् दुःखम्) आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक- इन तीन प्रकार के दुःखों में से किसी भी दुःख का बने रहना संन्यासी की बाधा है। कोई कहे कि दुःख को तो कोई भी पसन्द नहीं करता, संन्यासी की ही क्या बाधा है। हाँ! यह सच है कोई भी पसन्द नहीं करता, किन्तु संन्यासी का तो यह आधार ही है संन्यासी को तो ऐसा होना ही चाहिए। सांख्यशास्त्र में आध्यात्मिक दुःखविधात,

आधिभौतिक दुःखविधात और आधिदैविक दुःखविधात इनको पृथक्-पृथक् तीन सिद्धियों के रूप में परिगणित किया है।

(ट) दौर्मनस्य- इच्छा का अभिधात होने से चित्त का क्षोभ ही दौर्मनस्य है। (दौर्मनस्यमिच्छाभिधाताच्चेतसो क्षोभः)। संन्यासी का चित्त कभी भी क्षुब्ध नहीं होना चाहिए।

७. संन्यास को सर्वोपरि महत्त्व की वस्तु समझने का अभाव- सभी व्यक्तियों की प्रायः यह कमजोरी होती है कि वे जिस काम को करते हैं, उसे सर्वोपरि महत्त्व नहीं देते। अपने-अपने क्षेत्र में सफल व्यक्तियों का यदि उनके पास जाकर उनके जीवन का अर्थात् उनके व्यक्तित्व व कृतित्व का, उनकी दृष्टि व उनकी सृष्टि का सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाए तो यह पायेंगे कि जो वे सोचते हैं, वही वे करते हैं, वही उनका जीवन होता है। किसी भी सचिन तेंदुलकर जैसे प्रथम स्थान पर पहुँचे हुए खिलाड़ी को देखिए या माननीय प्रधानमन्त्री श्री नरेद्र मोदी जी जैसे प्रथम स्थान पर अधिष्ठित किसी राजनेता को देखिए या किसी अर्थ के क्षेत्र में सबसे आगे बढ़े हुए व्यक्ति को देखिए या किसी कलाकार, किसी चित्रकार, किसी लेखक, किसी कवि, किसी भाषावित् किसी शास्त्रवित् किसी को भी देख लीजिए। आज के युग का एक तेजस्वी उदाहरण सबके समक्ष है श्री स्वामी रामदेव जी महाराज का, जो एक बहुत ही सामान्य पृष्ठभूमि से निकलकर ऊपर उठे और अपने महत् कर्म, अपने महान् संकल्प, अपने अथक पुरुषार्थ, अपनी बड़ी सोच के सहारे वह कर दिखाया जिसको देखकर सब अचम्भित हो जाते हैं, दाँतों तले अंगुली दबाने लगते हैं, उनके विरोधी भी उनकी सभी विविध कृतियों के प्रशंसक हैं और सदा उनका लोहा मानते हैं कि इस व्यक्ति से टकराए तो चकनाचूर हो जाएँगे। इन सब लोगों की सफलता के मूल में एक ही बात काम कर रही है कि इनकी दृष्टि और इनके जीवन में भेद नहीं। वे 'तत्कारी और तद्वेषी' नहीं हैं। उनके ज्ञान व कर्म में एकरूपता है। जो कुछ वे सोचते हैं उसे वे सर्वोपरि महत्त्व देते हैं।

संन्यासी की यह सबसे बड़ी बाधा है कि वह संन्यासी होकर भी संन्यास को सर्वोपरि महत्त्व नहीं देता। महर्षि दयानन्द ने एक जगह कहा है कि विद्यार्थी लोग विद्या-विघ्नों को छोड़ दें और उस विघ्न-शृङ्खला में उन्होंने बहुत सारे

विघ्न गिनाए हैं, उनमें एक विघ्न यह भी गिनाया है कि 'विद्या का सर्वोपरि लाभ न समझना'। जो विद्यार्थी विद्या का सर्वोपरि लाभ नहीं समझता, वह अपनी पूरी शक्ति नहीं लगा पाता। शेर जब शिकार करता है तो शिकार छोटा हो या बड़ा शेर तो अपनी पूरी शक्ति लगा देता है। इसी तरफ संन्यासी अपने पथ पर आगे बढ़ने के लिए जब मन के पूरे वेग और उत्साह के साथ अपने संन्यास धर्म को सर्वातिशायी महत्त्व की वस्तु समझता है तो उसके अपने पूर्ण समर्पण के कारण वैदिक ऋषियों की भाषा में कहें तो सारी दिशाएँ उसके आगे झुक जाती हैं।

यदि संन्यासी संन्यास के चरम उद्देश्य मुक्त जीवन, भगवत्प्राप्ति, परमशान्ति, अमृतत्व, त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्ति, आत्मरति, आत्मतृप्ति, मानवदेह में पूर्ण निष्काम सेवा, पूर्ण रस की अभिव्यक्ति को अपना प्राप्तव्य बना ले और उसके लिए अपने जीवन को सर्वांश में अर्पित कर दे तो ऐसी कोई बाधा है नहीं, जो उसके रास्ते को रोक सके।

साधन के द्वारा संन्यासी इन सभी बाधाओं का अन्त कर सकता है। साधना साधक को नित्यप्रति साध्य के निकट पहुँचाती रहती है, साध्य से अभिन्न कर देती है। साधक और साध्य के बीच जो दूरी-देरी व भेद या भिन्नता है, साधना उस सबको मिटाकर साधक और साध्य को एक ही कर देती है।

८. वृत्तियों का अनियन्त्रित प्रवाह- वृत्तियों का स्वच्छन्द प्रवाह भी एक संन्यासी की बहुत बड़ी बाधा है। अतः प्रत्येक संन्यासी को अभ्यास, वैराग्य, ईश्वरप्रणिधान, निष्काम कर्म, स्वाध्याय, विचार, साध्य के प्रति अनन्य प्रेम आदि किसी भी उपाय से वृत्तियों को शान्त रखने की कला सीखनी ही होती है।

९. कर्तव्यों का आधा-अधूरा बोध- अपने कर्तव्यों की अधूरी जानकारी बहुत बड़ी बाधा है और यह बाधा उस समय और भी अधिक विकराल रूप धारण कर लेती है, जब अहङ्कारवश या अज्ञानवश अधूरी जानकारी को ही पूर्ण जानकारी समझ लिया जाता है। किसी योग्य गुरु व सच्चाई के अभाव में ऐसा होता है।

मोक्षविद्या

चरक संहिता के शारीर स्थान का पञ्चम अध्याय 'पुरुषविचय शारीर' नाम से जाना जाता है। पुरुषविचय का अर्थ है पुरुष की खोज। अग्निवेश ने अपने आचार्य पुनर्वसु आत्रेय से पूछा कि आपने जो यह कहा है कि 'पुरुषोऽयं लोकसम्मितः' अर्थात् यह पुरुष लोकसम्मित है, लौकिक भावों से समानता रखता है। जितने मूर्तिमान् भावों के भेद लोक में देखे जाते हैं, उतने ही पुरुष में भी होते हैं और जितने मूर्तिमान् भावों के भेद पुरुष में देखे जाते हैं, उतने ही लोक में भी होते हैं। लोक और पुरुष की समानता से आप क्या कहना चाहते हैं, यह हम अभी स्पष्ट रूप से समझ नहीं पा रहे, कृपा करके समझाये— हम इसको स्पष्टता से जानना चाहते हैं।

भगवान् आत्रेय ने उससे कहा— लोक (दिखायी देने वाले इस संसार) के अवयव विशेष (भेद) असंख्य हैं। उनमें से कुछ स्थूल भावों की दोनों में परस्पर समानता दिखायी जा सकती है। छह धातुएँ मिलकर 'लोक' इस संज्ञा को प्राप्त करती हैं। वे छह धातुएँ इस प्रकार हैं— १. पृथिवी, २. जल, ३. तेजस् (अग्नि), ४. वायु, ५. आकाश तथा ६. अव्यक्त ब्रह्म। ये ही छह धातुएँ मिलकर 'पुरुष' इस शब्द, इस संज्ञा को प्राप्त करती हैं।

उस लोकसम्मित पुरुष की पृथिवी मूर्ति (दृश्यमान यह स्थूल शरीर) है, जल क्लेद (क्लिन्नता, गीलापन) है, तेजस् तत्त्व उसकी शारीरिक ऊष्मा (गर्मी) है, वायु उसके प्राण हैं, आकाश उसके शरीर में छिद्रसमूह (जहाँ वायु का विचरण होता है) तथा अव्यक्त ब्रह्म उसका अन्तरात्मा है। जैसे लोक में ब्रह्म (जगत्स्रष्टा) की विभूति दिखायी देती है, उसी प्रकार पुरुष में भी अन्तरात्मा की विभूति है। लोक में ब्रह्म की विभूति प्रजापति है, पुरुष में अन्तरात्मा की विभूति मन है, जो लोक में इन्द्र है, वही पुरुष में अहङ्कार है। जैसे संसार में सूर्य सबकी आयु को ग्रहण कर रहा है, वैसे ही पुरुष में आदान कर्म चल रहा है (पुरुष में सतत विविधरूपों में लेने की प्रक्रिया चर रही है), जो लोक में रुद्र है, वही पुरुष में रोष (क्रोध) है। जो लोक में सोम है, वही पुरुष में प्रसाद (प्रसन्नता) है। जो लोक में

अष्टवसुओं का स्वरूप है, वही पुरुष में सुखरूप है। जो लोक में अश्विनीकुमार हैं, वही पुरुष में कान्ति है। जो जगत् में मरुत् (देवविशेष) हैं, वही पुरुष में उत्साह है।

जो लोक में विश्वे देवाः हैं, वे ही पुरुष में ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और सभी इन्द्रियों के अर्थ (विषय=शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) हैं। जो लोक में तमस् है, वही पुरुष में मोह है। जो लोक में ज्योति (प्रकाश) है, वही पुरुष में ज्ञान है। जैसे लोक की सृष्टि आदि (सर्गादि) हैं, वैसे ही पुरुष का गर्भाधानादि है। जैसे लोक में सृष्टि के आरम्भ में सतयुग है, वैसे ही पुरुष के जीवन में बाल्यकाल है। जैसे लोक में त्रेतायुग है, वैसे ही पुरुष में यौवनकाल है। जैसे लोक में द्वापर युग है, वैसे ही पुरुष में स्थविरता (वृद्धता) है। जैसे लोक में कलियुग है, वैसे ही पुरुष में बीमार होना है। जैसे लोक में युग की परिसमाप्ति है, वैसे ही पुरुष में मृत्यु है। अन्त में भगवान् आत्रेय कहते हैं— हे अग्निवेश ! इसी प्रकार अनुमान द्वारा जिन लोकपुरुषसम्मित भावों का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है, उनकी भी समानता का ज्ञान कर लेना चाहिये।

तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्तिः, आपः क्लेदः, तेजोऽभिसन्तापः, वायुः प्राणः, वियत् सुषिराणि, ब्रह्म अन्तरात्मा, यथा खलु ब्राह्मी विभूतिलोके तथा पुरुषेऽप्यान्तरात्मिकी विभूतिः, ब्रह्मणो विभूतिलोके प्रजापतिरन्तरात्मनो विभूतिः पुरुषे सत्त्वं, यस्त्विन्द्रो लोके स पुरुषेऽहङ्कारः, आदित्यास्त्वादानः, रुद्रो रोषः, सोमः प्रसादः, वसवः सुखम्, अश्विनौ कान्तिः, मरुदुत्साहः, विश्वेदेवाः सर्वेन्द्रियाणि सर्वेन्द्रियार्थाश्च, तमो मोहः, ज्योतिर्ज्ञानं, यथा लोकस्य सर्गादिस्तथा पुरुषस्य गर्भाधानं; यथा कृतयुगमेवं बाल्यं, यथा त्रेता तथा यौवनं, यथा द्वापरं तथा स्थाविर्यं, यथा कलिरेवमातुर्यं, यथा युगान्तस्तथा मरणमिति। एवमेतेनानुमानेनानुक्तानामपि लोकपुरुषयोरवयवविशेषाणामग्निवेशः सामान्यं विद्यादिति।।

(च० शा० ५.५)

इस पर भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने पूछा— इस प्रकार लोक और पुरुष की समानता का जैसा वर्णन ऊपर किया है, यह सब अपवादरहित (तर्कसंगत)

है। किन्तु इस सामान्य उपदेश की उपयोगिता क्या है ?

भगवान् ने कहा— सुनो अग्निवेश ! सब लोक को आत्मा में (आत्मनि) और आत्मा को सब लोक में बराबर देखते हुए सत्या बुद्धि उत्पन्न होती है। ‘सर्वलोके ह्यात्मनि पश्यतो भवत्यात्मैव सुखदुःखयोः कर्ता नान्य इति’ यहाँ आत्मनि पश्यतः’ का अर्थ है ‘आत्मनोऽभेदेन पश्यतः’। यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ है— ‘षड्धातुसमुदायात्मक पुरुष’। ‘इसलिए जो कुछ भी लोकगत सुख-दुःखजनक है, वह आत्मरूप ही है अर्थात् षड्धातुसमुदायस्वरूप ही है, इस हेतु से बाह्य लोककृत सुख भी जो नित्यदुःखानुसक्त है, अतः वह भी हेय कोटि में है, जो स्वाभाविक दुःख है, वह तो हेय है ही। इस प्रकार समस्त सुख दुःख को आत्मकृत (षड्धातुसमुदायकृत) देखता हुआ राग-द्वेष से मुक्त हुआ सत्यज्ञानवान् हो जाता है। यदि यह पूछें— इस तत्त्वज्ञान (सत्यज्ञान) से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा तो इसका उत्तर होगा कि यह आत्मा षड्धातुसमुदाय जिसका स्वरूप है कर्मपरवश हुआ अर्थात् कर्म करने के संस्कारवश जो हेतु, उत्पत्ति, वृद्धि, उपप्लव (दुःखागम) वियोग (षड्धातुविभाग, जीवापगम, प्राणनिरोध, जीवन का भङ्ग, मृत्यु) आदि के साथ सम्बद्ध हो जाता है, तत्त्वज्ञान होने से वह उसका कर्म, प्रवृत्ति के शान्त होने पर कारणाभाव होने से पुनः उत्पन्न नहीं होता। राग-रहित व्यक्ति का उत्पन्न कर्म तत्त्वज्ञान से और जो प्रारब्ध कर्म हैं, उनका उपभोग से आत्यन्तिक रूपेण क्षय होने से आत्यन्तिक रूप से कर्मफल का अभावरूप मोक्ष हो जाता है। सभी प्राणी षड्धातुसमुदायात्मक ही होते हैं। अतः कहा ‘सर्वलोकोऽहमिति विदित्वा ज्ञानमुत्थाप्यतेऽपवर्गाये’ति। यहाँ लोक शब्द से जगद्रूप लोक अर्थ न लेकर पुरुष अर्थ लेना चाहिए (लोकत इति लोकः) न कि जगद्रूप लोक। सर्वशब्द सभी प्राणियों का ग्रहण कराता है।

भगवानुवाच— शृण्वग्निवेश ! सर्वलोकमात्मन्यात्मानं च सर्वलोके सममनुपश्यतः सत्या बुद्धिः समुत्पद्यते। सर्वलोकं ह्यात्मनि पश्यतो भवत्यात्मैव सुखदुःखयोः कर्ता नान्य इति। कर्मात्मकत्वाच्च हेत्वादिभिर्युक्तः सर्वलोकोऽहमिति विदित्वा ज्ञानं पूर्वमुत्थाप्यतेऽपवर्गायेति। तत्र संयोगापेक्षी

लोकशब्दः । षड्धातुसमुदायो हि सामान्यतो सर्वलोकः । (च० शा० ५.७)

सम्पूर्ण जगत् को अपने में और अपने को सम्पूर्ण जगत् में देखने की जिस प्रक्रिया का वर्णन भगवान् आत्रेय ने किया है, यह एक यौगिक साधन प्रणाली का प्रारम्भ है। जैसे कि श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है— ‘सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मानि । ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः’ । ६.२९। इसी के आगे श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं— ‘आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति सोऽर्जुन । सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।। ६.३२ ।’ चाणक्य नीति में भी कहा गया है कि ‘आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति’ । भगवान् आत्रेय यह कहना चाहते हैं कि जिसके भीतर यह दृष्टि विकसित हो जाती है कि ब्रह्माण्ड और पिण्ड एक ही हैं, वह ब्रह्माण्ड में फैली ब्रह्म और अन्य सभी तत्त्वों की दिव्यता को अपने पिण्ड में अनुभव करता हुआ उस दिव्यता के साथ जीना आरम्भ कर देता है। जैसे ब्रह्माण्डीय व्यवस्था सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अविघ्नित रूप से चल रही है, कहीं अव्यवस्था नहीं है, जैसे ब्रह्म सम्पूर्ण प्रपञ्च, समस्त कर्म व सभी सम्बन्धों के बीच में रहते हुए आनन्द में है, स्वाधीन है, भयरहित व ज्ञानवान् बना रहता है, उसी प्रकार पिण्ड में रहते हुए हम भी उसी तरह जी सकते हैं क्योंकि हमारे पास भी तो वे ही सब के सब तत्त्व, ज्ञान व सामर्थ्य है।

जैसा कि ऊपर बताया ब्रह्माण्ड में प्रजापति (हिरण्यगर्भ, विराट्) ब्रह्म की विभूति है, हमारे पास भी तो अन्तरात्मा की विभूति सत्त्व (मन) है। स्वयं ब्रह्म का स्थानापन्न पिण्ड में अन्तरात्मा है। जैसे ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ब्राह्मी विभूतियाँ विविध रूपों में फैली हुई हैं, वैसे ही पिण्ड में अन्तरात्मा की विभूतियाँ हैं। जैसे ब्रह्माण्ड में इन्द्र अपराजेय शक्ति के रूप में आसुरी शक्तियों का संहार करता रहता है, वैसे ही पुरुष में शुद्ध सात्त्विक अहङ्कार आसुर भावों का नाश करने के लिये उद्यत रहता है। ब्रह्माण्डगत आदित्य का प्रतिनिधित्व पुरुष में आदान भाव करता है जो कि पुरुष की आयु को शनैः शनैः ग्रहण कर लेता है। रुद्र का प्रतिनिधित्व करने वाला तत्त्व पुरुष में रोष है जो कि बुराई को सहन नहीं करता। बुराई को या कमजोरी को मिटाने वाला आवेग ही तो पुरुष में रोष के रूप में प्रकट होता है। इसी

प्रकार सोम (चन्द्रमा) की आह्लादकता पुरुष में प्रसन्नता के रूप में प्रकट होती है।

ऐतरेय उपनिषद् में भी यह कहा है कि अग्नि वाक् के रूप में मुख में, वायु प्राणों के रूप में नासिका में, आदित्य चक्षु के रूप में आँखों में, दिशायेँ श्रोत्र के रूप में कानों में, ओषधि-वनस्पतियाँ लोमों के रूप में त्वचा में, चन्द्रमा मन के रूप में हृदय में, मृत्यु अपान के रूप में नाभि में, जल रेतस् (शुक्र) के रूप में शिशन में प्रविष्ट हो गये। इसी प्रकार ब्राह्मणों, उपनिषदों तथा निरुक्त में जगह-जगह ‘इत्यधिदैवतम् अथाध्यात्मम्’ कहकर ब्रह्माण्ड व पिण्ड की समानता की ओर इङ्गित किया है।

उस षड्धातु युक्त लोक तथा पुरुष का हेतु, उत्पत्ति, वृद्धि, उपप्लव और वियोग होता है, उसका परिचय इस प्रकार है—

१. हेतु— उत्पत्ति कारण को हेतु कहते हैं।
२. उत्पत्ति— लोक या पुरुष के जन्म को उत्पत्ति कहते हैं।
३. वृद्धि— अंग-प्रत्यंग की वृद्धि एवं पुष्टि को वृद्धि कहते हैं।
४. उपप्लव— दुःख की प्राप्ति, विप्लव तथा उत्पात दर्शन को उपप्लव कहते हैं।
५. वियोग— छह धातुओं के विभाग (आदान या ग्रहण) की प्रक्रिया को वियोग कहते हैं, वह ही जीवापगम (प्राणों का निकल जाना) कहा जाता है, वही प्राणनिरोध है, वही भंग (सम्बन्ध-विच्छेद) है, वही लोकस्वभाव है।

उस षड्धातुयुक्त समुदाय से युक्त लोक तथा पुरुष का मूल सभी प्रकार के उपप्लवों (दुःख आदि) की प्रवृत्ति है। इन सभी प्रकार के दुःखों से निवृत्ति (छुटकारा) पाना उपरम (शान्ति, मोक्ष) है। सकाम भाव से युक्त होकर सांसारिक कर्मों की ओर प्रवृत्ति (झुकाव) होना दुःख है और उसकी ओर से निवृत्ति (तटस्थता) में सुख है। इस प्रकार का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सत्य है। सम्पूर्ण जगत् और पुरुष में समानता का ज्ञान होना उस ज्ञान का कारण है। उस लोक तथा पुरुष की समानता का यही प्रयोजन है। ऐसा भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश से कहा—

तस्य हेतुः उत्पत्तिः, वृद्धिः, उपप्लवः, वियोगश्च । तत्र हेतुरुत्पत्तिकारणं, उत्पत्तिर्जन्म, वृद्धिराप्यायनम्, उपप्लवो दुःखागमः, षड्धातुविभागो

वियोगः, स जीवापगमः स प्राणनिरोधः स भङ्गः स लोकस्वभावः। तस्य मूलं सर्वोपप्लवानां च प्रवृत्तिः, निवृत्तिरुपरमः। प्रवृत्तिर्दुःखं, निवृत्तिः सुखमिति यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत् सत्यम्। तस्य हेतुः सर्वलोकसामान्यज्ञानम् एतत् प्रयोजनं सामान्योपदेशस्येति।। (च० शा० ५.८)

तदनन्तर अग्निवेश ने कहा— भगवान्! प्रवृत्ति का क्या कारण है और निवृत्ति का कौन उपाय है? भगवान् आत्रेय ने उत्तर दिया— मिथ्याज्ञानस्वरूप मोह से इच्छा-द्वेष होते हैं और फिर उन इच्छा-द्वेष से धर्म-अधर्मरूप कर्म किये जाते हैं, बस वे ही सब कर्म 'संसार' के मूल हैं। (मोहेच्छाद्वेषकर्ममूला प्रवृत्तिः— च० शा० ५.१०) उस प्रवृत्ति से १. अहङ्कार २. संग ३. संशय ४. अभिसंस्प्लव ५. अभ्यवपात ६. विप्रत्यय ७. अविशेष ८. अनुपाय, इनकी उत्पत्ति होती है। ये सब पुरुष को उसी प्रकार चारों ओर से घेर तथा दबोच कर बढ़ते हैं जिस प्रकार तरुण (बढ़ते हुए) पेड़ को बड़ी-बड़ी शाखा वाले पेड़ दबाकर ऊपर को बढ़ जाते हैं। जैसे बड़े वृक्षों से घिरा हुआ वह छोटा पेड़ आगे को नहीं बढ़ पाता है, वही स्थिति अहङ्कार आदि से घिरे हुए पुरुष की भी है, क्योंकि यह प्रवृत्तिमार्ग में फंस जाने के बाद उससे अपने को छुड़ा हुआ नहीं पाता है।

यहाँ अहङ्कारादि शब्दों का अर्थ स्वयं भगवान् आत्रेय ने बतलाया—

१. अहङ्कार— मैं श्रेष्ठ जाति का हूँ, मेरा सुन्दर रूप है, मैं धनाढ्य हूँ, मैं सच्चरित्र हूँ, मैं अत्यन्त बुद्धिमान् हूँ, मेरा स्वभाव बहुत अच्छा है, मैं विद्वान् हूँ, मेरा कुल श्रेष्ठ है, मैं युवक हूँ, मैं शक्तिशाली हूँ, मैं सबसे अधिक प्रभावशाली हूँ, इस प्रकार का ज्ञान अहंकार है।

२. संग— मन, वाणी तथा शरीर द्वारा किये गये सकाम कर्म, जो मोक्षमार्ग में साधक नहीं होते बल्कि बाधक होते हैं, उन्हें संग कहते हैं।

३. संशय— कर्म का फल मिलता है या नहीं, मोक्ष की सत्ता है या नहीं, मरने के बाद पुरुष का पुनः जन्म होता है या नहीं, इस प्रकार के ज्ञान को संशय कहते हैं।

४. अभिसंस्प्लव— अनात्म को आत्मा समझना ही अभिसंस्प्लव है। 'अतस्मिन् सः' बुद्धि ही यहाँ उक्त दोषरूप में कथित है। 'तस्मिन् सः' बुद्धि तो सम्यग्ज्ञान ही है, जैसे परम आत्मा सब अवस्थाओं से शून्य है।

५. अभ्यवपात— माता, पिता, भाई, स्त्री, सन्तान, बन्धु, सम्बन्धी, मित्र, सेवक ये सब समुदाय रूप से मेरे हैं और मैं इस समुदाय का हूँ, ऐसा विचार करना अभ्यवपात है।

६. विप्रत्यय— कार्य-अकार्य, हित-अहित, शुभ-अशुभ में विपरीत अभिनिवेश को ही विप्रत्यय कहते हैं।

७. अविशेष— ज्ञ-अज्ञ (ज्ञानी-अज्ञानी) प्रकृति-विकृति, प्रवृत्ति-निवृत्ति में समान दृष्टि से देखना अविशेष है।

८. अनुपाय— प्रोक्षण (यज्ञ में मन्त्र द्वारा जल छिड़कना), अनशन (उपवास), अग्निहोत्र (प्रातः सायं हवन करना), त्रिषवण (त्रैकालिक स्नान करना), अभ्युक्षण (अभिमन्त्रित जल से सेचन क्रिया) आवाहन (देवतादि का बुलाना) यजन-याजन, याचन (प्रार्थना), जल और अग्नि में प्रवेश आदि यज्ञसम्बन्धी विधान अनुपाय कहे जाते हैं।

इस प्रकार यह धी, धृति (धारणाशक्ति) स्मृति (स्मरणशक्ति) से रहित होकर अहङ्कार से लिप्त, संग और संशय से युक्त, अभिसंस्प्लुत (मिथ्या-अमिथ्या ज्ञान से युक्त बुद्धि वाला) ज्ञानी-अज्ञानी में भिन्नता न समझने वाला, विमार्ग (उल्टे मार्ग) में गमन करने वाला पुरुष मानसिक दोषों (रज व तम) तथा शारीरिक दोषों (वात-पित्त-कफादि) के कारणों का निवासवृक्ष (आश्रयस्थान) बनकर सभी दुःखों का मूल कारण बनता है। इस प्रकार वह पुरुष अहङ्कार आदि दोषों द्वारा जीवन भर चक्कर काटता हुआ प्रवृत्तिमार्ग को नहीं छोड़ सकता है, वह प्रवृत्ति मार्ग ही अघ (पाप) का मूल है।

आगे भगवान् आत्रेय मोक्ष का स्वरूप दर्शाते हुए कहते हैं— सांसारिक विषय-वासनाओं से बुद्धिपूर्वक निवृत्ति ही अपवर्ग (मोक्ष) है। वह श्रेष्ठ है, वह अत्यन्त शान्त है, वह अक्षर (चिर-स्थिर) है, वह ब्रह्म है (मोक्ष को प्राप्त जीव ब्रह्ममय हो जाता है)। (निवृत्तिरपवर्गः, तत् परं प्रशान्तं तत् तदक्षरं तद् ब्रह्म स मोक्षः। च० शा० ५.११)

उस निवृत्तिमार्ग में जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति पाने के इच्छुकों के लिये उदयनों (ऊपर जाने के मार्ग) की व्याख्या करेंगे। प्रवृत्तिमार्ग में दोष देखने

वाले मुमुक्षु का कर्तव्य है कि वह प्रारम्भ से ही आचार्य (गुरु) का अभिगमन (अनुसरण) करे, उनके उपदेशों का पालन करे, धर्मशास्त्र द्वारा निर्दिष्ट विधियों का आचरण करे, धर्मशास्त्र के अर्थ (रहस्य) को जानने का प्रयत्न करे, तदनुसार अपनी मानसिक प्रवृत्तियों को स्थिर करे। सज्जनों का अनुसरण तथा उनके साथ रहे, दुर्जनों को छोड़े, दुर्जन के साथ निवास न करे। (तत्र लोकदोषदर्शिनो मुमुक्षोरादित एवाचार्याभिगमनं, तस्योपदेशानुष्ठानम्, धर्मशास्त्रानुगमनम्, तदार्थावबोधः, तेनाऽवष्टम्भः, सतामुपासनम्, असतां परिवर्जनम्, असङ्गतिर्दुर्जनेन। च० शा० ५.१२)।

समय पर सत्य भाषण करे, सब प्राणियों के हितकर वचन बोले तथा कठोर वचन न बोले, सभी प्राणियों को अपने समान देखे, सभी वर्ग (आयु) की स्त्रियों का स्मरण न करे, मन में विचार न करे, उनको पाने की इच्छा न करे, और भाषण भी न करे, सभी प्रकार के परिग्रहों का परित्याग करे। (सत्यं सर्वभूतहितमपरुषमनतिकाले परीक्ष्य वचनं, सर्वप्राणिषु चात्मनीवावेक्षा, सर्वसामस्मरणमसङ्कल्पनमप्रार्थनमनभिभाषणं च स्त्रीणां, सर्वपरिग्रहत्यागः। (च० शा० ५.१२)।

इन्द्रियों के विषय में अनुराग तथा उपताप (कष्ट) इन दोनों को रोकना अर्थात् इन्द्रियजनित सुख-दुःख का मन से परित्याग, सत्कार, प्रशंसा, निन्दा तथा अपमान को सहन करने की शक्ति को प्राप्त करना, शोक, दीनता, अभिमान, घबड़ाहट (उद्वेग) मद, लोभ, राग, ईर्ष्या, भय, क्रोध आदि से विचलित न होना, अहङ्कारादि को उपसर्ग (लक्ष्यप्राप्ति में बाधक) समझें, लोक तथा पुरुष के सृष्टि आदि कार्यों को सामान्य रूप से देखना, कार्यकाल के व्यर्थ चले जाने पर भयभीत होना, मानसिक उत्साह रखना, मोक्षप्राप्ति के लिये बुद्धि, धृति (धैर्य) तथा स्मृतिबल का संग्रह करना, इन्द्रियों का मन में और मन का आत्मा में नियन्त्रण करना और आत्मा द्वारा आत्मा में नियन्त्रण, धातुभेद से शरीर के अवयवों का बार-बार ज्ञान रखना, कारण से उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ कष्टप्रद निस्तत्त्व तथा अनित्य हैं, सभी प्रकार की प्रवृत्तियों की अघ (पाप या दुःख) संज्ञा है, सभी प्रकार की सांसारिक वस्तुओं को छोड़ देना ही वास्तविक सुख है। इस

प्रकार के उपदेशों का ज्ञान रखना, यह मोक्ष का मार्ग है। इनके विपरीत आचरण करने से मनुष्य सांसारिक बन्धनों में बंध जाता है। (ध्यानहेतोः कायनिबन्धनं, तन्द्रानिद्रालस्यादिकर्मपरिवर्जनम्। इन्द्रियार्थेष्वनुरागोपतापनिग्रहः, सत्कारस्तुतिगर्हावमानक्षमत्वं, शोकदैन्यमानोद्वेगमदलोभरागेर्ष्याभय-क्रोधादिभिरसञ्चलनम्, अहंकारादिषूपसर्गसंज्ञा, लोकपुरुषयोः सर्गादिसामान्यावेक्षणं, कार्यकालात्ययभयं, योगारम्भे सततमनिर्वेदः, सत्त्वोत्साहः, अपवर्गाय धीधृतिस्मृतिबलाधानं, नियमनमिन्द्रियाणां चेतसि, चेतस आत्मनि, आत्मनश्च; धातुभेदेन शरीरावयवसङ्ख्यानमभीक्षणं (शरीरस्य रसमलस्नाय्वादिरूपतया ज्ञानम्), सर्व कारणवद्दुःखमस्वम् (आत्मव्यतिरिक्तमनात्मीयं च) अनित्यमित्यभ्युपगमः, सर्वप्रवृत्तिष्वघसंज्ञा, सर्वसंन्यासे सुखमित्यभिनिवेशः, एष मार्गोऽपवर्गाय, अतोऽन्यथा बध्यते।

(च० शा० ५.१२)।

इन मोक्षप्राप्ति के प्रसङ्ग में कहे गये मन को शुद्ध करने के उपायों से अविमल सत्त्व (दूषित मन) वैसे ही शुद्ध हो जाता है जैसे दूषित आदर्श (Mirror) तैल, कपड़े का टुकड़ा और बाल आदि द्वारा मल देने से शुद्ध हो जाता है। (एतैरविमलं सत्त्वं शुद्ध्युपायैर्विशुध्यति। मृज्यमान इवादर्शस्तैल-चेलकचादिभिः।। च० शा० ५.१३)।

जिस प्रकार ग्रह (नवग्रहों में एक राहु) बादल, धूलि, धूम, नीहार (कोहरा) से न घिरा हुआ सूर्यमण्डल चमकता है (स्वयं प्रकाशित होता हुआ दूसरों को प्रकाश देता है) उसी प्रकार निर्मल मन भी चमकता है, अर्थात् स्वयं प्रकाशमान सूर्य जैसे ग्रहण, मेघ आदि द्वारा आवृत होने से प्रकाशहीन हो जाता है, उसी प्रकार प्रवृत्तिमार्ग में फँसा हुआ मन माया के आवरण से घिर जाने के कारण प्रकाशहीन हो जाता है और उस माया के आवरण के हटते ही वह पुनः प्रकाशमान हो जाता है। (ग्रहाम्बुदरजोधूमनीहारैरसमावृतम्। यथाऽर्कमण्डलं भाति भाति सत्त्वं तथाऽमलम्।। च० शा० ५.१४)।

वह शुद्ध मन, आत्मा में रुके हुए मार्ग के रुक जाने के कारण उस प्रकार

प्रज्वलित होता है, जिस प्रकार प्रसन्न तथा स्थिर ज्वाला युक्त दीपक का प्रकाश संवृतायन (घिरे हुए मार्ग वाले) दीपाशय (चिमनी) के भीतर दिखलायी देता है। **ज्वलत्यात्मनि संरुद्धं तत् सत्त्वं संवृतायने। शुद्धः स्थिरः प्रसन्नार्चिर्दीपो दीपाशये यथा।।** (च० शा० ५.१५)।

शुद्ध सत्त्व (मन) वाले पुरुष में जो सत्या (ज्ञानविशिष्ट) बुद्धि प्रवृत्त होती है, जिससे वह (शुद्धबुद्धियुक्त पुरुष) अत्यन्त बलवान् महामोहमय मायारूपी अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर देता है, अर्थात् उस शुद्धबुद्धि के बल से मानव माया के बन्धन को तोड़ डालने में सक्षम हो जाता है। जिससे वह सब भावों के स्वभाव को जानने वाला, जिससे वह निःस्पृह (अकाम) जिससे वह योग की सिद्धि करता है, जिससे वह सांख्य तत्त्व का ज्ञानी हो जाता है, जिससे वह अहङ्कार को प्राप्त नहीं करता, जिससे वह जन्म-मरण रूपी कारणों की उपासना नहीं करता, जिससे वह राग-द्वेष आदि किसी का भी आश्रय नहीं लेता, जिससे वह सभी सांसारिक वस्तुओं का परित्याग कर देता है, जिससे नित्य, अजर, शान्त तथा अक्षर ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है, उसी सत्या बुद्धि की सिद्धि को मति, मेधा, प्रज्ञा और ज्ञान माना गया है। अर्थात् रजस्, तमस् से सर्वथा मुक्त मन शुद्ध कहा जाता है। शुद्ध मन को ही सत्या बुद्धि की प्राप्ति होती है। इस शुद्धि को प्राप्त करने की चर्चा (च० शा० ५.१२) में विस्तार से की गई है। इसमें सबसे महत्वपूर्ण है— शुद्धबुद्धि वालों का संग और अशुद्धबुद्धि वालों के संग का त्याग।

शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्तते।

यया भिनत्यतिबलं महामोहमयं तमः।।

सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निःस्पृहः।

योगं यया साधयते सांख्यः सम्पद्यते यया।।

यया नोपैत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणं यया।

यया नालम्बते किञ्चित् सर्वं सन्न्यस्यते यया।।

याति ब्रह्म यया नित्यमजरं शान्तमव्ययम्।

विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता।। (च० शा० ५.१६-१९)

सम्पूर्ण संसार में अपने को फैला हुआ और सम्पूर्ण संसार को अपने में देखते हुए परमात्मा तथा प्रकृति को देखने वाले परावरदृक् (तत्त्वज्ञानी) की ज्ञानजनित शान्ति नष्ट नहीं होती (लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः। **परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति।।** (५.२०)

सदैव सब अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) में सभी शरीरगत भावों को समानरूप से देखते हुए ब्रह्मभूत (जीवन्मुक्त) अत एव शुद्ध सत्त्ववाले पुरुष का शरीर इन्द्रिय आदि के साथ संयोग (पुनर्जन्म) नहीं होता है। (पश्यतः सर्वभावान् हि सर्वावस्थासु सर्वदा। ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते।

(च० शा० ५.२१)

मुक्त आत्मा वाले पुरुष के करणों (शरीर, मन व इन्द्रियों) के अभाव हो जाने से आत्मा का लक्षण भी नहीं पाया जाता है। यही कारण है कि वह पुरुष सभी करणों (शरीर, मन तथा इन्द्रियों) का त्याग कर देने के कारण मुक्त कहा जाता है। (नात्मनः करणाभावान्लिङ्गमप्युपलभ्यते। स सर्वकरणायोगान्मुक्त इत्यभिधीयते।। (च० शा० ५.२२)

विपाप, विरजस्, शान्त, पर, अक्षर, अव्यय, अमृत, ब्रह्म, निर्वाण और शान्ति इन पर्यायों द्वारा मोक्ष का परिचय दिया जाता है। (विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम्। अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते।।

(च० शा० ५.२३)

हे सौम्य! (अग्निवेश) यह वह शरीरविचय नामक विज्ञान है, जिसे जानकर निःसन्देह मुनिजन, मोह (तमस्), रजस् (राग) और काम से दूर होकर प्रशम (मोक्ष) को प्राप्त हो गये। (एतत्तत् सौम्य! विज्ञानं यज्ज्ञात्वा मुक्तसंशयाः। **मुनयः प्रशमं जगुर्वीतमोहरजःस्पृहाः।** (च० शा० ५.२४) इस प्रकार इस प्रबन्ध में लोक और पुरुष का साम्य प्रयोजन सहित बतला दिया है और उत्पत्ति (जन्म) का कारण, निवृत्ति का मार्ग, शुद्ध सत्त्व (मन) का समाधान, मोक्षसाधिका सत्या बुद्धि तथा मोक्षप्राप्ति के उपाय कहे हैं।

संन्यासी के लिए गीता का सार-सन्देश

साधक के लिये सबसे मूल्यवान् वस्तुएँ दो ही हैं— भगवान् का आश्रय लेना और अपने लिये कुछ न करना या कुछ न चाहना अर्थात् भगवदाश्रय और विश्राम। शरीरादि सभी बाह्य पदार्थों का आश्रय 'पराश्रय' और क्रिया का आश्रय 'परिश्रम' है। जब साधक पराश्रय का त्याग करके 'भगवदाश्रय' को अपनाता है और परिश्रम का त्याग करके 'आन्तरिक विश्राम' को अपनाता है तब उसका मानव जीवन सफल हो जाता है। मैं भगवान् का ही हूँ, भगवान् ही मेरे हैं— इसको स्वीकार कर लेना 'भगवान् का आश्रय' है। मेरा कुछ नहीं, मुझे कुछ नहीं चाहिए— ऐसा स्वीकार कर लेना 'स्व का आश्रय' है। पदार्थ और क्रिया केवल दूसरों की सेवा के लिये हैं— इस तथ्य को स्वीकार कर लेना 'धर्म का आश्रय' है। भगवान् का आश्रय 'भक्तियोग' है। स्व का आश्रय 'ज्ञानयोग' है। धर्म का आश्रय 'कर्मयोग' है। भगवदाश्रय (शरणागति) गीता का सार है

संन्यासी का आहार —

आयुःसत्त्वबलारोग्य-सुखप्रीतिविवर्धनाः।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ (१७.८)

आयु, सात्त्विक वृत्ति, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति (उल्लास) की वृद्धि करने वाले, रसीले, स्निग्ध, शरीर में रस आदि के साथ घुलमिल कर लम्बे समय तक स्थिर रहने वाले, मन को प्रसन्नता प्रदान करने वाले आहार सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

संन्यासी का वाचिक तप —

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

स्वाध्यायाभ्यासनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ (१७.१५)

दूसरे के मन को उद्विग्न न करने वाले, सत्य, प्रिय और हितकारक सम्भाषण को तथा स्वाध्याय के अभ्यास को वाङ्मय या वाचिक तप कहते हैं।

यहाँ 'उद्वेग न करने वाले' इत्यादि लक्षणों से वाक्य को विशेषित किया गया है और 'च' शब्द सब लक्षणों का समुच्चय बतलाने के लिए है। अतः यह समझना चाहिये कि दूसरे को किसी बात का बोध कराने के लिये कहे हुए वाक्य में यदि सत्यता, प्रियता, हितकारिता और अनुद्विग्नता— इन सबका अथवा इनमें से किसी एक, दो या तीन का अभाव हो तो वह वाणी सम्बन्धी तप नहीं है।

जैसे सत्य वाक्य यदि अन्य एक, दो या तीन गुणों से हीन हो तो वह वाणी का तप नहीं। वैसे ही प्रिय वचन भी यदि अन्य एक, दो या तीन गुणों से हीन हो तो वह भी वाणी सम्बन्धी तप नहीं है, इसी प्रकार हितकारक वचन भी यदि अन्य एक, दो या तीन गुणों से हीन हो तो वह भी वाणी का तप नहीं है।

'सत्यं प्रियहितं च यत्' आदि शब्द मनुस्मृति के इन निम्न शब्दों को स्मरण दिला रहे हैं 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्म सनातनः' (मनु.- ४.१३८) यह सनातन धर्म है कि सत्य बोलें, किन्तु मधुर और प्रिय बोलें। अप्रिय सत्य न बोलें।

संन्यासी का मानस तप —

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ (१७.१६)

मन की निर्मलता व प्रसन्नता, सौम्यता, मौन अर्थात् मुनियों के समान वृत्ति रखना (आवश्यकतानुसार ही बोलना), आत्मविनिग्रह (अपने आप को वश में रखना) और भावसंशुद्धि (दूसरों के साथ व्यवहार में छल-कपट रहित होना)— इनको मानसिक तप कहा है।

तप के तीन भेद किए गये हैं— शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक। 'तप' का अर्थ यह नहीं कि शरीर को जंगल में जाकर कष्ट दिया करें, वरन् चातुर्वर्ण्यानुसार या व्यवसायानुसार जो भी कर्तव्य बनते हैं, उनका समुचित पालन ही व्यापक अर्थ में तप है। तप शब्द का अर्थ है तपना, अपने लक्ष्य पर केन्द्रित होना, जीवन को ऊपर उठाने में अपने अनावश्यक भार को घटाकर, हटाकर या छोड़कर अपने को हल्का करना और कोई प्रतिकूलता आये तो

उसे सहर्ष सहना। वह तप शारीरिक भी हो सकता है, वाचिक भी हो सकता है और मानसिक भी।

अब इन तीन प्रकार के तपों को सात्त्विक, राजस एवं तामस रूप में विभाजित किया गया है-

संन्यासी का त्रिविध तप -

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्रिविधं नरैः।

अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ (१७.१७)

फल की इच्छा से रहित समत्वयोगयुक्त बुद्धि वाले मनुष्यों के द्वारा परम श्रद्धा के साथ किया गया शारीर, वाङ्मय और मानस, यह तीन प्रकार का तप (त्रिविधं तपः) सात्त्विक तप कहलाता है।

संन्यासी का त्याग -

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ (१८.५)

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।

कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ (१८.६)

अत एव हे भरतश्रेष्ठ! उस पूर्वप्रदर्शित (द्वितीय श्लोकगत) त्याग के विषय में मेरा निश्चय सुन। पुरुषश्रेष्ठ! त्याग तीन प्रकार का होता है। यज्ञ, दान, तप- इन कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए, इन्हें करना ही चाहिए; क्योंकि यज्ञ, दान एवं तप- ये बुद्धिमानों के लिए पावन अर्थात् चित्तशुद्धिकारक होते हैं।

अत एव यज्ञ, दान एवं तप को आसक्ति व फल की इच्छा त्यागकर करते ही रहना चाहिए हे पार्थ! यह मेरा निश्चित और उत्तम मत है।

कर्म का बन्धनकारकत्व दोष कर्म करने में नहीं, अपितु कर्मविशेष के प्रति आसक्ति अथवा फलाशा में है, अतः सभी कर्मों को आसक्ति व फलाशा त्याग कर करते रहना चाहिए। कर्म दोषयुक्त हैं, यह गीता को मान्य नहीं है।

यहाँ तक कर्मयोग की दृष्टि से 'संन्यास' और 'त्याग' इन शब्दों के बारे में अर्जुन के द्वारा उठाये गए प्रश्न का स्पष्टीकरण हो चुका है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ (१८.९)

हे अर्जुन! जो स्वधर्मानुसार अपने शास्त्रविहित नियत कर्मों (Obligatory actions) को आसक्ति व फलाशा त्याग कर, कर्तव्य समझकर करता है या ऐसा कहें कि प्रभु को समर्पित करते हुए अपने कर्मों को पूर्ण करता है, उसका यह त्याग 'सात्त्विक त्याग' समझा जाता है।

यहाँ 'नियत कर्म' से अभिप्राय स्वधर्मानुसार (चातुर्वर्ण्यानुसार) कर्म करना है। इसी को गीता में स्थान-स्थान पर अपरित्याज्य 'स्वधर्म' कहा है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ (१८.१०)

सत्त्व से ओत-प्रोत, मेधावी, सन्देहरहित व त्यागी अर्थात् संन्यासी किसी अकुशल (अशुभ/अशोभन) कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल (शुभ/शोभन) कार्य में अनुषक्त (आसक्त) नहीं होता।

भाव यह है कि क्षीण कर्मसंस्कार वाले उस त्यागी पुरुष के सामने कोई अशुभ दृश्य या इन्द्रियविषय उपस्थित होने पर सामान्य मर्यादापालक पुरुष के समान उसमें द्वेष या क्षोभ का भाव नहीं होता है तथा दूसरी ओर उसके द्वारा सहज भाव से पुण्यकर्म होने पर उसमें आसक्ति या पुनः पुनः आवृत्ति की भावना नहीं होती। विमल तत्त्व ज्ञान से हुआ कर्मसंस्कारक्षय ही उसकी ऐसी अवस्था का निमित्त होता है। ऐसा वर्णन त्रिगुणातीत पुरुष के प्रसंग में १४वें अध्याय के २२वें श्लोक में इस प्रकार आया है- न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति।

आत्म-अनात्म विवेक यह दिखाता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये सब अनात्मा हैं तथा जन्म-मरण, क्षुधा-तृषा और शोक-मोह- ये सब इनके ही धर्म हैं, न कि इन सबको प्रकाशित करने वाले साक्षी आत्मा के, इस ज्ञान के कारण वह (आत्मा) अनात्म-उपाधियों से तादात्म्य नहीं करता। इसी तथ्य को यहाँ इस प्रकार कहा गया है कि वह अशुभ से द्वेष और शुभ से राग नहीं करता। ऐसा पुरुष ही वास्तव में सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत कहा जाता है। अन्य

अविवेकी लोग तो शुष्क पर्ण के समान वायु की गति और दिशा के साथ इतस्ततः भटकते रहते हैं। विवेकी पुरुष अपने मन के साक्षी बनकर रहते हैं, जबकि अविवेकी लोग 'त्याग' के अभाव में, अपने मन की वृत्तियों के साथ तादात्म्य करके दुःख भोगते हैं। किसी भी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझने तथा मिथ्या का त्याग करने के लिए अपने नित्य और पूर्ण स्वरूप का बोध आवश्यक है। वस्तुओं को समझने तथा युक्तियुक्त विचार करने की बुद्धि की इस क्षमता को मेधा शक्ति कहते हैं। प्राप्त ज्ञान को धारण एवं आवश्यकतानुसार स्मरण करने की क्षमता भी मेधा ही है। इस शक्ति से सम्पन्न पुरुष मेधावी कहा जाता है। यह मेधावी पुरुष संशयरहित (छिन्नसंशय) होता है; क्योंकि वस्तु के अपूर्ण ज्ञान से ही संशय उत्पन्न हो सकता है, अन्यथा नहीं।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ (१८.११)

जो देहधारी है, उसके द्वारा कर्मों का सर्वथा (साकल्येन) त्याग सम्भव नहीं है (क्योंकि जीवन को बनाये रखने हेतु कर्म आवश्यक हैं) अतः कर्म को न छोड़कर जो कर्मफल का त्याग करता है, वही सच्चा त्यागी है।

संन्यासी का ज्ञान –

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ (१८.२०)

जिस ज्ञान से यह मालूम होता है कि विभक्त (भिन्न-भिन्न) प्राणियों (Appearances) में एक ही अविभक्त (विभागरहित) और अव्यय (अविनाशी) भाव (आत्मतत्त्व /The thing in itself) है, उसे सात्त्विक ज्ञान जानो।

संन्यासी का कर्म –

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।

अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ (१८.२३)

जो कर्म शास्त्रविधि से स्वधर्मानुसार नियत किया हुआ है (नियतम्), कर्तृत्व की आसक्ति से रहित है (सङ्गरहितम्) तथा फल को न चाहने वाले

पुरुष के द्वारा (अफलप्रेप्सुना) बिना किसी राग-द्वेष के किया जाता है, वह (कर्म) सात्त्विक कहा जाता है।

संन्यासी का कर्तृत्व –

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।

सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ (१८.२६)

जो संग (आसक्ति) से मुक्त है, जिसमें 'मैं' और 'मेरा' का भाव (अहंकार) नहीं है। जो सदा धैर्य और उत्साह से युक्त रहता है, कार्य की सिद्धि हो या न हो- दोनों स्थितियों में जो निर्विकार (हर्ष-विषाद रहित/समत्व युक्त) रहता है, उसे सात्त्विक कर्ता कहते हैं।

संन्यासी की बुद्धि –

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।

बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ (१८.३०)

हे पार्थ! जो बुद्धि यह जानती है कि 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' क्या है तथा 'कार्य' (करने योग्य) और 'अकार्य' (नहीं करने योग्य) क्या है? इसी प्रकार जो यह जानती है कि किससे डरना चाहिए, किससे नहीं डरना चाहिए, किससे बन्धन होता है, किससे मुक्ति? वही बुद्धि सात्त्विकी है। सभी योगीजनों अथवा पुण्यात्माओं का सदा पथप्रदर्शन करने वाली यही बुद्धि है। इस सात्त्विक बुद्धि वाला व्यक्ति कभी भी 'धीविभ्रंश' रूप प्रज्ञापराध का शिकार नहीं होता है।

संन्यासी की धृति–

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ (१८.३३)

हे पार्थ! योग= एकाग्रता के माध्यम से जिस अव्यभिचारिणी= न डिगने वाली सुदृढ़ धृति से व्यक्ति मन, प्राण और इन्द्रियों की सब चेष्टायें सुनियन्त्रित रखता है अर्थात् शास्त्रविरुद्धप्रवृत्ति से रोक कर रखता है, वह

धृति (steadiness) सात्त्विकी है। सभी निष्काम कर्मी या योगसाधना में निरत भक्तजनों को सतत शक्ति देने वाली यही धृति है।

संन्यासी का सुख –

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।

तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ (१८.३७)

जो ज्ञान, वैराग्य ध्यान-साधना का सुख कष्टसाध्य, अनभ्यस्त और अननुभूत होने से प्रारम्भ में विष तुल्य प्रतीत होता है, परन्तु धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ने पर परिणाम (परिपाक) की दशा में अमृत तुल्य बन जाता है, अन्तर्मुखी बनी हुई आत्मविषयिणी बुद्धि की निर्मलता से मिलने वाला वह सुख सात्त्विक होता है।

संन्यासी का पूजन –

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ (१८.४६)

जिसके कारण समस्त भूतों की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) या चेष्टा होती है और जिसने सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त किया है अर्थात् जो सब जगत् में ओत-प्रोत है, उसकी अपने स्वभावप्राप्त कर्मों द्वारा पूजा होती है, न कि बाह्य प्रतीकों से। यदि संन्यासी ने ऐसी पूजा करने का अपना स्वभाव बना लिया तो उसे अवश्य ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (९.२७)

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ (९.२९)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ (९.३४)

संन्यासी का सच्चा बल

जब हम संसार का ध्यान से अवलोकन करते हैं तो धन व बल के अनेक रूप हमारे सामने उपस्थित होते हैं। पहले धन के कुछ मुख्य-मुख्य रूपों को हम देखते हैं- विद्याधन, तपोधन, शरीरधन, धर्मधन, ज्ञानधन, शान्तिधन, पशुधन, Bank-balance, Property. गुण निधि (गुणों का धन) चरित्र का धन, सन्तानधन इत्यादि। एक कवि ने भजन में कहा- **कमा ले धर्मधन प्यारे सफर में काम आयेगा।** किसी एक और ने भी कहा-

गोधन गजधन वाजिधन और रत्नधन खान।

जब आवे सन्तोष धन सब धन धूलि समान॥

संस्कृत में एक वचन है- **‘विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्’** अर्थात् विद्याधन सभी धनों में प्रमुख धन है। सबके पास सब धन हों यह आवश्यक नहीं किसी के पास कुछ है किसी के पास कुछ।

अब हम देखते हैं कि बल किन-किन रूपों में हो सकता है- विद्याबल, तपोबल, चरित्रबल, योगबल, ब्रह्मचर्यबल, सत्य का बल, अहिंसा का बल, मन्त्रबल (मन्त्रशक्ति), ब्राह्मबल, क्षात्रबल, धनबल, भौतिकबल, अध्यात्मबल, सेवाबल, ज्ञानबल, ध्यानबल, शस्त्रबल, शास्त्रबल, साधनाबल, शान्तिबल, प्रेमबल, समर्पणबल, वाणी का बल, मौन का बल, पुरुषार्थबल, स्वाध्यायबल, मनोबल, बुद्धिबल, कृपाबल, शरीरबल (बाहुबल), पशुबल, आसुरबल इत्यादि।

पतञ्जलि ने धन का अर्थ किया-धिनोतेर्धनम्। जो प्रीति का हेतु होता है वह धन कहलाता है अथवा दधातीति धनम् जो धारण करता है वह धन तथा बल का अर्थ है- प्राण, जीवनशक्ति, ऊर्जा। वस्तुतः धन व बल सर्वथा अलग-अलग दो चीजें न होकर एक दूसरे में घुली-मिली हैं।

धन व बल भोग का साधन हैं और योग का भी, साधक के लिए धन व बल के वे ही रूप अपेक्षित हैं जो साधक में अधिकाधिक आत्मज्ञान, प्रकाश आनन्द व प्रेम को ले आते हैं, जो साधक को दिन-प्रति-दिन आत्मा के निकट ले जाते हैं, जैसे अध्यात्मविद्याधन, तपोधन, शान्तिधन, सन्तोषधन, प्रेमरत्नधन, स्थैर्यधन इत्यादि। इसी प्रकार आत्मज्ञानबल, योगबल, साधनाबल, सत्यबल, अहिंसाबल, ब्राह्मबल, ज्ञानबल, समर्पणबल, त्यागबल, ध्यानबल, मौनबल, श्रद्धाबल, भक्तिबल, कृपाबल- ये सभी बल साधक को आत्मा में लीन कर देते हैं। यदि साधक के पास उपर्युक्त आवश्यक धन व बल की शक्ति न हो

तो वह कैसे अमरत्व, चिरशान्ति, परमप्रेम, भगवत्प्राप्ति रूप अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके। हाँ! एक बात तो है यदि साधक सब प्रकार के धन व बल से विहीन है, किन्तु फिर भी उसमें अपने साध्य की तीव्रतम माँग व उसके प्रति अनन्य समर्पण का बल है तो इसी बल के सहारे साधक माँग-विरोधी चीजों को अस्वीकार करता हुआ अपनी माँग से अभिन्न हो जाएगा। यह सत्य है।

यह संसार इतने प्रलोभनों से भरा हुआ है कि जो यहाँ जागे हुए नहीं हैं, तत्काल फँस जाते हैं। एक बार फँसने के बाद बन्धन तीव्र से तीव्रतम होता जाता है। इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति कभी भी अपने होश को, अपनी चेतना को न खोए। महाभारत के ऋषि सनत्सुजात ने इसीलिए घृतराष्ट्र को स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि यहाँ अस्तित्व में मृत्यु नाम की कोई चीज नहीं है 'प्रमाद ही मृत्यु है' इसीका पूरक वाक्य भी उन्होंने शब्दशः ही बोल दिया- 'अप्रमाद ही अमरत्व है'—

प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि तथाप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि। (उद्यो० ४२.४)

भाष्यकार आचार्य शङ्कर ने प्रमाद का अर्थ समझाया कि अपनी आत्मा जो कि चिन्मयस्वरूप है उससे हटना ही प्रमाद है। आचार्य के शब्द हैं- **प्रमादः प्रच्युतिः स्वाभाविकब्रह्मभावात्।** अर्थात् अपने स्वाभाविक ब्रह्मभाव से प्रच्यवन= गिर जाना ही प्रमाद है। आचार्य अप्रमाद की व्याख्या करते हुए कहते हैं- **सदाऽप्रमादं स्वाभाविकस्वरूपेणावस्थानममृतत्वं ब्रवीमि।** अर्थात् अपने स्वाभाविक स्वरूप में रहना ही अप्रमाद है और यही अमृतत्व है। प्रमाद की स्थिति उत्पन्न होते ही व्यक्ति में अपने पूर्व संस्कारवश कोई भी विचार या संकल्प स्वतः ही उठने लगते हैं, अनुकूल आलम्बन पाकर किसी भी इच्छा का उदय हो जाता है और इस प्रकार इच्छा बलवती होती हुई व्यक्ति को उस-उस कर्म में घसीट ले जाती है। किन्तु जब अप्रमाद की स्थिति होती है तो उस समय चेतना इतनी सघन होती है कि स्वतन्त्रतापूर्वक किसी संकल्प को, किसी विचार को, किसी इच्छा को उत्पन्न होने का अवसर ही नहीं मिलता, अतः आगे उस प्रकार का कोई कर्म भी नहीं होता। साधक की यह सबसे बड़ी समस्या है कि उसके चित्त में कोई भी विचार, संकल्प, भाव या चित्र अपने आप से आप उभरते रहते हैं। यही तो जीवन की समस्या है कि जो वह नहीं चाहता, वही होता रहता है। इसका कारण एक मात्र प्रमाद है और समाधान भी एक ही है 'अप्रमाद'। अतः जो चाहते हैं कि हमारा हम पर पूर्ण अधिकार हो उन्हें अप्रमाद का सहारा लेना ही पड़ेगा- '**नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**'। बस यही है संन्यासी या साधक का सच्चा बल।

संन्यासी का साधन

संन्यासी को अपनी दीक्षा को निभाने के लिये साधन करना पड़ता है। साधन को निष्ठापूर्वक अपनाकर अपने जीवन में धारण करना ही साधक की साधना बन जाती है। साधना साध्य की अगाधप्रियता, साध्य की समीपता, साध्य से अभिन्नता के अतिरिक्त और क्या है? कुछ नहीं। अतः साधना से साधक साध्य से एकाकार हो जाता है, साध्य का जो स्वरूप है, वही साधक का स्वरूप बन जाता है। साध्य की ओर ले जाने वाली और साध्येतर से हटाने वाली प्रत्येक गतिविधि क्रिया, चेष्टा, भाव, विचार- सब साधन हैं। साध्य के लिए व्याकुलता, उत्कण्ठा, अभीप्सा, तड़फ, लगन, वेदना इत्यादि सभी सशक्त साधन के ही रूप हैं। साध्य के लिए अनन्य प्रेम अपने आप में पूर्ण साधन है। इस साधन को विधेयात्मक और निषेधात्मक- इन दो रूपों में बाँटकर देखा जा सकता है। संन्यासी को क्या-क्या करना है, यह है विधेयात्मक साधन और क्या-क्या नहीं करना है, वह है निषेधात्मक साधन। जैसे योगशास्त्र में वृत्तियों का निरोध करने के लिये '**अभ्यास और वैराग्य**' इन दो साधनों का निर्देश किया है। अभ्यास है विधेयात्मक साधन और वैराग्य निषेधात्मक। इसी प्रकार योग के आठ अङ्गों का निर्देश करते हुए यम-नियम के रूप में प्रारम्भिक दो साधन बताए हैं- 'यम' हैं निषेधात्मक साधन और 'नियम' हैं विधेयात्मक। जैसे-

१. हिंसा का त्याग (अहिंसा)। २. असत्य का त्याग (सत्य)।
३. चोरी का त्याग (अस्तेय)। ४. विषयों का त्याग (ब्रह्मचर्य)।
५. परिग्रह का त्याग या अहं का त्याग (अपरिग्रह)।

संन्यासी का प्रमुख विधेयात्मक साधन है- 'ब्रह्मयज्ञ'। कुछ तो ऊपर दर्शा ही दिये हैं, उनके साथ ये भी हैं- आत्मा, ईश्वर, ब्रह्म को जानने, पाने के लिए किया गया जो भी विचार, ध्यान, ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद् व योगशास्त्र का श्रवण-मनन, निदिध्यासन, एक-एक क्षण का सदुपयोग, सब प्राणियों के प्रति स्वात्मवद्दृष्टि, मैत्री-करुणा-मुदिताभावना, अखण्ड भक्ति,

शरणागति, समर्पण, सत्सङ्ग, समदृष्टि, सच्चर्चा, सत्कथा, सत्श्रवण, सत्कर्म (निष्काम कर्म, सेवा), जप-तप इत्यादि।

प्रमुख निषेधात्मक साधन है— 'वैराग्य', संक्षेप में साध्येतर से हटाने वाली प्रत्येक चेष्टा निषेधात्मक साधन है। ममता व अहंता का त्याग, कामनाराहित्य, फलेच्छा का त्याग। अनावश्यक कार्यों तथा व्यवहारों में समय नष्ट न करना, किसी के साथ भी पक्षपात का त्याग, किसी का दिल न दुःखाना, किसी के भी प्रति हँसी-मजाक व्यङ्ग्यादि न करना, क्रोधादि विकारों से मुक्त रहना इत्यादि। संन्यासी का 'तप' विधेयात्मक व निषेधात्मक दोनों साधनों का समुच्चय है। एक दूसरे सन्दर्भ में हमने इस बात को अच्छे से स्पष्ट कर दिया है कि संन्यासी की दीक्षा की रक्षा करने वाला साधन 'तप' है। तप नहीं तो दीक्षा नहीं। ब्रह्म से अतिरिक्त संन्यासी को कुछ भी न दिखाई दे— यही उसका तप है।

साधन में जिसको जितनी गहरी निष्ठा होती है, उतनी ही शीघ्र उसे सिद्धि की प्राप्ति होती है। जैसा कि हमने ऊपर कहा— साधन वह है जो साधक को साध्य के समीप पहुँचा दे, साध्य से साधक का भेद न रहने दे, साधक को साध्य से अभिन्न कर दे। इस प्रकार 'साधन या साधना ही सिद्धि है' यदि ऐसा कह दिया जाए तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसीलिए व्यासभाष्य में कहा है—

‘न च सिद्धिरन्तरेण साधनमित्येतदारभ्यते- योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धे-
र्वियोगकारणम्। यथा परशुच्छेद्यस्य। विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणं यथा
धर्मः सुखस्य, नान्यथा कारणम्’।

अर्थात् बिना साधन के सिद्धि नहीं होती, इसलिए 'योगाङ्गानुष्ठानाद्' यह सूत्र रचा गया। योग के अङ्गों का अनुष्ठान अर्थात् सम्यग् अभ्यास अशुद्धि का वियोगकारण अर्थात् दूर करने वाला कारण है। जैसे काटी जाने वाली वस्तु का वियोगकारण कुल्हाड़ा होता है, किन्तु वही योगाङ्गानुष्ठान विवेकख्याति का प्राप्तिकारण (प्राप्ति कराने वाला कारण) है। जैसे धर्म सुख का प्राप्तिकारण होता है। अन्य किसी प्रकार से यह साधनानुष्ठान विवेकख्याति का कारण नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान साध्य की प्राप्ति और साध्येतर से निवृत्ति में कारण है।

मनुस्मृति

संन्यासधर्म विषय

षष्ठ अध्याय

1. यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रब्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥39॥
2. यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ 40॥
3. आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः ।
समुपोदेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥41॥
4. एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन् जहाति न हीयते ॥42॥
5. अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥43॥
6. नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥45॥
7. दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥46॥
8. अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥47॥
9. क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णं च न वाचमनृतां वदेत् ॥48॥
10. अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥49॥
11. क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥52॥
12. एककालं चरेद् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥55॥

13. अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासंगाद्विनिर्गतः ॥57॥
14. अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽति बद्धयते ॥58॥
15. अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च ।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥59॥
16. इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥60॥
17. अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः ।
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥61॥
18. विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः ।
जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥62॥
19. देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भं च सम्भवम् ।
योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥63॥
20. अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥64॥
21. सूक्ष्मतां चान्वेक्षेत योगेन परमात्मनः ।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥65॥
22. दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥66॥
23. फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥67॥
24. प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥70॥
25. दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥71॥
26. प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥72॥
27. उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन सम्पश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥73॥

28. सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबद्धयते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥74॥
29. अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥75॥
30. यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥80॥
31. अनेन विधिना सर्वास्त्यक्त्वा संगोज्जनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥81॥
32. ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम् ।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ॥82॥
33. इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥84॥
34. अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥85॥
35. ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥87॥
36. सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः ।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ 88॥
37. सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥89॥
38. यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥90॥
39. चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥91॥
40. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥92॥
41. एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥97॥

एकादश अध्याय (प्रायश्चित्त- विषय)

1. अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ 44॥
2. अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥45॥
3. अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति ।
कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥46॥
4. प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥47॥
5. चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्ध्ये ।
निन्दैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैः नरैः ॥53॥
6. वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ।
स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥203॥
7. सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥225॥
8. ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च ।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥ 227॥
9. यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते ।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥228॥
10. यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति ।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥229॥

11. कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ।
नैवं कुर्यात्पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥230॥
12. अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्दितीयं न समाचरेत् ॥232॥
13. यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् ।
तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥233॥
14. वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा ।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥245॥
15. यथैधस्तेजसां वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदविद् ॥246॥
16. यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति ।
तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥263॥
17. ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च ।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैर्न स वेदवित् ॥ 264॥
18. आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता ।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥265॥

द्वादश अध्याय

(कर्मफल विधान एवं निःश्रेयसकर कर्मो का वर्णन)

1. शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥3॥
2. तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥4॥
3. परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥5॥
4. पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥6॥
5. अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥7॥
6. मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम् ।
वाचा वाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥8॥
7. सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान् ।
यैर्व्याप्येमान्स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः ॥24॥
8. यो यदेषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥25॥
9. सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥26॥
11. तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥27॥
12. यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद्रजो प्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥28॥

13. यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥29॥ (13)
14. त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥30॥
15. वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥31॥
16. आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥32॥
17. लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥33॥
18. त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् ।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥34॥
19. यत्कर्म कृत्वा कुर्वश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ 35॥
20. येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।
न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ 36॥
21. यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।
येन तुष्यति चात्माऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥37॥
22. तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥38॥
23. इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च ।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥52॥
24. यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः ।
तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥73॥

25. तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः ।
संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥74॥
26. यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते ।
तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥81॥
27. एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः ।
निःश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥82॥
28. वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च निःश्रेयसकरं परम् ॥83॥
29. सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्भ्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥85॥
30. सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥91॥
31. यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥92॥
32. पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥94॥
33. या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥95॥
34. चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥97॥
35. बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥99॥
36. यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् ।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥101॥

37. वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥102॥
38. तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् ।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥104॥
39. प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥105॥
40. आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥106॥
41. धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥109॥
42. एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम् ।
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥116॥
43. सर्वमात्मनि सम्पश्येत्सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥118॥
44. आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणम् ॥119॥
45. एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिव्याप्य मूर्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥124॥
46. एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥125॥

चरक संहिता के मनन योग्य विशिष्ट प्रसङ्ग

- धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च॥ (सू० 1.15)
- हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहाः॥ (सू० 1.24)
- हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥ (सू० 1.41)
- सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
हासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु॥ (सू० 1.44)
- सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ (सू० 1.46)
- कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः॥ (सू० 1.54)
- शरीरं सत्त्वसंज्ञञ्च व्याधीनामाश्रयो मतः।
तथा सुखानाम्, योगस्तु सुखानां कारणं समः॥ (सू० 1.55)
- निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥ (सू० 1.56)
- वायुः पित्तं कफश्चोक्तो शारीरो दोषसंग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च॥ (सू० 1.57)
- प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः।
मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः॥ (सू० 1.58)
- नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी यथा।
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्॥ (सू० 5.103)
- वृत्त्युपायान् निषेवेत ये स्युर्धर्माविरोधिनः।
शममध्ययनं चैव सुखमेवं समश्नुते॥ (सू० 5.104)

- इमांस्तु धारयेद्वेगान् हितार्थी प्रेत्य चेह च।
साहसानामशस्तानां मनोवाक्कायकर्मणाम्॥ (सू० 7.26)
- लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत्।
नैर्लज्ज्येष्वतिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान्॥ (सू० 7.27)
(अभिध्या मनसा पराभिद्रोहचिन्तनं, यदि वा परद्रव्यविषये स्पृहा)
- परुषस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्य च।
वाक्यस्याकालयुक्तस्य धारयेद्वेगमुत्थितम्॥ (सू० 7.28)
- देहप्रवृत्तिर्या काचिद्विद्यते परपीडया।
स्त्रीभोगस्तेयहिंसाद्या तस्या वेगान् विधारयेत्॥ (सू० 7.29)
- पुण्यशब्दो विपापत्वान्मनोवाक्कायकर्मणाम्।
धर्मार्थकामान् पुरुषः सुखी भुङ्क्ते चिनोति च॥ (सू० 7.30)
- ईर्ष्याशोकभयक्रोधमानद्वेषादयश्च ये।
मनोविकारास्तेऽप्युक्ताः सर्वे प्रज्ञापराधजाः॥ (सू० 7.52)
- त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः।
देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम्॥ (सू० 7.53)
- आगन्तूनामनुत्पत्तावेष मार्गो निदर्शितः।
प्राज्ञः प्रागेव तत् कुर्याद्वितं विद्याद् यदात्मनः॥ (सू० 7.54)
- आप्तोपदेशप्रज्ञानं प्रतिपत्तिश्च कारणम्।
विकाराणामनुत्पत्तावुत्पन्नानां च शान्तये॥ (सू० 7.55)
(प्रतिपत्तिरूपदिष्टार्थस्य सम्यगवबोधः, एतद्व्यं कारणम्)
- ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्रीकारुण्यहर्षोपेक्षा-
प्रशमपरश्च स्यादिति। (सू० 8.29)
- विकारो धातुवैषम्यं, साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं, विकारो दुःखमेव च॥ (सू० 9.4)
- शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मनः।
ताभ्यां भिषक् सुयुक्ताभ्यां चिकित्सनापराध्यति॥ (सू० 9.24)

- न परीक्षा न परीक्ष्यं न कर्ता कारणं न च।
न देवा नर्षयः सिद्धाः कर्म कर्मफलं न च॥
नास्तिकस्यास्ति नैवात्मा यदृच्छोपहतात्मनः।
पातकेभ्यः परं चैतत् पातकं नास्तिकग्रहः॥ (सू० 11.14, 15)
- रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ता शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः॥ (सू० 11.18, 19)
युक्तेर्लक्षणम्-
- बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्।
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया॥ (सू० 11.25)
- एषा परीक्षा नास्त्यन्या यया सर्वं परीक्ष्यते।
परीक्ष्यं सदसच्चैवं तथा चास्ति पुनर्भवः॥ (सू० 11.26)
- तत्राप्तागमस्तावदेवेदः, यश्चान्योऽपि कश्चिद्वेदार्थादविपरीतः
परीक्षकैः प्रणीतः शिष्टानुमतो लोकानुग्रहप्रवृत्तः शास्त्रवादः,
स चाप्तागमः, आप्तागमादुपलभ्यते दानतपोयज्ञसत्या-
हिंसाब्रह्मचर्याण्यभ्युदयनिःश्रेयसकराणीति।
- न चानतिवृत्तसत्त्वदोषाणामदोषैरपुनर्भवो धर्मद्वारेषूपदिश्यते।
- धर्मद्वारावहितैश्च व्यपगतभयरागद्वेषलोभमोहमानैर्बह्मपरैराप्तैः
कर्मविद्धिरनुपहतसत्त्वबुद्धिप्रचारैः पूर्वैः पूर्वतरैर्महर्षिभि-
र्दिव्यचक्षुभिर्दृष्ट्वोपदिष्टः पुनर्भव इति व्यवस्येदेवम्॥
- प्रत्यक्षमपि चोपलभ्यते मातापित्रोर्विसदृशान्यपत्यानि, तुल्यसंभवानां
वर्णस्वराकृतिसत्त्वबुद्धिभाग्यविशेषाः, प्रवरावरकुलजन्म,
दास्यैश्वर्यं, सुखासुखमायुः, आयुषो वैषम्यम्, इह कृतस्यावाप्तिः,
अशिक्षितानाञ्च रुदितस्तनपानहासत्रासादीनां प्रवृत्तिः,
लक्षणोत्पत्तिः कर्मसादृश्ये फलविशेषः, मेधा क्वचित् क्वचित्
कर्मण्यमेधा, जातिस्मरणम्-इहागमनमितश्च्युतानामिति, समदर्शने
प्रियाप्रियत्वम्' (सू० 11.27, 28, 29, 30)

- अत एनानुमीयते यत् स्वकृतमपरिहार्यमविनाशि पौर्वदेहिकं-
दैवसंज्ञकमानुबन्धिकं कर्म, तस्यैतत् फलम् इतश्चा-
न्यद्भवविध्यतीति, फलाद् बीजमनुमीयते, फलं च बीजात्।
- युक्तिश्चैषा- षड्धातुसमुदायाद्गर्भजन्म, कर्तृकरणसंयोगात्
क्रिया, कृतस्य कर्मणः फलं नाकृतस्य, नाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात्,
कर्मसदृशं फलं, नान्यस्माद् बीजादन्यस्योत्पत्तिः, इति युक्तिः।
- एवं प्रमाणैश्चतुर्भिरुपदिष्टे पुनर्भवे धर्मद्वारेष्ववधीयेत, तद्यथा-
गुरुशुश्रूषायामध्ययने व्रतचर्यायाम् दारक्रियायापत्योत्पादने
भृत्यभरणेऽतिथिपूजायां दानेऽनभिध्यायां तपस्यनसूयायां
देहवाङ्मानसे कर्मण्यक्लिष्टे देहेन्द्रियमनोऽर्थबुद्ध्यात्मपरीक्षायां
मनःसमाधाविति, यानि चान्यान्यप्येवंविधानि कर्माणि
सतामविगर्हितानि स्वर्गाणि वृत्तिपुष्टिकराणि विद्यात् तान्यारभेत
कर्तुं, तथा कुर्वन्निह चैव यशो लभते प्रेत्य च स्वर्गम् इति तृतीया
परलोकेषणा व्याख्याता भवति॥ (सू० 11.31, 32, 33)
त्रय उपस्तम्भा इति- आहारः, स्वप्नो, ब्रह्मचर्यमिति॥ (सू० 11.35)
- त्रयो रोगा इति निजागन्तुमानसाः। तत्र निजः शारीरदोषसमुत्थः,
आगन्तुर्भूतविषवाय्वग्निसंप्रहारादिसमुत्थः, मानसः पुनरिष्टस्य
लाभाल्लाभाच्चा निष्टस्योपजायते।
- तत्र बुद्धिमता मानसव्याधिपरीतेनापि सता बुद्ध्या हिताहित-
मवेक्ष्यावेक्ष्य धर्मार्थकामानामहितानामनुपसेवने हितानां चोपसेवने
प्रयतितव्यम्, न ह्यन्तरेण लोके त्रयमेतन्मानसं किञ्चिन्निष्पद्यते
सुखं वा दुःखं वा; तस्मादेतच्चानुष्ठेयं-तद्विद्यानां चोपसेवने
प्रयतितव्यम्। आत्मदेशकुलकालबलशक्तिज्ञाने यथावच्चेति।
- मानसं प्रति भैषज्यं त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम्।
तद्विद्यसेवा विज्ञानमात्मादीनां च सर्वशः॥ (सू० 11.45, 46, 47)
- त्रिविधमौषधमिति दैवव्यपाश्रयं, युक्तिव्यपाश्रयं, सत्त्वावजयश्च।
तत्र दैवव्यपाश्रयं- मन्त्रौषधि-मणि-मङ्गल-बलि-उपहार-

होम-नियम-प्रायश्चित्त-उपवास-स्वस्त्ययन-प्रणिपात- गमनादि। युक्तिव्यपाश्रयं- पुनराहारौषधद्रव्याणां योजना, सत्त्वावजयः- पुनरहितेभ्योऽर्थेभ्यो मनोनिग्रहः। (सू० 11.54)

- नास्तिको वर्ज्यानाम्, लौल्यं क्लेशकराणाम्, वैद्यसमूहो निःसंशयकराणाम्, योगो वैद्यगुणानाम्, विज्ञानमौषधीनाम्, शास्त्रसहितस्तर्कः साधनानाम् (ज्ञानसाधनानाम्) संप्रतिपत्तिः (कालानतिक्रमेण कार्यकरणं संप्रतिपत्तिः) कालज्ञानप्रयोजनानाम्, अव्यवसायः (अनुद्योगः, कर्तव्यतामात्रेण ज्ञानम्) कालातिपत्तिहेतूनाम्, दृष्टकर्मता निःसंशयकराणाम्, असमर्थता भयकराणाम्, तद्विद्यसंभाषा बुद्धि-वर्धनानाम्, आचार्यः शास्त्राधिगमहेतूनाम्, आयुर्वेदोऽमृतानाम् सद्बचनमनुष्ठेयानाम्, असद्ग्रहणं सर्वाहितानाम्, सर्वसंन्यासः (सर्वक्रियात्यागः, सर्वेन्द्रियार्थत्यागः) सुखानाम्, विषादो रोग-वर्धनानाम्, स्नानं श्रमहराणाम्, हर्षः प्रीणनानाम्, पुष्टिः स्वप्नकराणाम्, अतिस्वप्नस्तन्द्राकराणाम्, सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्, एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्, आयासः सर्वापथ्यानाम्, मिथ्यायोगो (सम्यग्योगादन्यस्त्रिविधो योगः) व्याधिकराणाम्, ब्रह्मचर्यमायुष्याणाम्, प्रशमः पथ्यानाम्, अजीर्णाध्यशनं ग्रहणीदूषणानाम्, विषमाशनमग्निवैषम्य-कराणाम्, विरुद्धवीर्याशनं निन्दितव्याधिकराणाम् (शिवत्रकुष्ठादि) एकाशनभोजनं सुखपरिणामकराणाम्, गुरुभोजनं दुर्विपाककराणाम्, मद्याक्षेपो धीधृतिस्मृतिहराणाम्, वेगसन्धारणमनारोग्यकराणाम्, यथासात्म्यं चेष्टाभ्यवहारौ सेव्यानाम्, कालभोजनमारोग्यकराणाम्, तृप्तिराहारगुणानाम् (गुणशब्दः प्रशस्तधर्मवचनः) अनशनमायुषो ह्रासकराणाम्, प्रमिताशनं (स्तोकभोजनम्) कर्शनीयानाम्, अतिमात्राशनमामप्रदोषहेतूनाम्, क्षीरघृताभ्यासो रसायनानाम्, तैलगण्डूषाभ्यासो दन्तबलरुचि-

कराणाम्, मधुकं चक्षुष्यवृष्यकेश्यकण्ठ्यवर्ण्यविरजनीय-रोपणीयानाम्, वायुः प्राणसंज्ञाप्रदानहेतूनाम् अग्निरामस्तम्भ-शीतशूलोद्वेपनप्रशमनानाम्, जलं स्तम्भनीयानाम्, स्वेदो मार्दव-कराणाम्, क्षीरं जीवनीयानाम्, उदकमाश्वासकराणाम्, अनिर्वेदो वार्त्तलक्षणानाम् (आरोग्यलक्षणानाम्)। (सू० 25.40)

- हिताभिर्जुहुयानित्यमन्तरग्निं समाहितः।
अन्नपानसमिद्धिर्ना मात्राकालौ विचारयन्॥ (सू० 27.345)
- आहिताग्निः सदा पथ्यान्यन्तरग्नौ जुहोति यः।
दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यथ ददाति च ॥ (सू० 27.346)
- नरं निःश्रेयसे युक्तं सात्म्यज्ञं पानभोजने।
भजन्ते नामयाः केचिद्भाविनोऽप्यन्तरादृते ॥ (सू० 27.347)
अन्तरादिति कारणात्, अपथ्यस्य तथा अधर्मस्य रोगकारणस्याभावाद् गदा न भवन्ति)
- अजातानामनुत्पत्तौ जातानां विनिवृत्तये।
रोगाणां यो विधिर्दृष्टः सुखार्थी तं समाचरेत्॥ (सू० 28.34)
- सुखार्था सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
ज्ञानाज्ञानविशेषात्तु मार्गामार्गप्रवृत्तयः॥ (सू० 28.35)
- हितमेवानुरुध्यन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः।
रजोमोहावृतात्मानः प्रियमेव तु लौकिकाः॥ (सू० 28.36)
- श्रुतं बुद्धिः स्मृतिर्दाक्ष्यं धृतिर्हितनिषेवणम्।
वाग्विशुद्धिः शमो धैर्यमाश्रयन्ति परीक्षकम्॥ (सू० 28.37)
- लौकिकं नाश्रयन्त्येते गुणा मोहरजःश्रितम्।
तन्मूला बहवो यन्ति रोगाः शारीरमानसाः॥ (सू० 28.38)
- प्रज्ञापराधाद्ब्रह्महितानर्थान् पञ्च निषेवते।
संधारयति वेगांश्च सेवते साहसानि च॥ (सू० 28.39)
- तदात्वसुखसंज्ञेषु भावेष्वाज्ञोऽनुरज्यते।
रज्यते न तु विज्ञाता विज्ञाने ह्यमलीकृते॥ (सू० 28.40)

- न रागान्नाप्यविज्ञानादाहारानुपयोजयेत्।
परीक्ष्य हितमशनीयाद् देहो ह्याहारसंभवः॥ (सू० 28.41)
- परिहार्याण्यपथ्यानि सदा परिहरन्तरः।
भवत्यनृणतां प्राप्तः साधूनामिह पण्डितः॥ (सू० 28.43)
- यत्तु रोगसमुत्थानमशक्यमिह केनचित्।
परिहर्तुं न तत् प्राप्य शोचितव्यं मनीषिभिः॥ (सू० 28.44)
- अथ खल्वेकं प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतममेकं बलवर्धनानामेकं बृंह-
णानामेकं नन्दनानामेकं हर्षणानामेकमयनानामिति। तत्राहिंसा
प्राणिनां प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतमम्, वीर्यं बलवर्धनानाम्, विद्या
बृंहणानाम्, इन्द्रियजयो नन्दनानाम्, तत्त्वावबोधो हर्षणानाम्,
ब्रह्मचर्यमयनानामिति एवमायुर्वेदविदो मन्यन्ते। (सू० 30.15)
- समग्रं दुःखमायत्तमविज्ञाने द्वयाश्रयम्।
सुखं समग्रं विज्ञाने विमले च प्रतिष्ठितम्॥ (सू० 30.84)
- इदमेवमुदारार्थमज्ञानां न प्रकाशकम्।
शास्त्रं दृष्टिप्रणष्टानां यथैवादित्यमण्डलम्॥ (सू० 30.85)
- साहसं वर्जयेत् कर्म रक्षञ्जीवितमात्मनः।
जीवन् हि पुरुषस्त्विष्टं कर्मणः फलमश्नुते॥ (निदा० 6.5)
- सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत्।
तदभावे हि भावानां सर्वाभावः शरीरिणाम्॥ (निदा० 6.7)
- आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।
क्षयो ह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति॥ (निदा० 6.9)
- हिताशी स्यान्मिताशी स्यात्कालभोजी जितेन्द्रियः।
पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान् बुद्धिमान् विषमाशनात्॥ (निदा० 6.11)
- नैव देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।
न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुपक्लिशन्ति मानवम्॥ (निदा० 7.19)
- ये त्वेनमनुवर्तन्ते क्लिश्यमानं स्वकर्मणा।
न स तद्धेतुकः क्लेशो न ह्यस्ति कृतकृत्यता॥ (निदा० 7.20)

- प्रज्ञापराधात् संभूते व्याधौ कर्मज आत्मनः।
नाभिर्शंसेद् बुधो देवान् पितृन्नापि राक्षसान्॥ (निदा० 7.21)
- आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः।
तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्येत नो त्रसेत्॥ (निदा० 7.22)
- देवादीनामपचितिर्हितानां चोपसेवनम्।
ते च तेभ्यो विरोधश्च सर्वमायत्तमात्मनि॥ (निदा० 7.23)
- लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते ॥ (शा० 1.18)
- वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते।
अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ ॥ (शा० 1.19)
- चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं सङ्कल्प्यमेव च।
यत् किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥ (शा० 1.20)
- इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः।
ऊहो विचारश्च, ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते ॥ (शा० 1.21)
- युक्तिमेतां पुरस्कृत्य त्रिकालां वेदनां भिषक्।
हन्तीत्युक्तं चिकित्सा तु नैष्ठिकी या विनोपधाम्॥ (शा० 1.94)
(भावदोष उपधा तृष्णेत्यर्थः)
- उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः।
त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः॥ शा० 1.95)
- कोषकारो यथा ह्यंशूनुपादत्ते वधप्रदान्।
उपादत्ते तथाऽर्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदातुरः॥ (शा० 1.96)
- यस्त्वग्निक्ल्पानर्थाञ्जो ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्तते।
अनारम्भादसंयोगात्तं दुःखं नोपतिष्ठते॥ (शा० 1.97)
- धीधृतिस्मृतिविभ्रंशः सम्प्राप्तिः कालकर्मणाम्।
असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः॥ (शा० 1.98)
(कालस्य संप्राप्तिस्तथा कर्मणश्च संप्राप्तिः। कर्मसंप्राप्तिः पच्यमानकर्मयोगः।
कालसंप्राप्तिग्रहणेन चेह ये कालव्यक्ताः कालव्यञ्ज्या न तु कालजन्याः)

- विषमाभिनिवेशो यो नित्यानित्ये हिताहिते।
ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः समं बुद्धिर्हि पश्यति॥ (शा० 1.99)
- विषयप्रवणं सत्त्वं धृतिभ्रंशान्न शक्यते।
नियन्तुमहितादर्थान् धृतिर्हि नियमात्मिका॥ (शा० 1.100)
- तत्त्वज्ञाने स्मृतिर्यस्य रजोमोहावृतात्मनः।
भ्रश्यते स स्मृतिभ्रंशः स्मर्तव्यं हि स्मृतौ स्थिताम्॥ (शा० 1.101)
- धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापरार्थं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥ (शा० 1.102)
- ईर्ष्यामानभयक्रोधलोभमोहमदभ्रमाः ।
तज्जं वा कर्म यत् क्लिष्टं क्लिष्टं यद्देहकर्म च ॥ (शा० 1.107)
- यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम् ।
प्रज्ञापरार्थं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम् ॥ (शा० 1.108)
- बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्तनम्।
प्रज्ञापरार्थं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत्॥ (शा० 1.109)
- निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत् पौर्वदेहिकम्।
हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते॥ (शा० 1.116)
- न हि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते।
क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात्॥ (शा० 1.117)
- वेदनानामशान्तानामित्येते हेतवः स्मृताः।
सुखहेतुः समस्त्वेकः समयोगः सुदुर्लभः॥ (शा० 1.129)
- इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात् प्रवर्तते।
तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं पुनरुच्यते॥ (शा० 1.134)
- योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।
मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः॥ (शा० 1.137)
- मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसंक्षयात्।
वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते॥ (शा० 1.142)

- सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम्।
व्रतचर्योपवासौ च नियमाश्च पृथग्विधाः॥ (शा० 1.143)
- धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः।
विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः॥ (शा० 1.144)
- कर्मणामसमारम्भः कृतानां च परिक्षयः।
नैष्कर्म्यमनहङ्कारः संयोगे भयदर्शनम्॥ (शा० 1.145)
- मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्त्वपरीक्षणम्।
तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात् सर्वमेतत् प्रवर्तते॥ (शा० 1.146)
- स्मृतिः सत्सेवनाद्यैश्च धृत्यन्तैरुपजायते।
स्मृत्वा स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखात् प्रमुच्यते॥ (शा० 1.147)
- वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ स्मृतिर्यैरुपजायते।
निमित्तरूपग्रहणात् सादृश्यात् सविपर्ययात्॥
- सत्त्वानुबन्धादभ्यासाज्ज्ञानयोगात् पुनःश्रुतात्।
दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते॥ (शा० 1.148, 149)
- एतत्तदेकमयनं मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम्।
तत्त्वस्मृतिबलं, येन गता न पुनरागताः॥ (शा० 1.150)
- अयनं पुनराख्यातमेतद्योगस्य योगिभिः।
संख्यातधर्मैः सांख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्य चायनम्॥ (शा० 1.151)
- सर्वं कारणवद् दुःखमस्वं चानित्यमेव च।
न चात्मकृतकं तद्धि तत्र चोत्पद्यते स्वता ॥ (शा० 1.152)
- (सर्वं कारणवदिति सर्वमुत्पद्यमानं बुद्ध्यहंकारशरीरादि। दुःखमिति दुःखहेतुरेव। अस्वमिति सर्वं कारणवदेवात्मव्यतिरिक्तं परमार्थतः। न चात्मनोदासीनेन कृतम्। तत्र बुद्धिशरीरादौ। स्वतेति ममता 'ममेयं बुद्धि' इत्यादिरूपा।)
- यावन्नोत्पद्यते सत्या बुद्धिर्नैतदहं यया।
नैतन्ममेति विज्ञाय ज्ञः सर्वमतिवर्तते॥ (शा० 1.153)

- तस्मिंश्चरमसंन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः।
ससंज्ञाज्ञानविज्ञाना निवृत्तिं यान्त्यशेषतः॥ (शा० 1.154)
 - अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते।
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते॥
ज्ञानं ब्रह्मविदां चात्र नाज्ञस्तज्ज्ञातुमर्हति। (शा० 1.155)
 - रोगाः कुतः संशमनं किमेषां हर्षस्य शोकस्य च किं निमित्तम्।
शरीरसत्त्वप्रभवा विकाराः कथं न शान्ता पुनरापतेयुः॥
 - प्रज्ञापराधो विषमास्तथाऽर्था हेतुस्तृतीयः परिणामकालः।
सर्वामयानां त्रिविधा च शान्तिर्ज्ञानार्थकालाः समयोगयुक्ताः॥
 - धर्म्याः क्रिया हर्षनिमित्तमुक्तास्ततोऽन्यथा शोकवशं नयन्ति।
शरीरसत्त्वप्रभवास्तु रोगास्तयोरवृत्त्या न भवन्ति भूयः॥
(तयोरवृत्त्येति शरीरमनसोः सन्तानोच्छेदात्।)
 - रूपस्य सत्त्वस्य च सन्ततिर्या नोक्तस्तदादिर्न हि सोऽस्ति कश्चित्।
तयोरवृत्तिः क्रियते पराभ्यां धृतिस्मृतिभ्यां परया धिया च॥
(तयोः शरीरसत्त्वयोः संतन्यमानयोः। पराभ्यामिति श्रेष्ठाभ्याम्।)
 - सत्याश्रये वा द्विविधे यथोक्ते, पूर्वं गदेभ्यः प्रतिकर्म नित्यम्।
जितेन्द्रियं नानुपतन्ति रोगास्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम्॥
 - दैवं पुरा यत् कृतमुच्यते तत्, तत् पौरुषं यत्त्विह दृष्टम्।
प्रवृत्तिहेतुर्विषमः स दृष्टो, निवृत्तिहेतुर्हि समः स एव॥
(शा० 2.39,40,41,42,43,44)
 - नरो हिताहारविहारसेवी, समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥
 - मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धं सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः॥
(शा० 2.46, 47)
- न चात्मा सत्त्विन्द्रियेषु ज्ञः, असत्सु वा भवत्यज्ञः न ह्यसत्त्वः
कदाचिदात्मा, सत्त्वविशेषाच्चोपलभ्यते ज्ञानविशेष इति ।
(शा० 3.18)

- (इन्द्रियभावे तथेन्द्रियाभावेऽपि नित्यं ज्ञानवानेवात्मा। आत्मा सर्वदा समनस्क एव, तेन बाह्येन्द्रियाभावेऽप्यन्तःकरणमनोयोगान्नित्यमात्मा मनःकरणको ज्ञानवानेवायम्' यत्त्वेतद् बाह्य विषयगतं ज्ञानं, तत् सत्त्वस्येन्द्रियाधिष्ठानविशेषाद् भवति, तेन इन्द्रियभावे इन्द्रियजन्यं विशिष्टं ज्ञानं भवति, यत्तु केवलमनोजन्यमात्मज्ञानं तद्भवत्येव सर्वदा।)
- न कर्तुरिन्द्रियाभावात् कार्यज्ञानं प्रवर्तते।
या क्रिया वर्तते भावैः सा विना तैर्न वर्तते॥
ज्ञानन्नपि मृदोऽभावात् कुम्भकृन्न प्रवर्तते । (शा० 3.19)
श्रूयतां चेदमध्यात्ममात्मज्ञानबलं महत्। (शा० 3.20)
- इन्द्रियाणि च संक्षिप्य मनः संक्षिप्य चञ्चलम् ।
(संक्षिप्येति विषयेभ्यो व्यावर्त्य। मनः संक्षिप्येति मनोऽप्यात्मव्यतिरिक्तविषयान्निगृह्य।)
प्रविश्याध्यात्ममात्मज्ञः स्वे ज्ञाने पर्यवस्थितः॥
सर्वत्रावहितज्ञानः सर्वभावान् परीक्षते । (शा० 3.21)
गृहीष्व चेदमपरं भरद्वाज विनिर्णयम्। (शा० 3.22)
- निवृत्तेन्द्रियवाक्चेष्टः सुप्तः स्वप्नगतो यदा ॥
विषयान् सुखदुःखे च वेत्ति नाज्ञोऽप्यतः स्मृतः ॥ (शा० 3.23)
- नात्मज्ञानादृते चैकं ज्ञानं किञ्चित् प्रवर्तते।
न ह्योको वर्तते भावो वर्तते नाप्यहेतुकः ॥ (शा० 3.24)
- निर्विकारः परस्त्वात्मा सर्वभूतानां निर्विशेषः,
सत्त्वशरीरयोस्तु विशेषाद्विशेषोपलब्धिः। (शा० 4.33)
- धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयरसायनम्।
अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम्॥ (अष्टाङ्गहृदय)
- मात्रयाऽप्यभ्यवहतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति।
चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः॥ (वि०- २.९)
- ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुदैन्यनिपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति॥

कर्मयोग : कर्मसंन्यास : ज्ञानसंन्यास

आज हम ऐसे महत्वपूर्ण बिन्दु पर चर्चा करने चले हैं, जो प्राचीन काल से ही विवाद (Debate) का विषय रहा है- संन्यासी को कर्म करना चाहिए या नहीं। एक मत है संन्यासी को समस्त कर्मों का परित्याग कर देना चाहिए। दूसरा मत है कि नहीं सभी कर्मों का त्याग तो हो ही नहीं सकता, कुछ का त्याग कर देना चाहिए और कुछ को करते रहना चाहिए। अतः इस विषय में 'सत्य क्या है' इसकी खोज करना चाहते हैं।

पहली बात हमें यह ज्ञात होनी चाहिए कि कर्म की परिभाषा या स्वरूप क्या है, कर्म कहते किसे हैं? कर्म के साधन क्या हैं? कर्म का उद्देश्य क्या है? कर्म के कौन-कौन से भेद हैं? आइये- इन प्रश्नों के उत्तर के साथ हम आगे बढ़ते हैं-

कर्म की परिभाषा है- यत् क्रियते तत् कर्म। जो भी करने योग्य है, जो मन-बुद्धि, इन्द्रिय रूपी करणों या शरीर रूप साधन, बाह्य पदार्थों अथवा किसी मन्त्रविशेष के द्वारा यज्ञयागादि किया जाता है, वह कर्म है। कर्ता की क्रिया का जो लक्ष्य होता है। कर्ता किसी क्रिया-विशेष के द्वारा जिसको प्राप्त करना चाहता है, वह कर्म है। पाणिनि ने भी यही कर्म की परिभाषा दी है- 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (अ.- १.४.४९)। इससे यह भी ज्ञात हो गया कि कर्म का उद्देश्य है- किसी न किसी फल की प्राप्ति। वे क्रियाफल उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और प्राप्य भेद से चार प्रकार के हो सकते हैं। जब कोई अविद्यमान वस्तु क्रिया द्वारा उत्पन्न की जाती है तो उसे 'उत्पाद्य' कहते हैं, जैसे घट-पट आदि। एक वस्तु को दूसरे रूप में परिणत करने पर जो फल प्राप्त होता है, उसे 'विकार्य' कहते हैं, जैसे कङ्कण को गलाकर उसका कुण्डल बना दिया जाए। दोष को हटाना और गुण को प्रकट कर देना संस्कार्य है, जैसे किसी दर्पण को घिसकर उसका मैल हटा दिया जाए और उसमें चमक पैदा कर दी जाए। योगाङ्गानुष्ठान से मन-बुद्धि व इन्द्रियों की शुद्धि भी इसी संस्कार्य कर्म के अन्तर्गत आती है। स्नान के द्वारा शरीर की शुद्धि भी संस्कार्य कर्म है, प्राणायाम से मन व इन्द्रियों की शुद्धि भी संस्कार्य कर्म है, प्रायश्चित्त के द्वारा

अपने मन-बुद्धि का परिमार्जन भी संस्कार्य कर्म है। सत्संग, सच्चर्चा के द्वारा मन-बुद्धि का परिवर्तन भी संस्कार्य कर्म है इत्यादि। किसी अप्राप्य वस्तु को क्रिया द्वारा प्राप्त करना प्राप्य क्रियाफल है। जैसे गमन क्रिया के द्वारा ग्राम को प्राप्त करना प्राप्य कर्म है। याग के द्वारा स्वर्ग रूपी फल प्राप्त किया जाता है, सो यह भी प्राप्य क्रिया फल है।

अब कर्म के भेदों पर आते हैं- कुल मिलाकर कर्म के चार भेद हो सकते हैं- नित्य, नैमित्तिक, काम्य व प्रतिषिद्ध। शास्त्र जिन हिंसा, चोरी व प्रतिषिद्धमैथुनादि क्रियाओं का निषेध करते हैं, वे हैं 'प्रतिषिद्ध कर्म'। 'काम्य कर्म' वे हैं जो शास्त्रविहित या शास्त्रानुमोदित, पुत्रेष्टि, वर्षेष्टि इत्यादि के रूप में किये जाते हैं या फिर अपने-अपने वर्ण अथवा आश्रम की मर्यादा के अनुसार कृषि, वाणिज्य या राज्यसंचालनादि। संध्यावन्दन सत्यभाषणादि जो नित्य करने होते हैं, वे 'नित्य कर्म' और जो प्रायश्चित्तादि किसी निमित्तविशेष के उपस्थित होने पर किये जाते हैं, वे 'नैमित्तिक कर्म'।

अब देखना यह कि इन चार प्रकार के कर्मों में से संन्यासी कौन से कर्म तो करे और कौन से न करे। 'प्रतिषिद्धकर्म' तो संन्यासी के लिए ही क्या असुरों को छोड़कर किसी को भी नहीं करने होते। दूसरे हैं 'काम्य कर्म' संन्यासी संन्यास आश्रम में प्रवेश ही तब लेता है, जब उसकी या तो सब कामनाएँ पूरी हो गई और यदि अपूर्ण हैं तो जिसने त्यागने का निश्चय कर लिया है। अतः किसी भी कामना के शेष न रहने से संन्यासी के लिए काम्य कर्म का भी कोई अवकाश नहीं। तीसरे हैं 'नित्य कर्म' यदि संन्यासी का संन्यास विद्वत्संन्यास है अर्थात् 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इस वचनानुसार वह साक्षाद् ब्रह्मस्वरूप ही हो गया तब तो बात अलग है उसके लिए कोई कर्तव्य बचता नहीं, किन्तु यदि उसका संन्यास विविदिषा संन्यास है तो ब्रह्मयज्ञ (श्रवण-मनन-निदिध्यासन) और संसार का त्याग (वैराग्य) दोनों ही करने होते हैं तथा उसकी अपनी शारीरिक, बौद्धिक, वाचिक योग्यता के अनुसार यदि निष्काम कर्म के रूप में कुछ सेवा कार्य करता है तो वह भी उसकी चित्तशुद्धि में सहायक ही होता है। अतः निष्काम कर्म उसके लिए करणीय ही रहता है।

यदि संन्यासी का संन्यास विद्वत्संन्यास है अर्थात् फलसंन्यास/ज्ञानसंन्यास

है तो भी संन्यासी अपनी पूर्व योग्यता के अनुसार लोकसंग्रह के लिए कर्म करना चाहे तो कर ही सकता है और प्रायः करते ही हैं, न तो संन्यासी पर करने की बाध्यता है और न ही न करने की।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ (गीता- ३.१८)

इस प्रकार ज्ञानी होने पर भी प्रारब्ध कर्म के बल से कर्म करेगा ही। पूर्व प्रारब्ध यदि वैसा नहीं है तो ज्ञानी होने पर भी नहीं करेगा; क्योंकि उसके प्रारब्ध में ज्ञान प्राप्त करने से पहले भी कर्म नहीं रहा है।

अब यहाँ एक प्रश्न और उपस्थित हो जाता है कि क्या किसी अज्ञानी को बिना कर्म किये भी ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इसका सामान्य उत्तर तो यही है कि हाँ हो सकता है, किन्तु अज्ञानी बिना कर्म के रह नहीं सकता। अज्ञान अवस्था से ज्ञान अवस्था में पहुँचने के लिए अधिकारी भेद से दो मार्ग हो जाते हैं, एक का नाम है 'कर्मसंन्यास' और दूसरे का नाम है 'कर्मयोग'। यहाँ यह बात समझने की है- कर्मसंन्यास का अर्थ इतना ही है कि शरीर व वाणी से किए जाने वाले बाह्य कर्मों को न्यूनतम स्थिति में पहुँचा देना। नेतृत्व करना, दूसरों से काम करवाना, मकान आदि बनाना, बाजार से सामान खरीद कर लाना, बैंकों से लेन-देन करना, कृषि-वाणिज्य, युद्ध, यज्ञादि करना इत्यादि सब कर्मों का त्याग कर्मसंन्यास है, इसी को ज्ञानमार्ग या सांख्यमार्ग भी कहते हैं। इन उपर्युक्त सभी कर्मों को फलाशा त्याग कर भगवान् के नाते करना या भगवान् के लिए कर रहा हूँ, ऐसा विचार कर करना या साक्षात् भगवान् का कार्य समझकर करना कर्मयोग कहा जाता है। दोनों का फल एक ही है अमृतत्व, परमशान्ति, अपने अविनाशी स्वरूप की प्राप्ति, भगवत्प्राप्ति। कर्मसंन्यास में भी ज्ञान-ध्यान श्रवण-मनन-स्वाध्याय वैराग्यादि क्रियाएँ तो चलती ही हैं। अतः ऐसा नहीं समझना चाहिए कि कर्मसंन्यासी अकर्मण्य होकर जीता है। जैसे पतञ्जलि योगपीठ में श्री स्वामी रामदेव जी महाराज कर्मयोग के पथ से चल रहे हैं और कोई एकान्त में शान्त होकर अपने से अपने में तृप्त रहता है तो वह है कर्मसंन्यास। जैसे रमण महर्षि गृहत्याग के बाद ज्ञान प्राप्त होने से पहले जीवन के पूर्वार्ध में बीसों वर्ष तक कर्मसंन्यास के मार्ग से आगे

बढ़े। जीवन का उत्तरार्ध उनका ज्ञानसंन्यास नैष्कर्म्य स्थिति में बीता। कामना का त्याग तो दोनों ही पथों में करना आवश्यक होता है। हाँ! जिस पथ से भी कोई चले-कामनाओं का त्याग नहीं है तो न कर्मयोग है न कर्मसंन्यास, फिर तो कर्म मात्र होता है। गीता के ५वें तथा ६वें अध्याय के आरम्भिक श्लोकों में इस विषय को एकदम स्पष्ट कर दिया है। यहाँ पर कर्मसंन्यास और कर्मयोग की यह स्थिति है।

मनुष्य के व्यक्तित्व की संरचना चूँकि क्रतुमय है, अतः कर्मसंन्यास सबके द्वारा कर सकना असम्भव है, इसलिए भगवान् ने अर्जुन को ऐसा कह दिया-

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥ (गीता- ५.२)

अर्थात् कर्मयोग, कर्मसंन्यास दोनों ही कल्याणकारी है, किन्तु फिर भी तुम्हारे लिए तो कर्मसंन्यास से कर्मयोग प्रशस्त है। क्रम यही है कि कर्मयोग की सहायता से पहले एक स्थिति तक आगे बढ़ा जाए और फिर कर्मसंन्यास को स्वीकार किया जाए अथवा पूर्व प्रारब्ध के अनुसार किसी के चित्त की स्थिति स्वाभाविक रूप से ही अन्तर्मुख है तो उसके लिए कर्मसंन्यास उपयोगी होगा, किन्तु बहिर्मुखी प्रकृति वाले व्यक्ति के द्वारा जिसमें करने का वेग है, कर्मसंन्यास असम्भव है, उसे कर्मयोग अर्थात् ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्काम कर्म का अभ्यास करना चाहिए। योगशास्त्र में भी व्युत्थितचित्त साधकों की साधना की शुरुआत क्रियायोग से ही कही है। भगवान् ने भी अर्जुन को स्वयं कहा-

न कर्मणामनारम्भात्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (गीता- ३.४)

न तो कर्मों का आरम्भ न करने से और न ही बीच में ही चालू कर्मों का त्याग कर देने मात्र से नैष्कर्म्य सिद्धि (ज्ञान रूप सिद्धि) प्राप्त होती है; क्योंकि कर्मों का आरम्भ ही निष्कर्मता की प्राप्ति का उपाय है और उपाय के बिना उपेय की प्राप्ति हो नहीं सकती। श्रुति में भी और गीता में भी यही कहा है कि निष्कर्मतारूप ज्ञानयोग का उपाय कर्मयोग है। श्रुति में ज्ञेयरूप आत्मलोक के जानने का उपाय बतलाते हुए कहा है-

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन०। (बृह.- ४.४.२२)

अर्थात् उस आत्मा को ब्राह्मण वेदाध्ययन और यज्ञ से जानने की इच्छा करते हैं। इस प्रकार यहाँ कर्मयोग को ज्ञानयोग का उपाय बतलाया है। यहाँ गीताशास्त्र में भी-

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्नुमयोगतः। (गीता- ५.६)

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये। (गीता- ५.११)

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।। (गीता- १८.५)

अर्थात् हे महाबाहो ! बिना कर्मयोग के संन्यास (ज्ञानसंन्यास/फलसंन्यास) को प्राप्त करना कठिन है।

योगी लोग आसक्ति छोड़कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

यज्ञ, दान और तप बुद्धिमानों को पवित्र करने वाले हैं।

अन्यत्र भी कहा है-

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।। (गीता- ६.३)

अर्थात् जो साधक योगरूपी पर्वत पर आरोहण करने का इच्छुक है तो उसके लिए कर्म कारण बनता है अर्थात् कर्मयोग से ही उसे ऊपर उठना होता है, किन्तु योगारूढ होने पर तो कर्म से उपरत होकर शान्ति ही कारण अर्थात् साधन बनती है। यहाँ 'शम' का अर्थ है 'सब कर्मों से निवृत्ति'।

यहाँ यह अवश्य ध्यातव्य है कि गीता में श्लोक ५.२ में कर्मयोग को कर्मसंन्यास के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में रखकर जो कर्मसंन्यास से कर्मयोग को श्रेष्ठ बताया है, वह ज्ञानप्राप्त होने से पहले की स्थिति का वर्णन है, किन्तु कर्मयोग का साधन करते-करते चित्त शुद्ध हो जाता है। चित्त शुद्ध होने पर ज्ञाननिष्ठा की योग्यता प्राप्त होती है। ज्ञाननिष्ठा की योग्यता प्राप्त होने पर ज्ञाननिष्ठा घटित होती है। उस ज्ञाननिष्ठा को भी संन्यास शब्द से या सांख्य शब्द से कहा जाता है। अतः प्रकृत (गीता- ५.२) में परमात्मज्ञान निष्ठारूप पारमार्थिक संन्यास की तुलना में कर्मयोग को विशेष नहीं बताया जा रहा है।

इसी बात को गीता के १८वें अध्याय में इस रूप में प्रस्तुत किया-

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।। (गीता- १८.४५)

ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि कर्माधिकारी मनुष्य अपने-अपने कर्मों में लगे हुए संसिद्धि को प्राप्त करते हैं अर्थात् अपने-अपने कर्मों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का क्षय होने पर शरीर-इन्द्रियों की ज्ञाननिष्ठा की योग्यतारूप सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं।

ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि अपने-अपने शास्त्रविहित कर्मों का ठीक से निर्वाह करते हैं तो धर्मसञ्चय होकर धर्म का फल सुखविशेष स्वर्गादि मिल जाता है, किन्तु ज्ञाननिष्ठा की योग्यता प्राप्त करने के लिए तो कुछ अलग उपाय करना पड़ता है। क्या है वह उपाय- इसका उत्तर देते हैं-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणां तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। (गीता- १८.४६)

जिस अन्तर्यामी ईश्वर से समस्त प्राणियों की उत्पत्ति या चेष्टा होती है और जिस ईश्वर से यह सारा जगत् व्याप्त है, उस ईश्वर का प्रत्येक वर्ण के लिए बतलाए हुए अपने कर्मों द्वारा पूजन कर उसकी आराधना करके मनुष्य केवल ज्ञाननिष्ठा की योग्यता रूप सिद्धि को प्राप्त करता है।

ज्ञाननिष्ठा की योग्यताप्राप्ति रूप जो कर्मजनित सिद्धि कही गई, उसकी फलभूत ज्ञाननिष्ठारूप नैष्कर्म्यसिद्धि भी कही जानी चाहिए। इसलिए अगला श्लोक आरम्भ करते हैं-

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।। (गीता- १८.४९)

सर्वत्र पुत्र, स्त्री आदि जो भी आसक्ति के स्थान हैं, उन सब में जिसका अन्तःकरण आसक्ति से अर्थात् प्रीति से रहित हो चुका है। जिसका अन्तःकरण अपने वश में है, जो स्पृहारहित है- शरीर, जीवन और भोगों में भी जिसकी तृष्णा नष्ट हो गई है, जो ऐसा आत्मज्ञानी है, वह परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त करता है। इसी नैष्कर्म्य-सिद्धि को ५०वें श्लोक 'निष्ठा ज्ञानस्य या परा' इन शब्दों से दोहराया अर्थात् यह नैष्कर्म्यसिद्धि ज्ञान की परमनिष्ठा है। ४९वें श्लोक में नैष्कर्म्य-सिद्धि संन्यास अर्थात् सम्यग्दर्शन तथा सम्यग् दर्शनपूर्वक सर्वकर्मसंन्यास के द्वारा प्राप्त होती है, ऐसा कहा है। यह संन्यास की अवस्था कैसे घटित होती है, इसके लिए गीता में कहा है-

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
 शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
 विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
 ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
 अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
 विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(गीता- १८.५१-५३)

राग-द्वेष रहित शुद्ध बुद्धि से युक्त हुआ-हुआ, धृति शक्ति के द्वारा अपने को संयमन कर, शब्द, स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषयों को छोड़कर, प्रीति व अप्रीति आदि द्वन्द्वों को दूर फेंक कर। विविक्त अर्थात् एकान्त स्थान में रहने वाला, लघ्वाशी= हल्का भोजन करने वाला, मिताहारी, काया और मन को संयत किए हुए, नित्य ध्यानयुक्त और वैराग्य को धारण करने वाला। तथा अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध, परिग्रह अर्थात् सांसारिक पदार्थों के बन्धन को छोड़कर ममतारहित और इसीलिए जो शान्त भी है, वह मनुष्य ब्रह्मभूत होने में समर्थ होता है अर्थात् ब्रह्म जैसा ही हो जाता है।

उणादिकोष ४.३७ में एक शब्द सिद्ध किया 'विषा' विशेषेण स्यति कर्मान्तं करोति सा विषा बुद्धिर्वा। विशिष्ट बुद्धि का ही यह परिणाम होता है कि कर्मों का अन्त कर देती है। अन्यथा मनुष्य के पास कोई साधन नहीं कि वह अपनी कर्मशृङ्खला को काट दे।

शास्त्र में किसी शब्द का प्रयोग मुख्य व गौण अर्थ में होता रहता है। शास्त्र अध्येता को यह देखना होता है कि कहाँ मुख्य अर्थ में प्रयोग हुआ है और कहाँ गौण अर्थ में। मुख्यार्थ को छोड़कर जब गौण अर्थ में प्रयोग होता है तो उसकी प्रशंसा के लिए होता है, जैसे किसी माणवक को सिंह बताना माणवक की प्रशंसा का हेतु बनता है। प्रकृत में भी जैसे कर्मसंन्यास की दो स्थिति हो सकती हैं, एक ज्ञानरहित कर्मसंन्यास और दूसरी ज्ञानसहित। कर्मयोग की प्रशंसा करने के लिए 'ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति। (गीता- ५.३) इस कथन के द्वारा कर्मयोगी को नित्यसंन्यासी कह दिया है।

अर्थात् कर्मसंन्यासी से तो निश्चय ही ऐसा कर्मयोगी श्रेष्ठ है, जो न तो किसी वस्तु- व्यक्ति परिस्थिति से द्वेष करता है और न किसी की आकांक्षा करता है अर्थात् जो सुख-दुःख और उनके साधनों में उक्त प्रकार से राग-द्वेष रहित हो गया है, वह कर्म में बर्तता हुआ भी सदा संन्यासी ही है, किन्तु 'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति' (गीता- १८.४९) इस श्लोक में संन्यास शब्द का ज्ञानसहित सर्वकर्मसंन्यास- इस मुख्य अर्थ में प्रयोग हुआ है।

इसी प्रकार 'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव' (गीता- ६.२) यहाँ कर्मयोग की स्तुति के लिए त्यागविषयक समानता को लेकर कर्मयोग को संन्यास के समकक्ष बता दिया अर्थात् अपने संकल्प का त्याग किए बिना कोई कर्मयोगी नहीं हो सकता। (न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन) (गीता- ६.२)।

ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में कहा कि साधक को समस्त जगत् को ईश्वर भावना से आच्छादित कर देना चाहिए और संसार से अपने मन को सर्वथा हटा लेना चाहिए। किन्तु फिर भी 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे, ऐसा करने पर भी कर्म बन्धनकारक नहीं होंगे- हेतु इसमें पूर्वमन्त्र निर्दिष्ट सर्वत्र ईश्वरीय उपस्थितिपूर्वक त्यागभाव रूप ज्ञान ही है। श्वेताश्वतरोपनिषद् की भूमिका में भाष्यकार लिखते हैं-

कुर्वन्नेवेति च नायं कर्मनियमः किन्तु विद्यामाहात्म्यं दर्शयितुं यथाकामं कर्मानुष्ठानमेव द्रष्टव्यम्। एतदुक्तं भवति- यावज्जीवं यथाकामं पुण्यपापादिकं कुर्वत्यपि विदुषि न कर्मलेपो भवति विद्यासामर्थ्यादिति।

गीता में भी कहा कि क्योंकि 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गीता- १३.३१) हे कौन्तेय! यह आत्मा शरीर में स्थित हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है। श्रुति में भी अन्यत्र कहा है- 'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृह.- ४.३.४) अर्थात् यह आत्मा कुछ भी न करते हुए भी ध्यान करता हुआ-सा, क्रिया करता हुआ-सा प्रतीत होता है। 'अविकार्योऽयमुच्यते' (गीता- २.२५) यह आत्मा विकाररहित अर्थात् परिवर्तनरहित कहा जाता है। ज्ञान की प्रशंसा में ये सब वचन हैं।

भाष्यकार ने गीताभाष्य के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया कि अज्ञान से या आसक्ति आदि दोषों से कर्म में लगे हुए जिस पुरुष को यज्ञ से, दान से या तप से अन्तःकरण शुद्ध होकर परमार्थतत्त्वविषयक ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि 'यह एक ब्रह्म ही है और वह अकर्ता है' उसके कर्म एवं कर्मफल दोनों ही यद्यपि निवृत्त हो चुकते हैं तो भी लोकसंग्रह के लिए पहले की भाँति यत्नपूर्वक कर्मों में लगे रहने वाले पुरुष का जो प्रवृत्तिरूप कर्म दिखाई देता है, वह वास्तव में कर्म नहीं है, जिससे कि ज्ञान के साथ उसका समुच्चय हो सके। जैसे भगवान् वासुदेव द्वारा किए हुए क्षात्रकर्मों का मोक्ष की सिद्धि के लिए ज्ञान के साथ समुच्चय नहीं होता, वैसे ही फलेच्छा और अहंकार के अभाव की समानता होने के कारण ज्ञानी के कर्मों का भी ज्ञान के साथ समुच्चय नहीं होता; क्योंकि आत्मज्ञानी न तो ऐसा ही मानता है कि मैं कर्म करता हूँ और न कर्मों का फल ही चाहता है।

इसके सिवा जैसे काम-साधन रूप अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान करने के लिए सकाम अग्निहोत्रादि में लगे हुए स्वर्गादि की कामना वाले अग्निहोत्री की कामना यदि आधा कर्म कर चुकने पर नष्ट हो जाए और फिर भी उसके द्वारा वही अग्निहोत्रादि कर्म होता रहे, तो भी वह काम्य कर्म नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी के कर्म भी कर्म नहीं होते। 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' (गीता- ५.७) 'न करोति न लिप्यते'। (गीता- १३.३१) इत्यादि वचनों से भगवान् भी जगह-जगह यही बात दिखलाते हैं।

इसके सिवा जो 'पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' (गीता- ४.१५) 'कर्मणैव संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (गीता- ३.२०) इत्यादि वचन हैं, उनको विभागपूर्वक समझना चाहिए। वह किस प्रकार समझें? यदि वे पूर्व में होने वाले जनकादि तत्त्ववेत्ता होकर भी लोकसंग्रह के लिए कर्मों में प्रवृत्त थे, तब तो यह अर्थ समझना चाहिए कि 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गीता- ३.२८) 'गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं' इस ज्ञान से ही वे परमसिद्धि को प्राप्त हुए अर्थात् कर्मसंन्यास की योग्यता प्राप्त होने पर भी कर्मों का त्याग नहीं किया, कर्म करते-करते ही परम सिद्धि को प्राप्त हो गए।

दूसरी तरफ यदि वे जनकादि तत्त्वज्ञानी नहीं थे तो ऐसी व्याख्या करनी

चाहिए कि वे ईश्वर के समर्पण किए हुए साधन रूप कर्मों के द्वारा चित्तशुद्धि रूप सिद्धि को अथवा ज्ञानोत्पत्तिरूप सिद्धि को प्राप्त हुए। यही बात भगवान् कहेंगे 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये' (गीता- ५.११) योगी लोग अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं तथा 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'। (गीता- १८.४६) अपने सहज प्राप्त कर्म के द्वारा मनुष्य भगवान् का पूजन करके अन्तःकरण की शुद्धि रूप सिद्धि को प्राप्त होता है और फिर 'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म' (गीता- १.५०) उस शुद्ध हुए अन्तःकरण वाले पुरुष के लिए ज्ञाननिष्ठारूप सिद्धि की बात कहेंगे।

निष्कर्ष यही निकला कि कर्म का जब तक प्रयोजन है, तब तक तो वह कर्म होता है, यदि उसका कोई प्रयोजन नहीं तो कर्म अपनी सज्जा को ही खो बैठता है। कर्म का या तो प्रयोजन होता है किसी लौकिक या वैदिक कामना की पूर्ति, लौकिक कामनाओं का विस्तार अनन्त है, फिर भी पुत्रैषणा, वित्तैषणा व लोकैषणा (Sex, Wealth & Power) में सभी कामनाओं को समेट करके देखा जा सकता है। वैदिक कामनाओं के लक्ष्य को बताने के लिए एक शब्द का प्रयोग किया जाए तो वह है 'स्वर्गप्राप्ति' या फिर कर्म का प्रयोजन है ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्मों को साधन बनाकर अपने चित्त को शुद्ध करना, चित्त को माँजना। कुछ महापुरुष इन्हीं निष्काम कर्मों को ईश्वरप्राप्ति का साधन कह देते हैं। कुछ दूसरे महापुरुष कर्म का प्रयोजन 'सुन्दर समाज का निर्माण' ऐसा भी बताते हैं। 'सुन्दर समाज का निर्माण' ही गीता के शब्दों में 'लोकसंग्रह' है। किन्हीं महापुरुषों का कहना है कि दुःखी प्राणियों को देखकर करुणा का प्राकट्य ही कर्म है। किसी एक और महान् पुरुष का कहना है कि मनुष्य में स्वाभाविक रूप से करने का राग है, उस राग को मिटाने के लिए कर्म हैं अर्थात् जब साधक किसी कर्म को अपने लिए निरपेक्ष होकर करता है तो ऐसे करने के द्वारा करने का राग मिटता जाता है। हाँ यदि कुछ पाने के लिए कर्म करते हैं, तब तो राग और भी अधिक बद्धमूल होता जाता है। किसी आदर्श की स्थापना के लिए भी कर्म होते हैं। गीता के महान् भाष्यकार भगवत्पाद आचार्य शङ्कर ने 'साधक के द्वारा सम्पन्न सभी कर्मों का एक ही विभाग बना दिया कि निष्काम कर्म चित्तशुद्धि के हेतु हैं। शेष सब बातें इसी

एक में ही समाहित हो जाती हैं। ज्ञानी पुरुष के कर्मों को उन्होंने 'कर्म' नाम ही नहीं दिया।

प्रायः बहुत आगे बढ़े हुए साधकों के मन में भी एक भय बना रहता है कि यदि हम अपनी आत्मा में लीन हो गए तो हम संसार के लिए कुछ नहीं कर पायेंगे और उधर उनकी करुणा संसार के लिए कुछ करना चाहती है। पर सत्य का ठीक-ठीक आकलन न होने के कारण ऐसा होता है। अध्यात्म पथ के पथिक के लिए प्रथम व अन्तिम जो कर्तव्य है, वह यही है कि सबसे पहले अपने भीतर अविचल शान्ति को धारण करे, उसके बाद जो कुछ होगा सब ठीक होगा- साधक के अपने लिए भी और समस्त संसार के लिए भी।

साधक के द्वारा अपने भीतर पूर्ण शान्ति को धारण करने पर भी मनुष्य की बाह्य प्रकृति अपने-अपने प्रारब्ध के अनुसार काम करती रहेगी, वह नहीं रुकेगी, हाँ! आत्मस्थ होने से केवल इतना ही अन्तर पड़ेगा कि अभी जो अशान्ति के साथ मन-बुद्धि-शरीर-इन्द्रियाँ अपना काम कर रहे हैं, तब शान्ति के साथ करेंगे। यह जो समत्व है, वह केवल अपने मन में सोच लेने मात्र से नहीं आता या बहुत अच्छी-अच्छी बातें सुनते-सुनाते रहेंगे तो समत्व आ जायेगा, इतने मात्र से भी नहीं आता या हम एक तरफा निश्चय कर लेंगे, संकल्प ले लेंगे, इससे भी बात बनने वाली नहीं है। हाँ पहले शान्ति स्थापित हो सके तो फिर समता भी स्थापित हो जायेगी। शान्ति स्थापित होगी- निष्कामता से, कामनामात्र के त्याग से। कामना का त्याग होगा या तो निष्काम कर्म से या असङ्गता से या भगवत्प्रेम से। असङ्गता होगी अपने लिए कुछ न चाहने से, निष्काम कर्म होगा उदारता से या निष्काम कर्म होगा भगवान् के नाते कर्म करने से या फिर होगा ज्ञानोदय की माँग जागरित होने से या फिर निष्काम कर्म के द्वारा मेरा अपने प्रभु से सम्बन्ध स्थापित हो जायेगा- इस सिद्धान्त में विश्वास होने से या फिर अहंता-ममता के त्याग से। इनमें से किसी भी उपाय के अपनाने से निष्काम कर्म होने लगते हैं। अतः सार यही है कि ध्यान से, भजन से, कीर्तन से, रो कर, हँसकर, सत्संग से, दुःखदर्शन से, संसार की असारता से, मौन से, एकान्तवास से, कामनाओं के त्याग से, सेवा से, स्वाध्याय से, जप-तप से, भ्रमण से, आत्म-सम्प्रेषण से (Auto-Suggestions), समर्पण से, जिस उपाय से भी अपनी समग्र सत्ता में, मन-बुद्धि-प्राण-इन्द्रियों व समूचे शरीर में

शान्ति को स्थापित किया जा सके तो अगले कार्य समता व समतापूर्वक कर्म स्वतः चलते रहेंगे।

सभी महापुरुषों को देखने से पता चलता है, सबकी बाह्य प्रकृति पृथक्-पृथक् है, पर सब में अपने लक्ष्य के प्रति साधन काल से ही ईमानदारी रही है, सभी ने अपने साध्य को या इष्ट को पाने के लिए अथक पुरुषार्थ किया है। उनके जीवन का अध्ययन करने से पता चलता है कि कोई एक ही जगह बैठा है तो दूसरा सतत घूम रहा है। एक वाणी का बहुत प्रयोग कर रहा है तो दूसरा मौन है। कोई एक लिख रहा है तो दूसरा शरीर से सेवा में जुटा हुआ है। किन्तु सभी महापुरुषों की अन्दर की स्थिति में कोई भेद नहीं है। सब अपने में तृप्त हैं, सन्तुष्ट हैं, निरपेक्ष हैं, अभय हैं, सङ्कल्परहित हैं- (यद्यपि बाहर से तो ऐसा ही दिखता है कि सङ्कल्प के सिवा इनमें कुछ है ही नहीं, पर बाद में मृत्यु आदि के समय पता लगता है कि अरे इनमें तो ऐसा कुछ था ही नहीं)। सबके सब एक अद्भुत आनन्द में डूबे हुए हैं, सबके सब राग-द्वेष से मुक्त हैं, धीर-गम्भीर स्थिर- अप्रकम्प हैं, सब अपने भीतर विश्राम में हैं (बाहर से श्रम में दिखाई देने वाले भी विश्राम में हैं) सबके सब प्रकृति के आकर्षणों से मुक्त हैं। सब ऐसे जी रहे हैं, जैसे सच्चिदानन्द मूर्तिमान् हो उठा है। निषेध वर्ग सभी से गायब है। सब 'सर्वभूतहिते रताः' हैं, अतः भीतर जो सबमें एकरूपता है, वह किसी भी पहुँचे हुए साधक की अलग नहीं होनी चाहिए, बाहर तो भिन्नता रहेगी। दो व्यक्ति कभी भी एक जैसे नहीं होंगे।

किसी को अन्दर का सत्य मिल गया तो बाहर का जीवन संसार के लिए अनुपयोगी नहीं रहेगा। अतः अब हमें उस बात का स्वतः ही उत्तर मिल रहा है कि संन्यासी को कर्म करना चाहिए अथवा नहीं।

मुण्डकोपनिषद् में ऐहिक और पारलौकिक भोगों की असारता देखने वाले पुरुष के लिए संन्यास गुरूपसदन (गुरु के समीप पहुँचने) का विधान-

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो

निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्

समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ (मु.- १.२.१२)

यह जो ऋग्वेदादि अपरविद्याविषयक तथा अविद्यादि दोषयुक्त पुरुष के लिए ही विहित होने के कारण स्वभाव से ही अविद्या काम और कर्मरूप दोष से युक्त पुरुषों द्वारा अनुष्ठान किए जाने योग्य यज्ञयागादि कर्म हैं तथा उसके अनुष्ठान के कार्यभूत अर्थात् फलस्वरूप दक्षिण एवं उत्तर मार्गरूप लोक हैं और विहित कर्म के न करने एवं प्रतिषिद्ध के करने के दोष से प्राप्त होने वाली जो नरक, तिर्यक् तथा प्रेतादि योनियाँ हैं, उन सभी की परीक्षा कर अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम- इन चारों प्रमाणों से सब प्रकार उनका यथावत् निश्चय कर, जो बीज और अङ्कुर के समान एक-दूसरे की उत्पत्ति के कारण हैं, अनेकों-सैकड़ों-हजारों अनर्थों से व्याप्त हैं, केले के भीतरी भाग के समान सारहीन हैं, माया, मृगजल और गन्धर्वनगर के समान भ्रमपूर्ण तथा स्वप्न, जलबुदबुद और फेन के सदृश क्षण-क्षण में नष्ट होने वाले हैं और अविद्या एवं काम रूप दोष से प्रवर्तित कर्मों से प्राप्त यानी धर्माधर्मजनित हैं, उन व्यक्त-अव्यक्तरूप तथा संसारगतिभूत अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त लोकों की ओर से मुख मोड़कर ब्राह्मण उनसे विरक्त हो जाए। सर्वत्याग के द्वारा ब्रह्म जिज्ञासु (ब्राह्मण) का ही ब्रह्मविद्या में विशेष रूप से अधिकार है, इसलिए यहाँ ब्राह्मण पद का ग्रहण किया है। इस प्रकार लोकों की परीक्षा कर वह क्या करे सो बताते हैं- 'निर्वेद करे'। यहाँ निपूर्वक विदधातु वैराग्य अर्थ में है, अतः तात्पर्य यह कि 'वैराग्य करे'।

अब वह वैराग्य का प्रकार दिखलाया जाता है। इस संसार में कोई भी अकृत (नित्य) पदार्थ नहीं है। सभी लोक कर्म से सम्पादन किए जाने वाले हैं और कर्मकृत होने के कारण अनित्य हैं। तात्पर्य यह है कि इस संसार में नित्य कुछ भी नहीं है। सारा कर्म अनित्य फल का ही साधन है; क्योंकि सारे कर्म- कार्य अर्थात् उत्पाद्य, आप्य, विकार्य अथवा संस्कार्य चार ही प्रकार के हैं, इनसे भिन्न कर्म का और कोई प्रकार नहीं है, किन्तु मैं तो एक नित्य, अमृत, अभय, कूटस्थ, अचल और ध्रुव पदार्थ की इच्छा करने वाला हूँ, उससे विपरीत स्वभाव वाले की मुझे आवश्यकता नहीं है। अतः इस श्रमबहुल एवं अनर्थ के साधनभूत कृतकर्म से मुझे क्या प्रयोजन है? इस प्रकार विरक्त होकर जो अभय, शिव, अकृत और नित्य पद है। उसके विज्ञान के लिए वह

विरक्त ब्राह्मण शमदमादिसम्पन्न गुरु (आचार्य) के पास ही जाए। शास्त्रज्ञ होने पर भी स्वतन्त्रता पूर्वक ब्रह्मज्ञान का अन्वेषण न करे- यही 'गुरुमेव' इस पदसमूह में आए हुए निश्चयात्मक एव पद का अभिप्राय है।

समिप्ताणि: अर्थात् हाथ में समिधाओं का भार लेकर श्रोत्रिय यानी अध्ययन और श्रवण किए अर्थ से सम्पन्न तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाए। सम्पूर्ण कामनाप्रेरित कर्मों को त्याग कर जिसकी केवल अद्वितीय ब्रह्म में ही निष्ठा है, वह ब्रह्मनिष्ठ कहलाता है, जपनिष्ठ-तपोनिष्ठ-धर्मनिष्ठ आदि के समान ही यह 'ब्रह्मनिष्ठ' शब्द है। सकाम कर्मों में निरत व्यक्ति की ब्रह्मनिष्ठा कभी नहीं हो सकती; क्योंकि कामनायुक्त कर्म और आत्मज्ञान का परस्पर विरोध है। इस प्रकार उस गुरुदेव के पास विधिपूर्वक जाकर उन्हें प्रसन्न कर सत्य अक्षर के सम्बन्ध में पूछें।

गुरु के लिए उपदेश प्रदान की विधि-

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्

प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं

प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ (मु.- १.२.१३)

वह विद्वान् ब्रह्मवेत्ता गुरु अपने समीप आए हुए उस सम्यक् यथाशास्त्र प्रशान्तचित्त, गर्व आदि दोषों से रहित तथा शमसम्पन्न, बाह्य इन्द्रियों की उपरति से युक्त और सब ओर से विरक्त हुए शिष्य को, जिस विज्ञान अथवा जिस परा विद्या से उस अद्रेश्यादि (अदृश्य-अव्यवहार्य-अचिन्त्यादि) विशेषण वाले तथा पूर्ण होने के कारण 'पुरुष' शब्दवाच्य अक्षर को (जो क्षरण (च्युत होना) क्षत (व्रण) और क्षय (नाश) से रहित होने के कारण 'अक्षर' कहलाता है) जानता है, उस ब्रह्मविद्या का तत्त्वतः यथावत् उपदेश करे- यह इसका भावार्थ है। आचार्य के लिए भी यही नियम है कि न्यायानुसार अपने समीप आए हुए सच्छिष्य को अविद्यामहासमुद्र से पार कर दे।

कर्मयोग-कर्मसंन्यास

ज्ञानप्राप्ति अर्थात् अपने स्वरूप की प्राप्ति या भगवत् प्राप्ति का साधन है 'कर्मयोग' व 'कर्मसंन्यास'

कर्मयोग का अर्थ है— भगवान् के लिये भक्तिपूर्वक कर्म करना। भगवान् के नाते सही प्रवृत्ति ही कर्मयोग है। संसार में जो भी कर्म हो रहे हैं—चारों वर्णों एवं चारों आश्रमों में, वे कर्म जिनसे चाहे एक-दो व्यक्ति का ही भला होता है या सम्पूर्ण जन-समाज का, पूरे राष्ट्र का या विश्व का, अर्थात् चाहे वह कर्म एक राजा के रूप में समूचे राष्ट्र का नेतृत्व करना रूप हो या किसी वैज्ञानिक की कोई खोज हो, या किसी दार्शनिक का तत्त्व चिन्तन, या एक झाड़ू लगाने वाले का कार्य हो; कृषि-वाणिज्य, पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञादि करना, बैंकों से लेन-देन, गो-सेवा, छोटे-बड़े उद्योग, ग्रन्थ-लेखन, उन्हें छपवाना इत्यादि कोई भी कार्य हों वे सब केवल अपने सुख को ध्यान में रखकर किए जाते हैं तो वे 'सकाम कर्म' होते हैं, कर्तव्य समझ कर या पुण्य की रुचि को लेकर किए जाते हैं तो उन्हें 'धर्म' कह सकते हैं और यदि अपने भीतर ईश्वर का प्राकट्य करने के लिए; उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उसकी पूजा के रूप में किए जाते हैं, उसका प्रेम प्राप्त करने के लिए किये जाते हैं तो उन्हें 'कर्मयोग' कहते हैं। ज्यों-ज्यों कर्मयोग के द्वारा ईश्वर के साथ घनिष्ठता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों कर्मयोग अपने शुद्धतम रूप में प्रकर्षता को प्राप्त होता रहता है। इसी कर्मयोग की स्वाभाविक सहज परिणति सहज-निवृत्ति, नैष्कर्म्य स्थिति में हो जाती है, जहाँ कर्म सहज रूप से होते हैं, किए नहीं जाते, कर्मों के त्याग की तो वहाँ कोई बात ही नहीं।

ज्ञानप्राप्ति का एक अन्य साधन है 'कर्मसंन्यास'। कर्मसंन्यास का अर्थ है— कर्म का त्याग, किन्तु कर्मसंन्यास में भी कर्म का त्याग 'अहं कर्म न करिष्यामि' इस संकल्प पूर्वक नहीं होता क्योंकि संकल्पपूर्वक यदि त्याग किया जा रहा है तो वह 'न करना' रूप कर्म ही हो गया त्याग कहाँ हुआ। अतः यहाँ ऐसा समझना होगा कि रमण महर्षि की तरह किसी पूर्व संस्कार के वेग के कारण व्यक्ति यदि अपने आन्तरिक खोज में प्रवृत्त हो जाता है तो उस समय उसके द्वारा शरीर या वाणी से किये जाने वाले बाह्य कर्म छूट जाते हैं या सहज रूप से छुटे रहते हैं। वह खोज पूर्ण हो जाती है तो उसका नाम हो जाता है 'ज्ञानसंन्यास'। जैसे बालक वेंकट रमण १६ वर्ष की उम्र में घर छोड़कर अरुणाचल तिरुवण्णामलै पहुँच गए। उन्हें अपने भीतर जो घर पर रहते हुए ही अकस्मात् शरीर से पृथक् अपने आत्मा का आभास मिला था, उसी अनुभूति में स्थिर होने के लिए बीसों वर्ष तक अपनी साधना करते

रहे शेष जीवन उनका ज्ञानसंन्यास की स्थिति में बीता। ऐसे साधकों को कर्म संन्यास के मार्ग से चलने वाला कहा जा सकता है। इस पथ के पथिक बहुत स्वल्प ही लोग होते हैं। क्योंकि मनुष्य में करने का वेग बहुत ज्यादा होता है। करने के वेग का उपयोग यदि निष्काम होकर किया जाये तो वह शनैः-शनैः शान्त हो जाता है। यदि कामना पूर्ति में उस वेग को लगाया जाता है तो अनन्त काल तक भी वह शान्त होने की बजाय बढ़ता ही रहता है।

योगशास्त्र में कर्मों के चार विभाग किए हैं— शुक्ल, कृष्ण, मिश्रित और अशुक्ल-अकृष्ण। कर्मसंन्यास व ज्ञानसंन्यास को सामने रख कर यदि इन कर्मों पर विचार किया जाए तो अशुक्ल व अकृष्ण कर्मों का समावेश होगा— सिद्धपुरुषों, परमयोगियों, संन्यासियों के क्षीण हो गए हैं समस्त क्लेश जिनके ऐसे चरमदेह धारियों के कर्मों में। व्यासभाष्य की पंक्ति है— 'अशुक्लाऽकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति'। गीता के शब्दों में यही है ज्ञानसंन्यास या नैष्कर्म्य सिद्धि (द्र० गीता १८.४९, ५०)। तथा शुक्ल कर्म समाविष्ट होते हैं— कर्मसंन्यास में। भाष्यकार व्यासदेव जी कहते हैं— 'शुक्ला तपःस्वाध्यायध्यानवताम्। सा हि केवले मनस्यायत्तत्वाद् बहिःसाधनानधीना न परान् पीडयित्वा भवति' अर्थात् तप, स्वाध्याय तथा ध्यान वाले पुरुषों की जो कर्मजाति है, वह शुक्लानामक कर्मजाति कही जाती है। क्यों कि वह केवल मन के अधीन होने से अर्थात् मनोमात्र साध्य होने से बाह्य साधन के अधीन नहीं, अन्य किसी प्राणी को पीड़ा देकर उत्पन्न नहीं होती।

और ये जो एकान्त में रहते हुए पुस्तक आदि का लेखन व प्रकाशन आदि करते हैं किसी से मिलते तक नहीं उन्हें किस श्रेणी में बिठाएँ। ये यदि अपने कर्म को भगवदर्पण बुद्धि से कर रहे हैं तो 'कर्मयोग' है और किसी कामना को लेकर कर रहे हैं तो 'कर्म' है, क्योंकि कामना बीच में आते ही योग समाप्त हो जाता है। यह कार्य केवल मन से भी नहीं हो रहा, वाणी का काम लेखनी कर रही है, दूसरों के द्वारा की गयी भागदौड़ भी सम्मिलित है। अतः योगशास्त्र में जो शुक्ल कर्म की परिभाषा दी है वह भी नहीं है और कर्म संन्यास भी नहीं कह सकते क्यों कि वह तो केवल आन्तरिक खोज का ही दूसरा नाम है। ऐसे लोगों का एकान्त तो अपनी रुचि विशेष तथा कार्य की सुविधा की दृष्टि से है। कोई मैदान में कर रहा है, ये प्रकोष्ठ में कर रहे हैं।

हाँ! यदि लेखन कार्य व तत् सम्बन्धी चिन्तन-मनन स्वाध्यास आदि आन्तरिक खोज से ही सम्बन्धित हैं तो फिर कर्मसंन्यास में गिन सकते हैं, अपनी आन्तरिक खोज की तीव्रता के अनुपात में कर्मसंन्यास के बहुत से स्तर सम्भव हैं।

भोगजीवन-योगजीवन

जीवन के दो रूप हैं- एक भोगजीवन और दूसरा योगजीवन। हमें अपने-अपने लिए इन दोनों जीवनों के स्वरूप को ठीक-ठीक समझकर निर्धारित करना होता है कि मुझे किस मार्ग पर चलना है। दोनों मार्गों का स्वरूप, दोनों का लक्ष्य या आदर्श, दोनों की कठिनाइयाँ या बाधाएँ, दोनों का पथ अथवा साधन सर्वथा पृथक्-पृथक् ही हैं। आज हम पहली बार इस विषय पर विचार कर रहे हैं, ऐसा नहीं है। आदिकाल से ही इस पर विचार होता आया है। जैसे दूध या दही का मन्थन करने के बाद मक्खन (नवनीत) के रूप में फल हमारे हाथ में आ जाता है, वैसे ही उक्त विषय में विचार का निष्कृष्ट फल विचारकों ने निकाल लिया है। निष्कर्ष रूप में प्राप्त उस फल को काठक श्रुति हमारे समक्ष इस रूप में प्रस्तुत करती है-

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।।

(कठ०- १.२.१)

श्रेय (विद्या) अर्थात् निःश्रेयस अन्य (भिन्न) ही है तथा प्रेय (अविद्या)= प्रियतर वस्तु भी अन्य ही है। वे श्रेय और प्रेय दोनों विभिन्न प्रयोजन वाले होते हुए वर्णाश्रमादिविशिष्ट अधिकारी पुरुष को बाँध देते हैं, अर्थात् सब लोग उन्हीं के द्वारा अपने विद्या-अविद्या सम्बन्धी कर्तव्य से युक्त हो जाते हैं। अभ्युदय की इच्छा वाला पुरुष प्रेय से और अमृतत्व का इच्छुक श्रेय से प्रवृत्त होता है। अतः श्रेय और प्रेय इन दोनों के प्रयोजनों की कर्तव्यता के कारण सब लोग उनसे बद्ध कहे जाते हैं।

वे यद्यपि एक-एक पुरुषार्थ से सम्बन्ध रखने वाले हैं तो भी विद्या और अविद्या रूप होने के कारण परस्पर विरुद्ध हैं, अतः एक का परित्याग किए बिना एक पुरुष द्वारा उन दोनों का साथ-साथ अनुष्ठान नहीं हो सकता, अतः उनमें से अविद्या रूप प्रेय को छोड़कर केवल श्रेय को ही स्वीकार करने वाले

का साधु (शुभ या कल्याण) होता है। जो मूढ पुरुष दूरदर्शी नहीं है, वह इस पुरुषार्थ अर्थात् परमार्थ सम्बन्धी नित्य प्रयोजन से च्युत हो जाता है, कौन भला? वही जो कि प्रेय को वरण करता है।

यहाँ प्रश्न उठता है यदि श्रेय और प्रेय इन दोनों में से मनुष्य किसी का भी वरण कर सकता है तो लोग अधिकता से प्रेय को ही क्यों स्वीकार करते हैं? इसका उत्तर दिया-

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।।

(कठ०- १.२.२)

श्रेय व प्रेय दोनों ही मनुष्य के अधीन हैं- यह बात ठीक है। तथापि वे श्रेय और प्रेय जिनका मन्दबुद्धि पुरुषों के लिए साधन और फलदृष्टि से पार्थक्य करना बहुत कठिन है, परस्पर मिले हुए से ही मनुष्य जीव को प्राप्त होते हैं। अतः हंस जैसे जल से दूध को अलग कर लेता है, उसी प्रकार धीर बुद्धिमान् पुरुष उन श्रेय व प्रेय पदार्थों का भली प्रकार परिगमन कर, मन से उनका आलोचन कर, उनके गौरव-लाघव का विवेक (पृथक्करण) करता है। इस प्रकार श्रेय का विवेचन कर वह प्रेय की अपेक्षा अधिक अभीष्ट होने के कारण श्रेय को ही ग्रहण करता है। परन्तु ऐसा कर कौन पाता है? जो बुद्धिमान् है।

इसके विपरीत जो मन्द (अल्प) बुद्धि है, वह विवेकशक्ति का अभाव होने के कारण जो केवल योग-क्षेम का ही कारण है अर्थात् जो शरीरादि की वृद्धि और रक्षा का ही निमित्त है, उस पशु-पुत्रादि प्रेय का ही वरण करता है।

आगे यमाचार्य जी कहते हैं- **हे नचिकेतः!** तुम्हारी बुद्धिमत्ता को धन्य है, जिस तूने मेरे द्वारा बारम्बार प्रलोभित किए जाने पर भी पुत्रादि प्रिय तथा अप्सरा आदि प्रियरूप भोगों को उनकी अनित्यता और असारता आदि दोषों का विचार करके परित्याग कर दिया और जिसमें मूढ मनुष्य प्रवृत्त हुआ करते हैं, उस वित्तमयी- धनप्राया निन्दित गति को तू प्राप्त नहीं हुआ, जिस मार्ग में बहुत से मूढ पुरुष डूब जाते हैं अर्थात् दुःख उठाते हैं।

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।

विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ।।

(कठ०- १.२.४)

जो विद्या और अविद्या रूप से जानी गई हैं, वे दोनों अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव वाली और विपरीत फल देने वाली हैं। मैं तुझ नचिकेता को विद्याभिलाषी मानता हूँ; क्योंकि तुझे बहुत से भोगों ने भी नहीं लुभाया। अविद्याग्रस्त जो संसार के पात्र हैं, उनकी दुर्दशा भी देखो-

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।

दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।।

(कठ०- १.२.५)

वे अविद्या के भीतर रहने वाले, अपने आपको धीर बुद्धिमान् प्रज्ञावान् पण्डित व शास्त्रनिपुण समझने वाले, मूढ़ अविवेकी पुरुष नाना प्रकार की अत्यन्त कुटिल गतियों की इच्छा करते हुए जरा-मरण-रोगादि दुःखों से आक्रान्त हुए सब ओर भटकते रहते हैं। जैसे दृष्टिविहीन किसी पुरुष के द्वारा विषममार्ग में ले जाए जाते हुए दूसरे अन्धे महान् अनर्थ को प्राप्त होते हैं, वैसी ही इनकी गति होती है।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।

अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ।।

(कठ०- १.२.६)

धन के मोह से अन्धे हुए और प्रमाद करने वाले उस मूर्ख को सम्पराय (परलोक) का साधन नहीं सूझता, अर्थात् अविवेकी पुरुष के ध्यान में परलोकादि कभी भी नहीं आते। यह लोक है परलोक नहीं है- ऐसा मानने वाला पुरुष बारम्बार मेरे (मृत्यु के) वश को प्राप्त होता है। श्रुति के अनुसार ऐसी है लोक की स्थिति।

एक बार फिर हम वहीं आते हैं, जहाँ से हमने अपनी बात कहना आरम्भ की थी। आखिर इन दोनों मार्गों का स्वरूप क्या है? अच्छा, पहले हम भोगजीवन

पर विचार करते हैं। भोगजीवन में इन्द्रिय सुखों को आसक्तिपूर्वक भोगा जाता है, परिमाण में जितने अंश में आसक्ति की पूर्ति में कमी रहती है अर्थात् मात्रा (Quantity) में कमी, गुणवत्ता (Quality) में कमी, हर देश, हर काल, हर परिस्थिति व हर अवस्था में मनचाही उपलब्धता की कमी रहती है, उतना व्यक्ति को दुःख होता रहता है। भोगी व्यक्ति को ही क्या किसी को भी अभाव पसन्द नहीं है, किन्तु भोगजीवन में अभाव का सर्वथा अभाव हो जाए, यह असम्भव है; क्योंकि भोगजीवन का आधार होता है- वस्तु-व्यक्ति-पदार्थ-परिस्थिति व सम्मान से सुखी होने की चाह। जब व्यक्ति के सुख का आश्रय उसके स्वयं के अन्दर न होकर बाहर होता है तो उसे सदा सर्वदा असन्तोष या अतृप्ति में ही जीना पड़ता है; क्योंकि सदा उसकी चाहत अधिक होती है तथा प्राप्ति कम। इस प्रकार भोगजीवन का यह एक अनिष्ट फल सामने आया कि व्यक्ति जो कुछ चाहता है, वह होता नहीं, जो होता है वह उसे भाता नहीं, जो भाता है वह टिकता नहीं।

संक्षेप में हमने यह समझा भोगजीवन का लक्ष्य है भोग, स्वरूप भी वही है भोगों को भोगना, साधन है- वस्तु-व्यक्ति-पदार्थ व परिस्थिति के रूप में फैला हुआ जगत्, बाधाएँ हैं- एक से बढ़कर एक सुखों व सुख साधनों का दिखाई देना, उससे इच्छा का पैदा हो जाना किन्तु इच्छा के अनुसार उन सुखों का या सुख-साधनों का उपलब्ध न होना, उपलब्ध हो भी जाएँ तो मनचाही मात्रा में, मनचाही गुणवत्ता में, मनचाहे देश में, मनचाहे काल में, मनचाही परिस्थिति में, मनचाही समयावधि तक उपलब्ध न होना। भोगजीवन की सबसे बड़ी समस्या यह है- मनुष्य की इच्छा कुछ होती है और होता कुछ और है। किसी भोगी को यह पसन्द नहीं कि उसकी भोग भोगने की शक्ति में कमी आए, किन्तु भोग का परिणाम शक्तिहीनता अवश्यंभावी है। भोगजीवन के सुमधुर फलों की सूची बनाई जाए तो कह सकते हैं- पराधीनता, शक्तिहीनता, जड़ता, अभाव, अतृप्ति, असन्तोष, अधिकाधिक लालसा, भोगों को भोगने से उत्पन्न संस्कार और उनका अन्तहीन चक्र।

उपर्युक्त सूची में पराधीनता, शक्तिहीनता, अभाव आदि तो समझ में आते हैं, पर यह जड़ता क्या है? व्यक्ति के पास तीन शरीर हैं- स्थूल, सूक्ष्म व कारण। अभी हम कारण की चर्चा नहीं करेंगे क्योंकि वह सबका एक ही है, वहाँ कोई भेद नहीं रहता। हम आते हैं- स्थूल और सूक्ष्म शरीर पर। ऐन्द्रियक भोगों से स्थूल शरीर की संवेदनशीलता नष्ट हो जाती है, भोग उसकी लचक, नमनीयता (Plastisity) स्फूर्ति को खा जाते हैं और उसे कठोर (Hard/stuff) अथवा लोथड़ा जैसा बना देते हैं, यह सब का अनुभव है, किन्तु इसे भी हम छोड़ते हैं। भोग परिणाम में जड़ता प्रदान करते हैं, यहाँ मुख्य रूप से जिस जड़ता की बात कही गई है, वह है सूक्ष्म शरीर की जड़ता। सूक्ष्म-शरीर और कुछ नहीं हमारे मन-बुद्धि-इन्द्रियों-संस्कारों का एक संघात है, जो समस्त ज्ञान व अनुभव का साधन है। भोगों से व्यक्ति का यह सूक्ष्म-शरीर (मन-बुद्धि जिसके सर्वोत्तम घटक हैं) जड़ीभूत हो जाता है। मन-बुद्धि की विचार करने की क्षमता जो मनुष्य के लिए भला-बुरा, कर्तव्य-अकर्तव्य, हेय-उपादेय का विवेचन करके उनमें से जो भद्र है, उसे उसके समक्ष रख देती है। भोगों के प्रभाव से मन-बुद्धि की वह क्षमता नष्ट हो जाती है। व्यक्ति के सामने शुभ-अशुभ, मङ्गल-अमङ्गल, कल्याण-अकल्याण, भद्र-अभद्र, तम व प्रकाश, मृत्यु व जीवन, सत् व असत् ऐसे घुले-मिले उपस्थित होते हैं कि इन दोनों रूपों में से एक को चुन पाना असम्भव हो जाता है। यह है भोगों के परिणाम के रूप में मिलने वाली जड़ता का स्वरूप।

शास्त्र कहता है 'समं बुद्धिर्हि पश्यति' (चरक) मनुष्य को दाता की ओर से बुद्धि के रूप में एक ऐसा अद्भुत यन्त्र मिला है जो स्वस्थ अवस्था में सदा सही-सही ही काम करता है। मनुष्य को समस्त दुःखों से बचाता हुआ यह यन्त्र मुक्ति तक की राह दिखाता है, किन्तु उसके अस्वस्थ होने पर (जड़ता ही उसकी अस्वस्थता है), वह मनुष्य को दुःख व अमङ्गल स्वरूप तात्कालिक सुखों में आबद्ध कर देता है। बुद्धि की जड़ता व्यक्ति को अतीन्द्रिय जीवन की भी कोई सत्ता हो सकती है, इस सत्य से दूर ही रखती है। गायत्री-उपासना

के द्वारा बुद्धि की इस जड़ता को तोड़कर उसे ब्राह्म ज्योति या सावित्र तेज से ओत-प्रोत रखने की बात कही गई है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जब भोगजीवन और योगजीवन का विश्लेषण किया जा रहा होता है तो प्रायः व्यक्ति ऐन्द्रियक सुखों को ही भोग के अन्तर्गत गणना करता है और यह बात उसके मन में नहीं आती कि लोकैषणा का सुख भी भोग सुख का ही एक हिस्सा है, बल्कि और भी बड़े भोग सुख का हिस्सा है, इसे वह सर्वथा भूल ही जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति अपने भोग व योग जीवन का ठीक आकलन नहीं कर पाता। भोगी होते हुए भी अपने को योगी समझता रहता है। न जानते हुए भी कोई तीव्र विष भक्षण कर ले तो जैसे उसे उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता है, वैसे ही अनजाने में भी यदि कोई भोगी का जीवन जी रहा है तो भोग के परिणामस्वरूप जिस मन-बुद्धि की जड़ता की हमने ऊपर चर्चा की, वह जड़ता उसकी बुद्धि को सतत घेरती चली जाती है और इसके फलस्वरूप वह व्यक्ति सत्य पथ या ज्योतिष्य से दिनोंदिन दूर हटता जाता है। उस स्थिति में वह व्यक्ति जीवन के सत्य को ठीक-ठीक देख ही नहीं पाता बल्कि दूसरे अपने साथियों के लिए एक भ्रान्ति का कारण भी बन जाता है। दूसरे उसके साथी उसे देखकर योग जीवन का गलत आदर्श अपने मन में बिठा लेते हैं और इस तरह योगजीवन का जो विशुद्ध आदर्श है, वह लुप्त हो जाता है।

अच्छा, भोगजीवन के बारे में आवश्यक जानकारी हमें उपलब्ध हुई। अब हम यह जानना चाहेंगे कि योगजीवन का स्वरूप, उसका लक्ष्य या आदर्श, उसकी बाधाएँ और उसका पथ या साधन क्या है? 'योगमयजीवन'। अर्थात् राग-द्वेषरहित जीवन, क्लेशमुक्त जीवन, शरणागत जीवन, निष्काम, निरहङ्कार व ममतारहित जीवन, पूर्णसंयमित जीवन, भोग से विमुख जीवन, त्रिविध एषणाओं से मुक्त जीवन, स्पर्धारहित जीवन, मैत्री-करुणा-मुदिता से ओत-प्रोत जीवन, अभ्यास व वैराग्य से सम्पन्न जीवन, भक्तिमय जीवन, सेवापरायण या निष्कामकर्ममय जीवन, सुखदुःखमोहात्मकक्लिष्ट वृत्तियों से

पार गया हुआ जीवन इत्यादि। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि योग जीवन का स्वरूप तथा योगजीवन का पथ या साधन, दोनों प्रश्नों का उत्तर एक ही है।

अब एक प्रश्न है- योगजीवन का लक्ष्य क्या है? योगजीवन का लक्ष्य है- शुद्धि-मुक्ति-आनन्द व पूर्णता। अपने मन-बुद्धि-इन्द्रियों को निर्मल करके सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाना, दुःख के मिश्रण से रहित पूर्ण आनन्द का जीवन जीना, हर प्रकार की निर्बलता से पार चले जाना पूर्ण पुरुष होकर जीना। अन्य शब्दों में विश्राम, स्वाधीनता या अगाध प्रियता का जीवन। योगजीवन का फल या परिणाम है- विश्राम की प्राप्ति। विश्राम का अर्थ अकर्मण्यता नहीं, बल्कि व्यक्ति की सत्ता के सभी भागों में शान्ति छाई रहे, हृदय-मस्तिष्क-स्थूलशरीर-सूक्ष्मशरीर सबके सब अङ्ग खिंचाव-तनाव से मुक्त होकर चैन का अनुभव करें, यही है विश्राम। यह विश्राम या शान्ति बाह्य परिस्थितियों के ऊपर निर्भर नहीं करती। गीता के उपदेष्टा भगवान् गुरु तो युद्ध भूमि में भी इसी विश्राम की स्थिति में रहते थे। दूसरी ओर पर्वत-शृङ्खलाओं के बीच में बहती हुई नदी के किनारे पर भी, एकदम निर्जन सूने वन में भी कोई व्यक्ति बेचैन हो सकता है। यदि व्यक्ति ने अपनी स्थिर व सूक्ष्मबुद्धि का प्रयोग करके अपनी सारी सामर्थ्य निष्काम कर्म (सेवा) में लगा दी और उसके परिणामस्वरूप अपने आप में सन्तुष्ट हो गया, कोई कामना शेष नहीं रखी, मन व इन्द्रियों को विषयों से विमुख कर दिया या अपने आपको भगवान् के चरणों में चढ़ा दिया तो इस सबके फलस्वरूप शान्ति, चैन या विश्राम घटित होता है।

इसी प्रकार स्वाधीनता की प्राप्ति होती है- पराश्रय का त्याग कर देने से, पराश्रय से तो मात्र पर की सेवा की जा सकती है, उससे स्वाधीन नहीं हो सकते और भी विस्तार से कहें तो अपने लिये किसी से कुछ भी न चाहने से, सब ओर से निरपेक्ष हो जाने से, अचाह व अकिञ्चन हो जाने से, सब तरफ से हटकर अपने में ही सन्तुष्ट हो जाने से, सब प्रकार का अभिमान छोड़ देने से- न भलाई का अभिमान, न बुराई त्याग का, न किसी अपनी विशेषता का, न पद-पदार्थ का। ऐसा करने से व्यक्ति अपने को अपने में पा लेता है। मनोवैज्ञानिक रूप से दूसरे के ऊपर निर्भरता की समाप्ति ही स्वाधीनता है।

अपनी पूर्णता के लिए, अपने सन्तोष या तृप्ति के लिये अपने से बाहर कहीं भी न देखना, इसी में छुपी हुई है व्यक्ति की स्वाधीनता। यह हुआ योगमय जीवन की प्राप्ति का दूसरा एक लक्ष्य और उसका उपाय।

योगमय जीवन की प्राप्ति का एक लक्ष्य है- अगाध प्रियता। भगवान् में अनन्य प्रेम, निरपेक्ष प्रेम, स्वार्थरहित प्रेम, या हेतुरहित प्रेम। वेद-शास्त्र, गुरुजनों के मुख से जिसकी सत्ता और महिमा के बारे में हमने सुना उसमें दृढ़ आस्था करनी होती है। आस्था से उस सुने हुए तत्त्व में श्रद्धा होने लगती है। श्रद्धा से विश्वास सबल होता है। विश्वास से अपना उसके साथ आत्मीय सम्बन्ध हो जाता है। जिसके साथ आत्मीय सम्बन्ध हुआ कि उसके प्रति प्रेम जागरित हो जाता है। प्रेम से स्मृति का उदय होता है। स्मृति से जिसकी स्मृति है उसकी प्राप्ति हो जाती है। चाहे हम भगवान् के प्रेमी हो जाएँ या सब तरफ से अचाह होकर अपने में ही संतुष्ट हो जाएँ या बुराईरहित होकर उदारतापूर्वक जो मिला है, उसे अपना न समझते हुए जगत् की सेवा में अर्पित कर दें। यहाँ एक समझने योग्य बड़ी ही गम्भीर बात है कि तीनों ही स्थितियों में परिणाम एक ही निकलता है-अमर जीवन, विश्राम, भगवत्प्राप्ति तथा तीनों ही स्थितियों में तीनों स्थितियाँ बनी रहती हैं।

अब हम अन्तिम प्रश्न पर आते हैं- योगमय जीवन की बाधाएँ क्या हैं? सबसे बड़ी बाधा है- अपने अहं की पूजा। चाहे वह बलिष्ठ व सुन्दर शरीर के माध्यम से हो या बुद्धि की कुशाग्रता से, मन की पवित्रता को लेकर हो या किसी पुण्य विशेष के कारण। किसी सामर्थ्य विशेष के आधार से हो या किसी वक्तृत्व कला, लेखन कला, अध्यापन कला, कार्य कुशलता, पाण्डित्य, सम्पन्नता, विशिष्टपद, योग्यता, राजनीतिक प्रतिष्ठा या किसी भी गुण विशेष अथवा शक्ति विशेष को लेकर हो, व्यक्ति किसी भी उपाय से अपने अहं और मम की प्रतिष्ठा में जुटा रहता है, यही है योग जीवन की प्राप्ति में बाधा। दूसरी तरफ कोई व्यक्ति अपने अहं की प्रतिष्ठा तो नहीं कर रहा है, किन्तु आलस्य प्रमाद में रहता है या इन्द्रिय भोगों को बहुत पसन्द करता है, विकारमय जीवन जीता है, क्रूर है, मिथ्यावादी है, हीपोक्रेट है, अपवित्र है,

सुविधाप्रिय है, अपनी ऊर्जा का दुरुपयोग करता है, असंयम में जीता है, तो ये भी योगजीवन की उतनी ही बड़ी बाधा है। अहं की पूजा लोकैषणा है, अन्य सभी प्रकार के भोग पुत्रैषणा या वित्तैषणा के अन्तर्गत आते हैं। संसार के प्रति राग, संसार का आकर्षण, संसार में प्रसिद्धि पाने की इच्छा, किसी भी माध्यम से बड़ा बनने की चाह, ये सब योग जीवन की बाधाएँ हैं, हमने बार-बार इस ओर अपने पाठकों का ध्यान दिलाया है।

सार यही है की— न तो किसी प्रकार की कोई इच्छा, तृष्णा या कामना हो, न जीवन में किसी से कोई अपेक्षा हो, न किसी प्रकार का भय हो, न कोई ग्लानि या कुण्ठा हो, न ही योगजीवन के द्वारा मन के किसी कोने में बैठा हुआ लोकैषणापूर्ति का भाव हो, इन्द्रियविषयों से सर्वथा उपरामता हो, न किसी प्रकार का किसी के प्रति शोक या मोह हो, न कोई भूतकालिक पाप या पश्चाताप की व्यथा हो, न पुण्य का अभिमान हो, न कहीं भी कोई असंतोष हो, न किसी पद या प्रतिष्ठा का गौरव हो, न जीने की या सुख की चाह हो, न मरने से या दुःख से भय हो, न अपमान की कोई पीड़ा हो, न कोई चञ्चलता हो, न बुद्धि की जड़ता हो, क्षण-क्षण को पूरे आनन्द के साथ जीया जा रहा हो, 'सर्वभूतहिते रताः' इस भाव से युक्त जीवन हो, पूरे अस्तित्व के प्रति कृतज्ञता हो, सबके प्रति प्रेम व समता का व्यवहार हो, भागवत कृपा में पूर्ण विश्वास हो, सबको सुख देने का भाव हृदय में दृढ़ता से बैठा हो, सबसे हेतु रहित अनुराग हो, अपने में पूर्ण संतोष हो, अपने को अपनी सर्वरूपता व सर्वातीतता का अनुभव हो रहा हो, ध्यान करना न पड़े सहज रूप से घटित हो, किसी अंश में बेशक कहीं अपूर्णता भी हो किन्तु पूर्णता के लिए हृदय में सतत तीव्र आग जल रही हो, अपने छोटे से छोटे दोष को भी देखने के लिए व्यग्रता हो, प्रभु मिलन की व्याकुलता, उत्कण्ठा, लगन, तड़फ, अभीप्सा, अनन्य प्रेम, अदम्य उत्साह, अनन्त धीरज हो, अपने लिए योगजीवन सर्वातिशायी महत्त्व की वस्तु बन गई हो तो समझो कि योगमय जीवन जीने के लिए व्यक्ति ने अपने आपको तैय्यार कर लिया है।

लोकमङ्गल : आत्ममङ्गल

आज हम एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार करना चाहते हैं कि कैसे तो हमारे द्वारा लोकमङ्गल घटित हो और कैसे आत्ममङ्गल ? लोक-मङ्गल में ही हमारा आत्ममङ्गल भी समाहित हो जाता है अथवा आत्ममङ्गल के लिए कुछ अलग से भी करना पड़ता है ? इस चर्चा को आगे बढ़ाने से पहले लोकमङ्गल से क्या तात्पर्य है, इसे हम समझ लेते हैं। लोक से तात्पर्य है जो कुछ भी हमारे चारों तरफ फैला हुआ जगत् है— पृथिवी-अप्-तेज-वायु-आकाश भौतिक पर्यावरण, सूर्य-चन्द्रमा-नक्षत्र, नदी-वन-उपवन-पर्वतमालाएँ, पर्जन्य-समुद्र-हिमपात इत्यादि तथा इस धरती पर जितने भी मनुष्यादि जीव जन्तु हैं, जरायुज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज प्राणी हैं। इन सबके सम्मिलित रूप को कहते हैं 'लोक' और उन सबके मङ्गल या कल्याण का नाम है लोकमङ्गल।

लोक के इन सब घटकों में सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई है मनुष्य। ऊपर लोक के जो ये विभिन्न घटक गिनाए, उनकी अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् आवश्यकताएँ हैं। जैसे पर्यावरण भी स्वस्थ और सबल रहना चाहता है, पर हमें खोजना पड़ेगा कि वह किन उपायों से, क्या कुछ करने से स्वस्थ या सबल रह सकता है। इसी प्रकार समुद्र में जलचर प्राणियों की रक्षा व नभचर पक्षियों का संरक्षण कैसे किया जाए ? निरपराध थलचर प्राणियों व वनों की रक्षा के क्या उपाय अपनाए जाएँ। धरती अधिक से अधिक हरियाली से परिपूर्ण रहे, इस विषय में भी सोचा जाए, जैसे पतञ्जलि योगपीठ में श्री स्वामी रामदेव जी महाराज के अनन्य सहयोगी अपने ढंग के एक अद्भुत व्यक्तित्व श्री आचार्य बालकृष्ण जी आयुर्वेद व जड़ी-बूटियों के लिए जिन्होंने अपने जीवन को समर्पित किया हुआ है, इस दिशा में धरती माता के लिए अपना अप्रतिम सहयोग दे रहे हैं। समुद्र में ऐसी जहरीली चीजें न पहुँचे या मनुष्य सावधान रहे कि समुद्रीय जीव-जन्तुओं की रक्षा हो सके। मनुष्य अपने तुच्छ स्वार्थ या सुखों के लिए वन्य प्राणियों का वध न करे, अपने बच्चों के लालन-पालन की तरह ही वृक्ष-सम्पदा के संवर्धन में अपना मन लगाए। इस सम्पूर्ण लोक विस्तार में ध्यान देने योग्य बात यह है कि मनुष्य के ऊपर ही सम्पूर्ण लोकों के रक्षण की जिम्मेदारी है। मनुष्य के अज्ञान अहङ्कार व स्वार्थ के कारण समस्त

लोक नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं या हो सकते हैं और यदि वही मनुष्य ज्ञान-प्रेम व त्याग से सम्पन्न हो जाए तो सम्पूर्ण अस्तित्व की रक्षा हो सकती है।

इस पूरे प्रपञ्च में से यदि मनुष्य बाहर हो जाए तो सब कुछ इतना अच्छा चलेगा कि जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती। मनुष्य की भी जो उसकी अपनी समस्याएँ हैं, वे भी उसके साथी भाईयों के कारण अधिक हैं। प्रकृति में जो कभी-कभी असन्तुलन दिखाई देता है, वह भी मनुष्य की गलतियों या उसके स्वार्थ अथवा अज्ञान के कारण ही होता है। लगभग ५० वर्ष पहले भारत में एक अत्यन्त उपयोगी प्राणी 'गिद्ध' जो मरे हुए पशुओं का मांस खाकर वातावरण को स्वच्छ कर देता है, उनकी संख्या लाखों में थी और अब बहुत बड़े सरकारी संरक्षण के बाद वह संख्या कुछ सौ में रह गई। पशुओं को जो इंजेक्शनादि दिए जाते हैं, उनमें ऐसे साल्ट प्रयोग हो रहे हैं कि जो पशु मरते हैं, उन मृत पशुओं का मांस खाने वाले ये गिद्ध भी मर जाते हैं। यह तो एक उदाहरण मात्र है। नदियों का जल दूषित हो गया, वही जल समुद्र में पहुँचकर समुद्र को भी धीरे-धीरे दूषित कर रहा है, जिससे जलीय जीव-जन्तुओं तथा समुद्र में होने वाली वनस्पति पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। वर्तमान जीवन शैली के कारण सर्वत्र पर्यावरण में जहर घुल गया है, इसे कौन नहीं जानता।

पर्यावरण रक्षा के लिए पहले बड़े-बड़े यज्ञ होते थे, अब वे नाम मात्र के होते हैं। वन बहुत अधिक मात्रा में होते थे वे सब समाप्त होते जा रहे हैं। धरती में इतनी अधिक खुदाई हो रही है, जिसके कारण प्रकृति का असन्तुलन बढ़ता जा रहा है। यह सब गाथा सुनाने के पीछे मेरा भाव यह है कि लोक के जितने भी घटक हैं, उनकी रक्षा करने से वे रक्षित होते हैं और ध्यान न देने से नष्ट हो जाते हैं। जैसे कृषि-गो इत्यादि पर ध्यान न देने से मन चाहा लाभ नहीं मिलता, बच्चों पर ध्यान न देने से अर्थात् उन्हें उचित शिक्षा न मिलने से बच्चे बिगड़ जाते हैं। जो भी मानव के द्वारा उपेक्षित हो जाता है या मानव की इच्छापूर्ति का शिकार हो जाता है, वही विनाश की राह पर चल पड़ता है।

इसी पृष्ठभूमि में हम यह खोजना चाहते हैं कि लोक मंगल कैसे हो? जैसा हमने देखा- समस्याओं का मुख्य जन्मदाता मनुष्य है। मनुष्य की अपनी बहुत सारी समस्याएँ हैं, अज्ञान की समस्या, भौतिक संसाधनों के अभाव की

या उनके दुरुपयोग की समस्या, पारस्परिक सद्भाव के अभाव की समस्या, अस्वच्छता की समस्या, जीवन सम्बन्धी सही शिक्षा के अभाव की समस्या इत्यादि। लोक में उपकार-प्रत्युपकार के बिना किसी के साथ किसी का सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है। संसार में कोई एक व्यक्ति ऐसा हो नहीं सकता कि सभी मनुष्यों की किसी भी एक आवश्यकता को भी पूरा कर दे और हो भी जाए तो उस व्यक्ति के जीवनकाल के बाद फिर वही स्थिति आ जाएगी। अतः परस्परता में ही जीवन चलता है। लोक-मङ्गल के लिए प्रवृत्त हुए व्यक्ति को देखना चाहिए कि मैं इस यज्ञ में अपनी क्या आहुति लगा सकता हूँ।

मुझे ऐसा लगता है कि लोकमङ्गल हेतु सबसे महत्वपूर्ण और सबसे प्रथम आहुति, जो किसी के लिए भी असम्भव नहीं, समानरूप से सभी मनुष्य सधन-निर्धन, सबल-निर्बल, विद्वान् या अविद्वान्, अधिक योग्यता वाले-कम योग्यता वाले, बूढ़े और जवान, स्त्री-पुरुष मनुष्यमात्र जिसके अधिकारी हैं, वह है 'लोकमङ्गल का सद्भाव'। मैं कुछ भी ऐसा नहीं करूँगा, जिससे लोक के किसी घटक को हानि पहुँचे यदि यह चेतना, यह जागरण, यह जागरूकता (Awareness) आ जाए तो यह एक बहुत बड़ी आहुति होगी। आगे तो फिर अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार कोई अध्यापक बनकर लोकमङ्गल में शरीक हो रहा है, कोई कृषक बनकर, कोई कवि, चित्रकार, लेखक, विदूषक, दुकानदार, डाक्टर-वैद्य, पुलिसकर्मी, ड्राइवर, बैंक में कार्यकर्ता इत्यादि हजारों छोटे-छोटे विभाग हैं। अर्थात् इस वैश्व यज्ञ को सम्पन्न करने के लिए किसी के पास विशेष मस्तिष्क है, किसी के पास लेखनी, किसी के पास हाथ या सम्पूर्ण शरीर, किसी के पास वाणी, किसी के पास कोई कला विशेष, किसी के पास जैसा कि हमने ऊपर कहा केवल स्वच्छ मन या पवित्र हृदय और उसके सद्भाव।

इसी श्रृङ्खला में कोई विरक्त हो जाता है। ऐसा नहीं है कि वह लोक से अलग हो गया है। वह भी लोक की एक महत्वपूर्ण सेवा कर रहा है। यदि कोई यह सोचने लगे कि भौतिक रूप में जो निर्माण करते हैं, वे ही लोक के लिए कुछ कर रहे हैं तो यह बात लोक के कितने ही घटक हैं, उनको अलग कर देगी, जब कि वे भी लोक के लिए अपनी आवश्यक भूमिका अदा कर

रहे हैं, जैसे अध्यापक, डॉक्टर, दुकानदार, कार्यालयरत सभी मनुष्य। अतः मानना पड़ेगा कि लोकमङ्गल के इस महायज्ञ में वह विरक्त भी सम्मिलित है।

इस संसार में पदार्थ के द्वारा जो सेवा कर रहे हैं, वह जगत् के भौतिक अस्तित्व को बनाए रखने के लिए उपयोगी है। यदि कृषक अन्न पैदा न करें, उद्योगपति आवश्यक वस्तु उत्पादन न करें तो मानव जीवन संकट में पड़ जाए। दूसरा सेवा का रूप है व्यवस्था बनाए रखने के लिए राजा, पुलिस, मिलेट्री इत्यादि, वे न हों तो भी सब जगह आपा-धापी मच जाए, कोई किसी के घर में घुसे और कुछ भी उठाकर चल दे, न किसी की इज्जत बचे, न किसी का सामान, अतः वह भी आवश्यक है। अलग-अलग स्थानों में काम करने वाले श्रमिकों की भी आवश्यकता होती है यदि ये श्रमिक जन न हों तो न कोई मकान बन सकता है और न कोई फैक्टरी, और न उनको आगे चलाया जा सकता है, यह सारी धरती हरियाली से विहीन हो जाएगी, कल्पना के द्वारा देखा जा सकता है कि उन श्रमिकों की लोकमङ्गल में कितनी बड़ी भूमिका है। चौथे एक वे लोग हैं जो मस्तिष्क से काम करते हैं- चित्रकार, लेखक, कवि, कहानीकार, अध्यापक-प्रोफेसर, कथावाचक, आचार्य-उपदेशक इत्यादि। इन लोगों की भी लोकमङ्गल में एक आवश्यक भूमिका स्पष्ट दिखाई देती है। जो वैज्ञानिक-दार्शनिक हैं जो रात-दिन अपने कक्ष में बैठे हुए खोज कर रहे हैं, आईन्स्टीन, स्टीफन हॉकिन्स जैसे लोग जो परमाणु-विज्ञान या खगोल-विज्ञान का अध्ययन कर रहे हैं, अन्ततः उनकी खोज भी लोकमङ्गल में पर्यवसित होती है, किन्तु ये विरक्त साधु केवल ध्यान-भजन या केवल अपना स्वाध्याय करते हैं, लोक से अलग हटकर एक कोने में बैठे हुए चुप होकर अपना काम कर रहे होते हैं, इनकी लोकमङ्गल में क्या भूमिका है?

देखिए! हम जिस किसी भी रूप में क्रोधी-अक्रोधी, शान्त-अशान्त, सविकार, निर्विकार होकर जो भी जीवन जीते हैं, उस समय वैसी ही हमारी सूक्ष्म तरङ्गें वातावरण में फैल जाती हैं। उन तरङ्गों का अपना एक-एक शुभ-अशुभ, अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव भी होता है। विरक्त पुरुष तो जो एक अर्थ में जीवन के पथ-प्रदर्शक गुरु का ही अभिनय कर रहे हैं, वे तो एक दिव्य ज्योति-स्वरूप होते हैं उनके प्रभाव की कल्पना सहज में की जा सकती है। इस विषय में महापुरुष हमें समझाते हैं कि गुरु शिष्य के ऊपर तीन प्रकार से कार्य करता है अथवा यह

कहें गुरु तीन तरीकों से शिष्य तक अपनी बात पहुँचाता है- शिक्षण, दृष्टान्त व प्रभाव। एक तो साक्षात् शब्दों के द्वारा 'यह करो- यह मत करो' ऐसी शिक्षा देता है, दूसरा शिष्य के समक्ष अपना स्वयं का दृष्टान्त रखता है, जैसे विषम-प्रसङ्गों में कैसे अपने भीतर शान्ति बनाकर रखनी चाहिए, यह बात बोलकर नहीं बल्कि अपना उदाहरण देकर शिष्य के समक्ष रखता है। तीसरा अपने प्रभाव के द्वारा शिष्य का रूपान्तरण साधित करता है। शिष्य जिस अनुपात में गुरु की ओर उद्धाटित होता है या ग्रहणशील होता है, उसी अनुपात में शिष्य में परिवर्तन शुरू हो जाता है। अनुभवी लोगों ने यह भी बताया कि शिक्षण से दृष्टान्त अधिक शक्तिशाली होता है और दृष्टान्त से प्रभाव। तो यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि वे गुरु या विरक्त महात्मा अपने भीतर अधिकाधिक आध्यात्मिक चेतना शक्ति को धारण करते हैं और दूसरी ओर वे संस्कारी आत्माएँ जो ऐसे विरक्त योगी की ओर उद्धाटित होती हैं, योगी के उस प्रभाव से उन जिज्ञासु आत्माओं का शीघ्र ही उद्धार हो जाता है। बिना ग्रहणशीलता के तो यह स्थिति ऐसी बन जाती है जैसे आकाश में सूर्य तो चमक रहा है, किन्तु किसी व्यक्ति ने अपने घर की खिड़की को बन्द कर लिया हो।

प्रभाव के विषय में श्री अरविन्द लिखते हैं- प्रभाव दृष्टान्त की अपेक्षा अधिक महत्त्वशाली होता है। प्रभाव का अर्थ गुरु का अपने शिष्य पर बाह्य शासन एवं अधिकार नहीं है, बल्कि उसके संस्पर्श एवं उसकी उपस्थिति की शक्ति है, उसकी आत्मा की दूसरे की आत्मा के साथ समीपता की शक्ति है, जो दूसरे की आत्मा के अन्दर, चाहे मौन रूप में ही, गुरु के अस्तित्व और गुरु को अन्तःसञ्चारित कर देती है। यह है गुरु का सर्वोत्कृष्ट लक्षण। वास्तव में परमोच्च कोटि का गुरु शिक्षक बहुत कम होता है, वह तो एक उपस्थिति होता है जो अपने आसपास के सभी ग्रहणशील लोगों में दिव्य चेतना और उसकी सारभूत ज्योति, शक्ति, पवित्रता और आनन्द उड़ेलता रहता है।

इस प्रकार लोकमङ्गल के लिए इन विरक्त महात्माओं की भूमिका का अवमूल्यन (Under-valuation) नहीं किया जा सकता। स्याद् आप यह कह सकते हैं कि इस कोटि का अभीप्सु शिष्य तो कोई बिरला ही होता है, अतः लोकमङ्गल के इस काम में इन विरक्तों की भूमिका तो बहुत ही सिमट गई। इस बिन्दु पर इस रूप में विचार किया जा सकता है कि यह संसार तो

एक विशाल बाजार की तरह है। यहाँ किसी एक दुकान पर बहुत भीड़ दिखाई देती है तो दूसरी हीरे-मोती वाली दुकान पर कोई दिन भर में इक्का-दुक्का ही पहुँचता है तो क्या ग्राहक कम है इस हेतु से यह जो सामान्य किराने की दुकान जहाँ कि छोटी-मोटी चीजें खरीदने वाले सैकड़ों ग्राहक खड़े हैं, की तुलना में हीरे-मोती वाली दुकान की कम उपयोगिता है? नहीं बिल्कुल नहीं। किसी प्रसिद्ध नाच-तमाशा देखने के लिए हजारों कभी-कभी लाखों लोगों की भीड़ उपस्थित हो जाती है, किन्तु किसी सिद्ध पुरुष से शिक्षा लेने के लिए कोई एक-दो पहुँचता है तो क्या उस भीड़ के आधार पर सिद्ध पुरुष की तुलना में नाच-तमाशा दिखाने वालों का अधिक महत्व हो जाएगा? कदापि नहीं। आज के युग में वेदार्थ जानने वालों की संख्या बहुत ही अल्प मिलेगी, जबकि किसी प्रसिद्ध उपन्यास के अध्येता लाखों मिल जाएँगे तो क्या वेदार्थ-ज्ञाता उपन्यास-अध्येताओं से अवर हो जाएँगे? कभी नहीं। तात्पर्य यही निकला कि किसी एक व्यक्ति से अपने सम्पूर्ण जीवन काल में यदि एक व्यक्ति भी उपकृत हो गया, उस विरक्त पुरुष के सहयोग से किसी एक व्यक्ति ने भी जीवन का अन्तिम पुरुषार्थ सिद्ध कर लिया तो लोकमङ्गल का उद्देश्य तो पूरा हो गया है। शृङ्खला टूटेगी नहीं, वह फिर औरों को तैयार करेगा और ऐसा हो नहीं सकता कि एक व्यक्ति भी उसे न मिले, यदि कोई किसी विषय में प्रामाणिक बन जाता है तो ऐसे मूल्यवान् व्यक्तित्व को इच्छुक लोग खोज ही लेते हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि लोकमङ्गल के साधन एक तो स्थूल पदार्थ हैं, दूसरा स्थूल शब्द, तीसरा चिन्तन, चौथा अचिन्तन। आचार्य विनोबा जी ने किसी प्रसङ्ग में बहुत ही सुन्दर कहा है- 'लोग अक्सर कर्म को ही अधिक महत्व देते हैं, किन्तु मुझे स्पष्ट अनुभव मिल रहा है कि कर्म से अधिक शक्तिशाली हैं- शब्द। शब्द से ज्यादा ताकतवर है- चिन्तन और चिन्तन से भी अधिक- अचिन्तन।

निषेध की तरफ से इसे हम समझ सकते हैं। शारीरिक हिंसा से ज्यादा विनाशक होते हैं क्रूर शब्द। इसीलिए कहते हैं कि शस्त्र का घाव तो भर जाता है, किन्तु शब्द का घाव कभी नहीं भरता। इसी प्रकार क्रूर शब्दों से भी अधिक विनाशकारी है क्रूर चिन्तन। कोई व्यक्ति किसी के बारे में बुरा सोचता है तो निश्चित ही यह उन क्रूर शब्दों से भी अधिक घातक हो जाता

है। सकारात्मक दृष्टि से भी इसे समझ सकते हैं कोई व्यक्ति सारी समष्टि के लिए शुभ चिन्तन करता है तो वह उसका चिन्तन स्थूल शुभ कर्मों से या बोले गए सुन्दर शब्दों से भी अधिक प्रभावी होगा। इस प्रक्रिया में चिन्तन करने वाले का भी उद्धार हो जाता है, जबकि अशुभ चिन्तन से चिन्तन करने वाले का विनाश सुनिश्चित है। इस विवेचन में उस बात का भी अनुमोदन हो रहा है कि विरक्त लोगों की भी इस लोकमङ्गल रूप महायज्ञ में बहुत बड़ी भूमिका है; क्योंकि वे सदा सुचिन्तन (शिवसङ्कल्प) या अचिन्तन (निःसङ्कल्प) अवस्था में रहते हैं, कभी भी कुचिन्तन (अशिवसंकल्प) में नहीं रहते।

यह भी एक बात ध्यान देने योग्य है कि जो क्रूर कर्म, क्रूर शब्द व क्रूर चिन्तन में रहता है, वह कभी भी अचिन्तनरूप उस सर्वोत्कृष्ट अवस्था को नहीं प्राप्त हो सकता। क्योंकि सुचिन्तन का ही परिणाम अचिन्तन होता है। वेदों में मन को सुन्दर बनाने के लिए कितनी तेजस्वी प्रार्थनाएँ मिलती हैं- **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु** (यजु०- ३४.१) **मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय** (यजु०- ३९.४) मैं मन के शिव-संकल्प को, मन के उत्साह को, वाणी के सत्य को प्राप्त करूँ। कोई व्यक्ति अहर्निश इस शुभचिन्तन को ही यदि अपनी साधना बना ले तो लोकमङ्गल व आत्ममङ्गल दोनों ही एक साथ घटित हो सकते हैं। सुचिन्तन का प्रथम जो चरण है वह यह है कि मैं निर्दोष हो जाऊँ, मैं शत्रु का भी बुरा न चाहूँ, सबका भला हो, सब सुखी रहें। एक सन्त ने तो यह प्रार्थना भी की है कि 'मैं किसी को बुरा न समझूँ', वे कहते थे कि होगा कोई बुरा, किन्तु किसी को बुरा समझने का हमारा अधिकार नहीं।

अब हम आते हैं- आत्ममङ्गल पर, आत्ममङ्गल का अर्थ है- परमशान्ति, दुःखमुक्ति, अगाधप्रियता की प्राप्ति। जहाँ लोकमङ्गल सामर्थ्य के द्वारा घटित होता है, उस सामर्थ्य के सैकड़ों प्रकार हो सकते हैं- लेखक, वक्ता, वैद्य, कृषक, अध्यापक, उद्योगपति, दुकानदार, पुलिसकर्मी, क्लर्क, सैनिक, राजनेता इत्यादि। वहाँ आत्ममङ्गल होता है- सेवा, त्याग, ज्ञान (बोध) व प्रेम के द्वारा।

यहाँ यह स्पष्टता से समझ लेना चाहिए कि सामर्थ्य और ज्ञान दोनों अलग-अलग चीज हैं। सामर्थ्य एक शक्ति है और ज्ञान एक प्रकाश का रूप है। यह सदा ध्यातव्य है ज्ञान वह नहीं है जो जाना जाता है, बल्कि वह है जिसके द्वारा जाना जाता है। हो सकता है किसी के पास शास्त्र का सामर्थ्य हो पर ज्ञान

न हो, इससे विपरीत भी हो सकता है ज्ञान तो हो पर शास्त्रीय सामर्थ्य न हो। कुछ ऐसे भी होते हैं, जिनके पास दोनों ही होते हैं, उन्हीं को 'श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ' कहते हैं, जैसे आचार्य शङ्कर, स्वामी दयानन्द। रमण महर्षि ज्ञानी तो हैं, किन्तु उनके पास शास्त्र की पङ्क्तिशः व्याख्या करने का सामर्थ्य तो नहीं है। बहुत सारे विश्वविद्यालय में प्रोफेसर्स होते हैं जिनके पास सामर्थ्य तो है पर वे स्वयं कहते हैं कि हम ज्ञानी नहीं हैं। कोई ज्ञानी भी जब कभी किसी शिष्य में अपनी ज्ञानशक्ति का सम्प्रेषण कर रहा है या अपनी कल्याणकारी भावतरङ्गों वायुमण्डल में भेज रहा है या अपनी कल्याणकारी भावतरङ्गों वायुमण्डल में भेज रहा है तो उस समय वह उसका सामर्थ्य कहा जाएगा।

ज्ञान हमारे समक्ष हमारी भूल दिखाकर उसे मिटा देता है। हमारी भूल यह हो रही कि हमें किसी से भी जो कुछ मिला है, उसको हमने अपना समझ लिया, अपने लिये समझ लिया और इससे भी आगे बढ़कर उसे अपना स्वरूप ही समझने लगे। ज्ञान हमें यह दिखाता है कि जिसका वियोग हो सकता है, वह हमारा नहीं, हमारा वही है जो हमसे कभी वियुक्त न हो। ज्ञान हमें यह भी दिखाता है कि जिसको हम 'यह' या 'मेरा' कहते हैं वह 'मैं' नहीं हो सकता। अर्थात् ज्ञान देवता की कृपा से अपने से भिन्न वस्तु या व्यक्ति में ममकृति चली जाती है और वही ज्ञान स्वयं के शरीर, योग्यतादि में अहंकृति का नाश कर देता है। अर्थात् ज्ञान हमारे शरीर के साथ हमारे तादात्म्य को तोड़ डालता है।

ज्ञान ने हमारी भूल को मिटाया और हमें यह दिखाया कि अपना तो अपने में ही है और इस प्रकार वस्तु-व्यक्ति-पदार्थ-परिस्थिति से हटाकर हमें अकेला नग्न खड़ा कर दिया। अर्थात् ज्ञान ने हमको इस समस्त संसार से अचाह व अकिञ्चन बनाकर बे-साथी और बे-सामान के बना दिया हम सर्वथा निष्काम व निरहं हो गए। इस ज्ञान देवता कि कृपा से हम केवल (Alone) हो गए। हमारी ऐसी स्थिति हो गई कि खोने के लिये कुछ बचा ही नहीं। जब खोने के लिये कुछ बचा ही नहीं तो भय भी जाता रहा। जब अपना करके कुछ शेष ही नहीं रहा अर्थात् कहीं ममता ही नहीं रही तो काम-क्रोध और लोभ भी चला गया। इस प्रकार ज्ञान ने हमको निर्विकार बना दिया। अब हमें केवल इतना मात्र करना है कि ज्ञान जो हमारा पथ प्रदर्शन कर रहा है, उस का अनादर नहीं करना, उसको ठीक वैसे ही स्वीकार करना है। ज्ञान का अनादर करते

ही व्यक्ति के हाथ से आत्ममङ्गल छिन जाता है और आदर करते ही व्यक्ति तत्काल न कि भविष्य में सभी वस्तु-व्यक्ति-परिस्थिति से असङ्ग हो जाता है। असङ्ग होते ही स्वाधीन हो जाता है। जो हमारा निजस्वरूप है वह बच जाता है और जो आरोपित है या अध्यस्त है, वह हट जाता है।

आत्म मङ्गल के लिये एक महत्वपूर्ण बात यह है कि वह ज्ञान हमारे अनुभव में आ जाये, जिसके प्रकाश में सब कुछ जाना जा रहा है। जो भी स्वीकृतियाँ हैं, उनको वह ज्ञान हटा देता है। जो जानने में आ रहा है, वह स्वीकृति रूप होता है। श्रुति में कहा- (तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते)। तदेव-शब्द से उस तत्त्व की ओर सङ्केत है जो केवल प्रकाशक है, प्रकाश्य अर्थ तो यहाँ हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसका सङ्केत 'इदम्' शब्द से किया जा रहा है। प्रकाश्य से सम्पृक्त प्रकाशक भी नहीं है अतः तदेव शब्द का अर्थ हुआ- शुद्ध प्रकाशक। समस्त स्वीकृतियाँ 'इदम्' के ही अन्तर्गत आती हैं। यद्यपि स्वीकृतियों के दो रूप हैं- एक साधन रूप, दूसरी असाधन रूप। जैसे मैं कितना सुन्दर हूँ, धनी हूँ, लेखक हूँ, दानी हूँ, भोगी हूँ, संसार का रक्षक (Saviour) हूँ या इनके विपरीत कुरूप हूँ, निर्धन हूँ, अज्ञानी मूर्ख हूँ इत्यादि सब असाधन रूप स्वीकृतियाँ हैं। किन्तु कोई कहे कि मैं ब्रह्मचारी हूँ, योगी हूँ, संन्यासी हूँ, तापस हूँ, ये सब साधन रूप स्वीकृतियाँ हैं। प्रारम्भ में साधन रूप स्वीकृतियों के द्वारा असाधन रूप स्वीकृतियों को हटाया जाता है और फिर 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप अन्तिम वृत्त्यात्मक ज्ञान से उन साधन रूप स्वीकृतियों को भी हटा दिया जाता है, क्योंकि वे भी तो आरोपित ही हैं, हमारा निज स्वरूप नहीं हैं। पुनः अग्नि जैसे काष्ठों को भस्म करके फिर स्वयं भी शान्त हो जाता है वैसे ही वह ब्रह्म का 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप वृत्त्यात्मक ज्ञान भी सभी स्वीकृतियों को मिटाकर स्वयं भी शान्त हो जाता है और मात्र शुद्ध प्रकाशक ज्ञान शेष रह जाता है जिसने 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्तिज्ञान को भी प्रकाशित किया था।

सम्पूर्ण औपनिषद दर्शन इसी एक बात को समझाने के लिए प्रवृत्त है। जैसे-बृहदा० श्रुति (३.८.११) में याज्ञवल्क्य ने गार्गी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि- 'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातु, नान्यदतोऽस्ति द्रष्टु नान्यदतोऽस्ति मन्तु नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति। अर्थात् हे गार्गी! वह अक्षर तत्त्व

अदृष्ट है, दृष्टि का विषय न होने के कारण वह किसी के द्वारा देखा नहीं गया, किन्तु स्वयं दृष्टि स्वरूप होने के कारण द्रष्टा है। इसी प्रकार यह श्रोत्र का अविषय होने के कारण सुना नहीं गया, किन्तु स्वयं श्रुतिस्वरूप होने से श्रोता है। तथा मन का अविषय होने के कारण यह अक्षर मनन का विषय नहीं होता, किन्तु स्वयं मतिस्वरूप होने से मन्ता है। इसी तरह बुद्धि का अविषय होने के कारण विज्ञात नहीं है, किन्तु स्वयं विज्ञानस्वरूप होने के कारण विज्ञाता है।

यही नहीं, इस अक्षर से भिन्न कोई द्रष्टा दर्शन क्रिया का कर्ता भी नहीं है, यह अक्षर ही सर्वत्र दर्शन क्रिया का कर्ता है, इसी प्रकार इससे भिन्न कोई श्रोता भी नहीं है, यह अक्षर ही सर्वत्र श्रोता है। इससे भिन्न कोई मन्ता भी नहीं है, सम्पूर्ण मनो के द्वारा सर्वत्र वह अक्षर ही मनन करने वाला है और इससे भिन्न न कोई विज्ञाता (विज्ञान क्रिया का कर्ता) है, समस्त बुद्धियों के द्वारा वह अक्षर ही विज्ञान क्रिया का कर्ता है।

हे गार्गी! निश्चय इस अक्षर में ही आकाश ओत प्रोत है। जो ही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो क्षुधादि संसार धर्मों से अतीत सर्वान्तर आत्मा है और जिसमें आकाश ओत प्रोत है, वह अक्षर ही पराकाष्ठा है, यह परा गति है, यह परब्रह्म है और यही पृथिवी से लेकर आकाशपर्यन्त समस्त सत्य का सत्य है।

केनोपनिषद् श्रुति में भी यही समझाया कि वह सदा ही विज्ञाता बना रहता है कभी भी मन-बुद्धि व इन्द्रियों का विषय न होने से विज्ञेय कोटि में नहीं आता। मन-बुद्धि-इन्द्रियों के द्वारा सूक्ष्म-स्थूल पदार्थ जाने जाते हैं, पर वह इनका विषय बन नहीं सकता, अतः उसको जानने का एक ही उपाय है कि इन्हें शान्त कर दिया जाए, बस फिर वही शेष रह जाता है—अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि। (१.३) अर्थात् इस विशाल संसार में विदित-अविदित (स्थूल-सूक्ष्म) के रूप में जो पदार्थ हमारे ज्ञान के विषय बनते हैं, वह अक्षर तत्त्व उन सबसे भिन्न ही है। जो सदा विषयी ही बना रहता है, कभी भी विषय नहीं बनता।

छान्दो० श्रुति में भूमा की व्याख्या करते हुए इसी सत्य की तरफ संकेत किया है— यत्र नान्यत्पश्यति नान्यत्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। (७.२४.१) अर्थात् जैसे लोकव्यवहार में दृश्य से भिन्न अन्य एक देखने वाला, सुनने वाला या जानने वाला होता है, तब वह अन्य

किसी एक-एक इन्द्रिय के द्वारा किसी अन्य द्रष्टव्य श्रोतव्य या ज्ञातव्य विषय को देखता, सुनता या जानता है, वैसा भूमातत्त्व में देखने-सुनने या जानने वाला नहीं होता है। वहाँ तो केवल बस वही होता है, उसके सिवा और कोई कुछ नहीं होता। अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं— शिवं शान्तम् अद्वैतं प्रपञ्चोपशमम् (माण्डूक्य- ८) सर्वप्रपञ्च के निवृत्त होने पर शान्ति मात्र शेष रह जाती है।

शास्त्र में उसके स्वरूप को दर्शाने के लिए निषेधवाचक शब्दों का प्रयोग ही प्रायः मिलता है। उसका कारण यही है कि व्यक्ति की इस अज्ञान अवस्था में उस अक्षर अविनाशितत्त्व का समस्त दृश्य के साथ तादात्म्य हुआ-हुआ है, उस तादात्म्य को हटाने के लिए या तोड़ने के लिए यह एक युक्ति या मार्ग निकाला गया। इस प्रक्रिया से, साधक अपने उस केवल निज स्वरूप में पहुँच जाता है, जहाँ दूसरा विषय, वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, नाम, रूप कुछ भी नहीं रहता।

प्रश्नोपनिषद् में भी उसके षोडश कला वाले स्वरूप का वर्णन करके उसके निष्कल शुद्ध स्वरूप का दर्शन कराया गया है। प्राण, श्रद्धा, पञ्चभूत, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम इन कलाओं ने ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप को ढक रखा है, इस लिए इन्हें कला कहते हैं (कं ब्रह्म लीयते आच्छाद्यते यया सा कला) व्यक्ति का आत्ममङ्गल तो उसी शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि में ही निहित है। लोकमङ्गल से जीवन का आधा लक्ष्य ही पूरा होता है। अर्थात् लोकमङ्गल अपने से बाहर कुछ करने से सम्बद्ध है और आत्ममङ्गल अपने भीतर जानने से, यह दोनों की स्थिति है।

आत्म-मङ्गल का कोई और भी उपाय, मार्ग या साधन है अथवा केवल एक ही रास्ता है कि व्यक्ति किसी से कुछ न चाहे, कुछ न देखे, कुछ न सुने, कुछ न बोले, समस्त मन व इन्द्रियों के व्यापार से उपरत हो जाए और इस प्रकार बाहर से सर्वथा विमुख होकर आत्म-केन्द्रित हो जाए। हाँ! और भी है। जीव जब मनुष्य शरीर में इस संसार में आता है तो ऐसी असहाय अवस्था में होता है कि एक-एक क्षण उसके देख-भाल की आवश्यकता होती है। आरम्भ में तो माता-पिता परिवार, कुटुम्ब सब मिलकर मनुष्य को अपने प्रेम व साधनों से बढ़ाते हैं। धीरे-धीरे गुरुजन या समाज जैसे भी उसे मिलते हैं, उनसे कुछ शुभ कुछ अशुभ सीखता हुआ कुछ करने लायक हो जाता है। यदि उसमें

अज्ञान अधिक होता है तो उसके अनुपात में भोग-इच्छाएँ ही बलवती होती हैं। भोग रुचि के प्रबल होने पर व्यक्ति अधर्मपूर्वक भी अपनी उस भोग-रुचि को पूरा करने में लगा रहता है और इस प्रकार न चाहते हुए भी पाप संचय करता हुआ अपना अमङ्गल करता रहता है। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि भोग की रुचि को लेकर अशुभ और पुण्य की रुचि को लेकर शुभ कार्य होते हैं, किन्तु यदि उसे सौभाग्यवश उत्तम कोटि के माता-पिता परिवार मित्रगण, समाज या गुरुजन मिल जाते हैं तो उसकी बुद्धि धर्म की ओर अधिक अभिमुख रहती है, और वह धर्मपूर्वक ही अपनी भोग-इच्छाओं को पूरा करना चाहता है। इस प्रक्रिया से पुण्य का संचय बढ़ते-बढ़ते आत्म मङ्गल की ओर अग्रसर होता रहता है।

सम्पूर्ण रूप से आत्म-मङ्गल तो तभी होता है, जब व्यक्ति को कोई ऐसा ज्ञानी पथ प्रदर्शक गुरु मिल जाए। वह गुरु किसी को माँ के रूप में, किसी को पिता के रूप में, किसी को मित्र के रूप में, किसी को साक्षात् गुरु के रूप में, किसी भी रूप में मिल सकता है। वह गुरु अपने शिष्य का शास्त्र से भी परिचय करा देता है। इस प्रकार शास्त्र और गुरु दोनों मिलकर शिष्य की बुद्धि में ज्ञान का बीज वपन करते हैं। आगे चलकर यही बीज विकसित होता हुआ शिष्य की सत्ता के ऊपर छा जाता है। उसके हृदय में शुद्धि, पवित्रता, मुक्ति, अमरत्व, परमशान्ति की प्यास दिनोंदिन बढ़ती जाती है। बढ़ती हुई यह प्यास स्वयं मार्ग खोजती हुई साधक की उस माँग को पूरा कर देती है जो वह व्यग्र होकर परम उत्कण्ठा के साथ खोज रहा होता है या चाह रहा होता है।

शास्त्र व गुरुजन साधक का मार्गदर्शन करते हैं कि तुम्हारे पास विधान के अनुसार जो कुछ भी संचित हो गया है, उसे बदले में कुछ भी न चाहते हुए इच्छुक लोगों में उदारतापूर्वक बाँटते रहो, जिसमें तुम्हारे विवेक व सामर्थ्य का कुछ विरोध भी न हो। ऐसा करने से तुम्हारे चित्त की वह भूमि तैय्यार हो जाएगी, जिसमें भागवत ज्ञान-ज्योति-प्रकाश-आनन्द-परमरस-परमतृप्ति अवतरित होगी। इस प्रकार निष्काम कर्म (सेवा) भी चित्तशुद्धि परम्परा से तुम्हारे आत्ममङ्गल के साधन बन जाएंगे। इस तरह निरन्तर चलते-चलते एक दिन तुम्हारा परम कल्याण हो जायेगा। साधक भी संचित पुण्यों के कारण प्राप्त उत्तम बुद्धि, प्रज्ञा या मेधा के द्वारा शास्त्र या गुरुवाणी में पूर्ण विश्वास करता हुआ निर्दिष्ट पथ पर धैर्य से चलता रहता है।

भक्ति के माध्यम से भी आत्ममङ्गल घटित हो सकता है। तदर्थ दो शक्तियों का संयोग या मिलन आवश्यक है। साधक की अभीप्सा और भागवत कृपा। बाह्य गुरु व शास्त्र दोनों के सहयोग से साधक की प्यास सतेज होती जाती है। यह प्यास और भी अधिक तीव्र व बलवती हो जाती है, जब साधक अपनी प्राप्त विवेकबुद्धि के द्वारा इस संसार की अनित्यता या असारता का, क्षणिक सुखों से मिलने वाली अतृप्ति का, अहं की पूर्ति करने में झेले गए अनन्त दुःखों का विचार करने में सक्षम होता है। इन सब के सहयोग से भगवत् प्राप्ति के लिए साधक में अनन्य प्रेम जागरित हो जाता है। यह प्रेम साधक की सभी अन्य इच्छाओं को खा जाता है। विषयों से भरा हुआ यह समग्र संसार जो कभी पहले उसे रस से परिपूर्ण दिखाई देता था, अब वह उसके लिए एकदम उल्टा हो जाता है, सब कुछ नीरसता में बदल जाता है। भगवान् के सिवा उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। न किसी से बात करना चाहता है, न कोई खाने-पीने में रुचि है, न कहीं घूमने की इच्छा होती है। न किसी सम्मान की ही चाह है। ऐसा दीवाना जैसा हो जाता है। बस, इस व्याकुलतापूर्ण स्थिति या अवस्था की उत्तर अवस्था ही भगवत्प्राप्ति है। भगवत्प्राप्ति होने पर व्यक्ति शान्त, समता में स्थित, समबुद्धि, सर्वात्मभाव, सरल (अहंमुक्त) हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को शास्त्रकारों ने 'कुशल' या ब्रह्म को जानने वाला 'ब्राह्मण' यह सार्थक नाम दिया है। बृहदा० श्रुति में याज्ञवल्क्य गार्गी को समझाते हुए कहते हैं कि जो इस अक्षर अविनाशी तत्त्व को बिना जाने इस संसार से प्रयाण करता है वह कृपण है, बेचारा है, बहुत ही दीन है।

अन्त में साररूप में संक्षेप से यह कहा जा सकता है कि यदि उचित दृष्टि मिल जाए तो लोकमङ्गल व आत्ममङ्गल न तो एक दूसरे के विरोधी हैं और न असहयोगी, बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं। यदि साधक को यह दृष्टि मिल जाती है कि सृष्टि सृष्टिकर्ता का निवासस्थान है और सृष्टिकर्ता ही उसका प्रभु है। समस्त जीवगण अपने प्रभु के सेवक हैं या उसकी सन्तान हैं। उन सबमें मनुष्य की स्थिति यह है कि वह अपने प्रभु का या अपने पिता का ही प्रतिरूप है। मनुष्य का यही सर्वोत्तम कर्तव्य है कि उसका यह शरीर विश्ववाटिका की खाद बन जाए और हृदय अपने प्रभु के लिए प्रेम से भर जाए और अहं अभिमान शून्य हो जाए अर्थात् अपने लिए किसी से कुछ न चाहे। इस समझ

के साथ यदि कोई अपने जीवन को चलाए तो स्वतः ही उभयविध मङ्गल साधित हो जाता है। इस दृष्टि में कर्मयोग, ज्ञानयोग व भक्तियोग तीनों ही इकट्ठे हो जाते हैं।

शरीर से (स्थूल व सूक्ष्म शरीर दोनों से ही) कर्मयोग, बुद्धि से ज्ञानयोग, मन व अपने से भक्तियोग सम्पन्न होता है। ये तीनों योग भी सर्वथा एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं। केवल इतनी सी बात है कि एक की प्रमुखता रहती है और दूसरे दो सहयोगी। मनुष्यों का प्रारब्ध (कर्मप्रवाह) पृथक्-पृथक् होने से किसी में क्रिया के वेग की, किसी में विचार की तो किसी में भाव की प्रमुखता होती है। कर्मयोगी का साधन उदारता, कर्तव्यपरायणता है। वह प्राप्त सामर्थ्य को या तो भगवान् की समझता है या जगत् की। यदि वह भगवान् की समझता है तो भगवान् के नाते और जगत् की समझता है तो जगत् के नाते अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य को सेवा में अर्पित कर देता है। साथ में अपने लिए किसी से कुछ चाहता नहीं; क्योंकि जिस स्वाधीनता, स्वराज्य, अमरत्व की उसे माँग है, वह किसी वस्तु-व्यक्ति या परिस्थिति के अधीन नहीं मिल सकती, वह तो पहले ही अपने में मौजूद है, अतः अपनी माँग को अपने में ही पाकर सन्तुष्ट हो जाता है, इसी का नाम है ज्ञानयोग। सुने हुए प्रभु को अपना मानकर उसे अपने हृदय का प्यार अर्पित करने का नाम है भक्तियोग। अर्थात् प्रभु को अपना प्रेमास्पद स्वीकार करके अपने हृदय में उसकी अखण्ड स्मृति जगाकर नित्य प्रेम का दान करना ही भक्तियोग है।

संक्षेप में मेरे पास जो कुछ है, वह जगत् का है, इस बुद्धि से जगत् की सेवा का नाम कर्मयोग, किन्तु जगत्पति का समझकर जगत् की सेवा का नाम भक्तियोग और किसी का भी न समझकर अपने में अचाह हो जाने का नाम ज्ञानयोग। ज्ञानयोगी भी कर्म करता है, किन्तु 'गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं और मैं गुणों से असङ्ग हूँ' इस भाव के साथ करता है। मनुष्य को जगत् के लिए भी उपयोगी होना है, अपने लिए भी और प्रभु के लिए भी। वस्तुतः जिसका आत्ममङ्गल हो गया, वही सच्चे अर्थ में लोकमङ्गल कर सकता है। साक्षात् सच्चिदानन्द बनकर जीना ही आत्ममङ्गल का स्वरूप है, ऐसी स्थिति में जीवन का निर्दोष हो जाना स्वाभाविक है। निर्दोष जीवन में लोकमङ्गल निहित ही है।

भगवान् गुरु के द्वारा प्रदत्त

शक्तिशाली आश्वासन

जैसा कि सभी को विदित है प्राचीन भारतीय वाङ्मय में श्रीमद्भगवद्गीता का अपना एक अन्यतम स्थान है। इस ग्रन्थ की पृष्ठभूमि है- मनुष्यों में अग्रगण्य एक अर्जुन जैसे अप्रतिम वीर योद्धा की आध्यात्मिक समस्या। बाहरी तौर पर कोई ऊपर-ऊपर से देखे तो उसे ऐसा लगेगा कि अर्जुन की मात्र एक व्यावहारिक नैतिक समस्या है कि वह अपने चाचा, ताऊ व गुरुजनों के साथ कैसे युद्ध करे। पूज्यजनों का तो वाणी से भी तिरस्कार अशोभनीय माना जाता है और उसे युद्ध करना पड़ रहा है। किन्तु समस्या के मूल में जाकर देखा जाए तो उसकी जड़ें संसार की कारणभूत अविद्या और उससे उत्पन्न मोह व शोक में पायेंगे। गीता शास्त्र के अध्येता को सदा यह बोध बना रहना चाहिए कि यह शास्त्र श्रीकृष्णार्जुनसंवाद है और यह शास्त्र मात्र अर्जुन की विशिष्ट समस्या का समाधान करने के लिए नहीं बोला गया है बल्कि अर्जुन जैसे ही चेतना के स्तर पर जीने वाले उन सभी साधक-साधिकाओं के लिए है जो अपने को अविद्या और तज्जन्य शोक-मोह से घिरा हुआ अनुभव कर रहे हैं तथा अर्जुन की तरह ही अपने से किसी बड़ी शक्ति के समक्ष शरणागत होकर समाधान पाने के इच्छुक हैं। जैसा कि गीता के 2.7 श्लोक में अर्जुन की मनःस्थिति का यथार्थ स्वरूप ज्ञात हो रहा है-

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

कार्पण्य (दैन्य) रूप दोष से नष्ट स्वभाव वाला अर्थात् दैन्य दोष से जिसका क्षात्र स्वभाव दब चुका है ऐसा मैं तथा धर्म के विषय में सम्मूढ चित्त वाला अर्थात् कर्तव्य-अकर्तव्य विषय में भ्रान्त हुआ मैं तुमसे पूछता हूँ। हे कृष्ण! मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, मुझे शरणागत समझकर इस परिस्थिति में जो मेरे लिए हितकर हो, कर्तव्य हो, वह मुझे बतलाओ।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये' गीता 2.4 इत्यादि श्लोकों द्वारा अर्जुन ने गुरुपुत्र, मित्र, सुहृद्, स्वजन, सम्बन्धी और बान्धवों के विषय में 'अहमेषां ममैते' 'यह मेरे हैं, मैं इनका हूँ' इस प्रकार अज्ञान जनित स्नेह और उसके विच्छेद आदि कारणों से होने वाले अपने शोक और मोह दिखाए हैं। अर्थात् उनमें ममता के कारण जो स्नेह है वह 'मोह' और इनके साथ स्नेह विच्छेद हो जाने पर अथवा इनके मारे जाने पर जो पातक लगेगा, इसे देखकर हृदय में शोक उत्पन्न

हो रहा है, वह 'शोक' नाम से जाना जाता है। तात्पर्य यह है शोक, मोह, अभिमान, ममत्व आदि दोष से घिरे हुए चित्त वाले सभी प्राणियों के द्वारा स्वभावतः स्वधर्म का परित्याग और निषिद्ध का सेवन होने लगता है।

स्वधर्म में प्रवृत्त व्यक्तियों के भी शरीर, मन व वाणी की प्रवृत्ति यदि फलाशापूर्वक और अभिमानपूर्वक हो रही हो तो उससे धर्माधर्म की वृद्धि होगी, जिससे इष्ट-अनिष्ट जन्म प्राप्त होगा। फिर तो सुख-दुःख का प्राप्तिरूप संसार चलता रहेगा, मिटेगा नहीं। जो भी अच्छा लगता है, जहाँ भी लगाव है, मधुर समझकर हम जिसकी ओर आकृष्ट होते हैं, जिसने हमको बाँध रखा है, जो हमारे मुक्त-विहार में बाधक बना हुआ है, उस सबके मूल में मोह होता है और जो कुछ भी वियोग या विछोह के रूप में अथवा किसी पाप या पश्चाताप के रूप में, कड़वाहट की स्मृति के रूप में उपस्थित होता है, जो हमारे हृदय को छीलता रहता है, यहाँ शोक उस सब का उपलक्षण है।

गीता शास्त्र एक अर्थ में द्वापर युग के श्रेष्ठतम पुरुष नर चोले में नारायण की जीवनी है। इस जीवनी को काव्यमय रूप में प्रस्तुत करने वाले हैं, उन्हीं के युग के श्रेष्ठतम मुनि, ज्ञान के सागर, पञ्चम वेद भारत संहिता के रचयिता, सदा सत्य में स्थित, साक्षात् कृतधर्मा, विदितवेदितव्य, अधिगतयाथातव्य, परापरज्ञ, ब्रह्मसूत्रों के रूप में मानवजाति के लिए अमूल्य धरोहर के प्रदाता, कृष्णद्वैपायन, बादरायण, वेदव्यास आदि अनेक नामों से विदित, अपनी अखण्ड समाधि में लीन, धर्मानिष्ठ तेजस्वी महापुरुष। किसी भी जीवनी के दो प्रमुख हिस्से होते हैं- एक उसका व्यक्तित्व तथा दूसरा कृतित्व अर्थात् जीवन व कार्य। दूसरे शब्दों में दृष्टि व स्थिति। जीवनी लेखक को जिसकी वह जीवनी लिखता है उसकी दृष्टि समझनी होती है कि वह महान् पुरुष इस अस्तित्व को किस रूप में देखता था या देखता है और उनकी स्वयं की स्थिति कैसी थी? या कैसी है? भगवान् वेदव्यास जी ने भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन को अपनी खुली आँखों से देखा, समय-समय पर आपस में मिलते भी थे, चर्चा भी होती थी। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जब यह समस्या उपस्थित हुई कि इस यज्ञ के श्रेष्ठतम पुरुष के रूप में किसे अर्घ्य दान दिया जाए जिसमें बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, भीष्म, द्रोण, विदुर, वसुदेव तथा स्वयं वेदव्यास इत्यादि सभी महापुरुष उपस्थित थे। ऐसे कठिन समय में स्वयं वेदव्यास जी सामने आये और उन्होंने कहा कि हम सबके लिए ही पूज्यतम व्यक्ति के रूप में श्रीगोविन्द उपस्थित हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन को भगवान् वेदव्यास ने मानवीय दैनन्दिन व्यवहार में परम पुरुष का साक्षात् विग्रहस्वरूप ही देखा। इस प्रकार भगवान् वेदव्यास उनकी दृष्टि और स्थिति से भली प्रकार परिचित थे। उनके व्यक्तित्व व उनके कार्यों को तथा इस समस्त प्रपञ्च के बीच उनकी महिमामय उपस्थिति व स्थिति को देखते थे।

जैसे वैदिक ऋषि अपौरुषेय वेदज्ञान के केवल माध्यम बने हैं, उनके माध्यम से वेदज्ञान धरती पर अवतीर्ण हुआ। उन्होंने अपनी तरफ से उस विशुद्ध ज्ञान में

कुछ मिलावट नहीं की। इसी प्रकार गीता ज्ञान के संदर्भ में भी यह देखना चाहिए कि अर्जुन की घटना तो केवल निमित्तमात्र है। वह यहाँ मनुष्यमात्र की सभी आध्यात्मिक समस्याओं का प्रतिनिधित्व कर रहा है और उधर भगवान् वेदव्यास भी निमित्त मात्र बने हुए हैं, वस्तुतः तो भगवान् गुरु ही जीवन की सभी आन्तरिक या आध्यात्मिक समस्याओं का समाधान कर रहे हैं अर्थात् सम्पूर्ण गीताशास्त्र में उठाई गई समस्याओं का जो समाधान किया गया, उसमें अर्थ (विषय-वस्तु) भगवान् गुरु का है और शब्द भगवान् वेदव्यास के। यहाँ यह बात भी कभी भूलनी नहीं चाहिए कि यद्यपि समस्या कालविशेष या देशविशेष में प्रकट हुई दिखती है और उसका समाधान भी काल विशेष या देश विशेष से जुड़ा है किन्तु ध्यान से देखने पर विदित हो जाता है कि देश व काल का अंश तो यहाँ बहुत ही स्वल्प है। समस्या जीवन्त बन जाये, आकारहीन अवस्था में न रहे, देखने वाले को साक्षात् साकार रूप में दिखाई दे, इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए घटना विशेष को पकड़ लिया गया है। भगवान् की वाणी में प्रदत्त समाधान तो कभी पुराना हो ही नहीं सकता। जब तक सूर्य और पृथ्वी रहेगी, मनुष्य रहेंगे, गीता से उनकी समस्याओं का समाधान मिलता रहेगा।

संसार में तीन तरह के लोग दिखाई देते हैं- एक वे हैं जिन्होंने अपनी समस्याओं का समाधान खोज लिया है, समस्याओं से पार चले गये हैं, जिनके जीवन में कोई भी समस्या शेष नहीं बची। सचमुच ऐसे लोग बहुत थोड़े ही होंगे। उनके लिए गीताशास्त्र नहीं है। दूसरे वे लोग हैं जो अर्जुन जैसी स्थिति में हैं, जो अपने आपको समस्याग्रस्त अनुभव कर रहे हैं। जो किर्कतव्यविमूढ़ हैं, जिनके चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा है किन्तु प्रकाश पाने की तीव्र जिज्ञासा है, ऐसे लोगों के लिए ही गीताशास्त्र है। तीसरे प्रकार के लोगों के लिए भी गीताशास्त्र नहीं है जो अंधकार में होते हुए भी अंधकार का अनुभव नहीं कर पा रहे। पूर्ण रूप से समस्याओं में डूबे हुए हैं किन्तु उन्हें कोई समस्या नहीं दिख रही। बीच-बीच में जीवन के जो सुख मिलते रहते हैं वे उनके लिए इतने आकर्षक होते हैं कि उन्हें इससे ज्यादा और कुछ नहीं चाहिए। कभी-कभी उनके ऊपर दुःखों का पहाड़ जैसा टूट पड़ता है तो भी दुःखों का प्रभाव उनके ऊपर नहीं होता, बस दुःखी होते रहते हैं। सुख की तरफ ताकते रहते हैं, प्रतीक्षारत रहते हैं कि कभी तो हमारे भी अच्छे दिन आयेंगे। दुःख से पार जाने का विचार उनके मन में नहीं आता। ऐसी स्थिति वाले लोगों को कहते हैं सांसारिक। अर्थात् सुख-दुःख के भोग में जो रचे-पचे हैं। इन भोगियों के लिए गीताशास्त्र का उपदेश नहीं है। गीता से समाधान पाने के लिए किसी भी व्यक्ति को योग का, भक्ति का, समाधान का या तत्त्वज्ञान का जिज्ञासु होना चाहिए। जितनी जिज्ञासा तीव्र होती है उतना ही यहाँ उसका प्रवेश सहज है।

जिज्ञासा का जागरण उन्हीं लोगों में होता है, जिन्हें भोगों के बड़े से बड़े सुख भी सारहीन नजर आने लगे हैं। जिनको यह निश्चय हो गया कि केवल भोगों का आरम्भ

ही सुखदायक है, अन्त तो सदा ही विचारशील के हृदय को जलाता रहता है, विषयों से मिलने वाली तृप्ति बार-बार अतृप्ति में ले जाती है, व्यक्ति को पराधीन बना देती है, विषयों को पाने से पहले जो अभाव की स्थिति होती है, विषय-तृप्ति के उत्तरकाल में भी वही अभाव आकर खड़ा हो जाता है। संसार के सभी बड़े से बड़े सुखों के प्रति जब साधक की यह दृष्टि विकसित हो जाती है तब उसके भीतर जिज्ञासा पैदा होती है कि क्या जीवन का यही रूप है। कभी सुख-कभी दुःख, कभी हँसना-कभी रोना, कभी हर्ष-कभी शोक या इससे अलग भी कोई रूप हो सकता है। तब वह भगवान्, आत्मा, अत्यन्त दुःखनिवृत्ति, अमृतत्व, मुक्ति, परमशान्ति इत्यादि को पाने के लिए किसी ऐसे आत्मतृप्त गुरु की शरण ग्रहण करता है। गीता का 'भगवान् गुरु' ऐसा ही शरण्य है जो दुःखहारी बनकर शिष्य के दुःखों को हर लेता है, जो शिष्य का प्रेमी बनकर शिष्य को प्रेमरस से छका देता है, जो शिष्य के लिए ज्ञानी गुरु बनकर शिष्य के अज्ञान को मिटाकर ज्ञान से परिपूर्ण कर देता है। जो शिष्य को बन्धन मुक्त कर स्वाधीन बना देता है, जो शिष्य के अशान्तमन को शान्त कर देता है।

अब हम सबसे पहले अपने पाठकों से यह निवेदन करना चाहेंगे कि वे इस बात पर विचार करें कि लोक व्यवहार में मान. प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी जी जैसा व्यक्ति जब किसी राजनेता को अलग से बुलाकर आश्वासन दे देता है कि आप अपना जोर-शोर से काम कीजिए, आपके लिए अमुक पद सुरक्षित है। इतना सुनते ही वह व्यक्ति उसके पास जो कुछ होता है-तन, मन, धन, विद्या, बल, समय इत्यादि सब को बिना बचाए, बिना आगे-पीछे देखे सारा का सारा झौंक देता है। हम दूर क्यों जाएं पतंजलि योगपीठ के अध्यक्ष श्री स्वामी रामदेव जी महाराज किसी व्यक्ति को कोई बड़ा आश्वासन दे दें कि आप अमुक विषय में कुछ करके दिखाएँ, हम आपको अपनी कम्पनी में पार्टनर बना लेते हैं, वह व्यक्ति अपनी तरफ से कोई कसर नहीं छोड़ेगा। किसी जिज्ञासु को या किसी विद्यार्थी को कोई गुरु-आचार्य आश्वासन दे देता है कि तुम निश्चिन्त रहो-मैं तुम्हारे साथ हूँ तो वह अपने श्रद्धेय की वाणी सुनकर एकदम विश्वस्त हो जाता है। इन सभी उपर्युक्त उदाहरणों में या इसी प्रकार के और भी सभी लौकिक प्रसङ्गों में हम सबका अनुभव है कि आश्वासन देने वाला व्यक्ति यदि शक्तिशाली है, सामर्थ्यवान् है, तो जिसको आश्वासन मिलता है वह व्यक्ति कभी भी उसकी वाणी में संशय या संदेह नहीं करता, अविकल रूप से उसे वैसा ही स्वीकार करता है। शास्त्र के संदर्भ में भी जिज्ञासु की अधिक नहीं तो कम से कम इतनी निष्ठा, श्रद्धा, भक्ति, विश्वास तो होना ही चाहिए, जितना कि लौकिक जनों को अपने-अपने आश्वासन प्रदाता में होता है। जिज्ञासु के संज्ञान में यह बात बनी रहनी चाहिए कि वेदों में जो कहा है ऋषि-मुनियों या आप्त पुरुषों के द्वारा जो कहा गया है, गीता-उपनिषद् में जो कहा है, वह पूर्ण अनुभूत सत्य है, कल्पना में जाकर कुछ भी नहीं कहा गया है, मैं भी उसका अनुभव करके देख सकता हूँ।

गीता को गीता इसलिए कहते हैं कि वह श्रीभगवान् के द्वारा गायी गई है। जैसे उपनिषद् का प्रत्येक वाक्य वेदान्त कहा जाता है, उसी प्रकार गीता शास्त्र का प्रत्येक वाक्य श्रीभगवान् गुरु के द्वारा गायी गया है। इसीलिए प्रत्येक अध्याय के अन्त में ॐ तत् सवितुः श्रीमद्भगवद्गीसूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे..... इत्यादि वचन पुष्पिका के रूप में सुनने को मिलता है। यह ब्रह्मविद्या है, यह योगशास्त्र है, यह उपनिषदों का सार है, ध्यातव्य है इस पुष्पिका में श्रीमद्भगवद्गीतासु इस शब्द को बहुवचन में पढ़ा गया है अर्थात् भगवान् के श्रीमुख से निकले हुए ये वचन हैं, इनमें संशय या संदेह करने के लिए कहाँ गुंजाइश है। भगवान् कहते ही उसको हैं जो सर्वसमर्थ हो, जिसमें समग्र ऐश्वर्य हो, धर्म, यश और श्री का साक्षात् विग्रह हो, जिसमें निरतिशय ज्ञान और वैराग्य हो। जो सबका हो, जो सबमें हो, जो सर्वदा हो, जो सर्वत्र हो। ऐसे भगवान् की तथ्यपूर्ण वाणी है गीता। उसी भगवान् नारायण के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत है-'योगेश्वर श्रीकृष्ण'।

गीता के भगवान् गुरु ने शरणागत शिष्य को आदेशात्मक, तत्त्वकथनपरक, चेतावनीपरक, सलाह इत्यादि कई रूपों में अपनी वाणी सुनाई। साथ में बड़े ही शक्तिशाली, अमोघ, कभी व्यर्थ न जानने वाले आश्वासन (Powerful Promise) भी दिए हैं। हम अपने पाठकों के साथ मिलकर उदाहरणस्वरूप कुछ ऐसे आश्वासनों का अध्ययन करना चाहेंगे, जिससे इस मार्ग पर चलने वाले साधकों का उत्साह बढ़े।

सबसे पहले भगवान् गुरु ने गीता के दूसरे अध्याय के आरम्भ में ही शिष्य को यह समझाया कि तुम अविनाशी हो, अजर-अमर हो, शरीर मरता है, जन्मता है, आत्मा का न तो जन्म होता है न मरण, आत्मा को अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य जानकर शोक से पार चले जाओ। अवस्थाएँ देह की होती हैं, तुम देह की उन सब अवस्थाओं से अतीत हो जो जागरित-स्वप्न-सुषुप्ति के रूप में जानी जाती हैं, इन्द्रियों और विषयों के संयोग से शीत-उष्ण व सुख-दुःख आदि मिलता रहता है। वे सब आगमापायी अनित्य हैं, उनको सहन करो अर्थात् उन्हें अपने अधीन रखो, उनको अभिभूत करके रखो। भगवान् ने आगे कहा-

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ 2.15

हे नरश्रेष्ठ ! सुख-दुःख को समान मानने वाले जिस धीर (ज्ञानी) पुरुष को ये इन्द्रिय अनुभूतियाँ व्यथित नहीं करती, वही अमृतत्व अर्थात् ब्रह्म को पाने में सक्षम होता है। यहाँ भगवान् गुरु का आश्वासन इस रूप में प्राप्त हो रहा कि ऐसा करोगे तो ऐसा होगा।

आगे भगवान् आश्वासन देते हैं-

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ 2.38

सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को एक जैसा समझकर फिर अपने सहज प्राप्त कर्तव्य को पूरा करो, ऐसा करने से तुम्हें पाप नहीं लगेगा।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ।। (गीता- ४.३६)

यदि तू सब पापियों से बढ़कर पापी है तो भी उस ज्ञानरूपी नौका से तू सब पापों से तर जाएगा अर्थात् पाप करने में अब तेरी कोई रुचि नहीं रहेगी, तू साधुस्वभाव हो जाएगा।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।। (गीता- ४.३७)

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि सब प्रकार के ईंधन को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार हे अर्जुन! ज्ञानरूपी अग्नि सभी प्रकार के कर्मों (उनके शुभाशुभ संस्कारों व परिणाम) को जला डालती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।। (गीता- ४.३८)

इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला (अन्तःकरण को शुद्ध करने वाला) वास्तव में और कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को निरन्तर साधना करते हुए योगसंसिद्धि (योग में प्रतिष्ठित हुआ व्यक्ति) कालान्तर में अपने अन्दर ही प्राप्त कर लेता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।। (गीता- ४.३९)

जो श्रद्धावान् पुरुष इन्द्रियसंयम द्वारा उस ज्ञान के पीछे लगा रहता है, उसे ज्ञान मिल जाता है। ज्ञान मिलने पर उसे तुरन्त परम शान्ति प्राप्त हो जाती है।

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।। (गीता- ४.४१)

हे धनञ्जय! उस प्रमादरहित आत्मज्ञानी पुरुष को कर्म नहीं बाँधते, जिसने योग के द्वारा अपने समस्त कर्मों का त्याग कर दिया है अर्थात् जिसने समस्त कर्म एवं कर्मफल ईश्वर को अर्पित कर दिए हैं और ज्ञान से अर्थात् अकर्त्ता रूप आत्मबोध से जिसका देहात्मलक्षण संशय नष्ट हो गया है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।। (गीता- ५.१७)

जिनकी बुद्धि परम तत्त्व में ही रमी हुई है, वहीं जिनका अन्तःकरण (चित्त) रमा हुआ है; भगवान् में ही जिनकी स्थिति है, जो भगवत्परायण हैं और जिनके पाप या दोष ज्ञान द्वारा सर्वथा धुल गए हैं, ऐसे लोग फिर जन्म नहीं लेते। पुनर्जन्म चक्र से मुक्त हो जाते हैं।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।। (गीता- ५.२४)

इस प्रकार (बाह्य सुख-दुःखों की अपेक्षा न करके) जो व्यक्ति अन्तःसुखी हो जाए, जो अपने आप में ही रमण करने लगे, आत्माराम हो जाए और इस प्रकार जिसे अन्तःप्रकाश प्राप्त हो जाए, वही सच्चा योगी ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्मनिर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।। (गीता- ५.२५)

जिन व्यक्तियों की बुद्धि संशयरहित हो गई है (छिन्नद्वैधाः) अर्थात् ज्ञान से जिनके सब संशय निवृत्त हो गए हैं तथा जिन्होंने अपने आपको संयम में ढाल लिया है (यतात्मानः), जिनके पाप नष्ट हो गये हैं और जो सब प्राणियों का हित करने में लगे हुए हैं, ऐसे तत्त्ववेत्ता ऋषि ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।। (गीता- ५.२९)

जो मुझ परमेश्वर को सब यज्ञों व तपस्याओं का भोक्ता तथा सब लोकों का स्वामी और सभी प्राणियों का मित्र (सुहृद्) अनुभव करता है, वही शान्ति पाता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।। (गीता- ६.३०)

जो मनुष्य सब स्थानों में या सब प्राणियों में मुझे और सबको मुझ परमेश्वर में देखता है, उसके लिए मैं कभी अलग अर्थात् अदृश्य नहीं होता और न ही वह कभी मेरे लिए अदृश्य होता है। इस प्रकार भक्त और भगवान् दोनों ही एक दूसरे के आमने-सामने होते हैं।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्गुर्गतिं तात गच्छति ।। (गीता- ६.५४)

हे पार्थ! जिसने एक बार योग का आचरण करना शुरू कर दिया, ऐसे

पुरुष का इस लोक में और परलोक में कभी विनाश नहीं होता। कल्याण के मार्ग अर्थात् भगवत्प्राप्ति के लिए कर्म करने वाला कोई भी मनुष्य दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ (गीता- ७.१४)

मुझ ईश्वर की निजशक्तिरूप (दैवी) माया गुणात्मक और दुस्तर (नितान्त कठिनता से पार करने योग्य) है, जिसका अतिक्रमण कर पाना मेरी शरण में आये बिना, मुझे जाने बिना असम्भव है। जो सब धर्मों, सब प्रपञ्चों, सब विधि विधानों को छोड़कर मुझ मायापति परमेश्वर की सर्वात्मना शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे सब भूतों को मोहित करने वाली इस माया से पार उतर जाते हैं। अर्थात् संसार-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ (गीता- ८.५)

जो अन्तकाल में (मृत्यु के समय) मेरा स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है अर्थात् हृदय में मेरे स्वरूप का ध्यान करता है, वह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावंभावितः॥ (गीता- ८.६)

अथवा हे कौन्तेय! जो मनुष्य सदा (जीवन पर्यन्त) जिस किसी भाव से भावित रहा है, जब वह अन्त में शरीर को त्यागता है तो वह उस विशिष्ट भाव से सम्बद्ध गति को प्राप्त होता है। जैसाकि प्रसिद्ध है- अन्तमति सो गति।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ (गीता- ८.७)

इसलिए सभी कालों में अर्थात् सदैव ही मुझे स्मरण करता रह (हृदय में मुझे धारण किए रह) और युद्ध कर (अपने कर्तव्य को कर)। मुझमें अर्पित कर दिए हैं अपने मन और बुद्धि जिसने ऐसा तू (अपने कर्तव्य कर्म को पूरा करते हुए भी) अन्तकाल में निःसन्देह मुझको ही प्राप्त हो जाएगा।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ (गीता- १०.१०)

उन निरन्तर मेरे ध्यान आदि में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह सम्यग् दर्शनरूप बुद्धि योग देता हूँ जिससे वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं।

तेषामेवानुक्तमर्थमहमज्ञानजं तमः।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता- १०.११)

उन भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए मैं उनके आत्मभाव अर्थात् अन्तःकरण में प्रवेश कर तेजस्वी ज्ञानदीप से उनके अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करता हूँ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ (गीता- ११.५४)

हे परन्तप अर्जुन! इस रूप वाला अर्थात् निर्गुण व सगुण का समुच्चय विराट्-स्वरूप मैं अनन्य भक्ति के द्वारा ही यथार्थरूप से जानने, देखने और फिर प्रवेश करने के लिये शक्य हूँ।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ (गीता- ११.५५)

हे पाण्डुपुत्र अर्जुन! जो मनुष्य मेरा काम करने वाला मुझे ही परमपुरुष और परम प्राप्तव्य पदार्थ मानता है, मेरा भक्त है, आसक्ति रहित है और समस्त भूतों के प्रति वैरभाव से रहित है वह मनुष्य मुझे प्राप्त होता है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ (गीता- १२.६)

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।

भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (गीता- १२.७)

जो पुरुषोत्तम में ही समस्त कर्मों का संन्यास कर अर्थात् नियति से प्राप्त कर्मों का कर्तव्य रूप में निर्वहण कर मुझे अर्पित कर, मत्परायण पूर्णतया मुझमें अनुरक्त होकर अनन्य भक्तियोग से ध्यान करते हुए मुझे भजते हैं। हे पार्थ! अपने सम्पूर्ण चित्त को मुझ में निविष्ट करने वाले उन लोगों का मैं इस मृत्युमय संसार-सागर से बिना कोई विलम्ब किए उद्धार कर देता हूँ। इसमें कोई सन्देह नहीं।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ (गीता- १२.८)

अत एव केवल मुझ विश्वरूप परमेश्वर में ही मन लगा, मुझमें ही बुद्धि को स्थिर कर, इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा। इसमें कुछ भी संशय नहीं।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ (गीता- १३.३४)

इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद (पृथक्ता) को और कार्यसहित प्रकृति से मुक्त होने को, जो पुरुष शास्त्र और आचार्य के उपदेश से प्रकट आत्मबोधकारक ज्ञानरूप चक्षु से जान लेते हैं, वे बन्धन से मुक्त होकर परम आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ (गीता- १४.१९)

ज्ञानी पुरुष समभाव से देखने वाला पुरुष जब यह जान लेता है कि प्रकृति के गुणों से अतिरिक्त दूसरा कोई कर्ता नहीं है। इसके साथ ही तीनों गुणों से परे साक्षीभूत आत्मतत्त्व को पहचान लेता है, वह मुझे पा लेता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ (गीता- १४.२०)

देही (आत्मा) देहसमुद्भव अर्थात् देहोत्पत्ति के बीजभूत इन तीन गुणों का अतिक्रमण करके जन्म, वृद्धावस्था एवं मृत्यु के दुःखों से मुक्त होकर अमृत अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ (गीता- १४.२६)

जो एकनिष्ठ भक्तियोग से सर्वभूतहृदयस्थित परम कारुणिक, सत्य संकल्प आश्रितों के लिए वात्सल्य सागररूप मुझ नारायण को भजता है, वह दुस्तर गुणत्रय से ऊपर उठकर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

(गीता- १५.५)

जो मान और मोह से रहित हैं, जिन्होंने सङ्ग दोष पर विजय पा ली है, जो अध्यात्म ज्ञान में सदैव स्थिर रहते हैं और जो निवृत्तकाम हैं एवं सुख-दुःख आदि

द्वन्द्वों से मुक्त हैं, ऐसे सम्मोहरहित ज्ञानी पुरुष उस अव्यय स्थान (अविनाशी पद) को पा लेते हैं।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ (गीता- १८.६२)

हे भारत! तू सर्वभाव (हृदय, मन, प्राण आदि सब प्रकार) से उसी परब्रह्म की शरण में जा। उसके अनुग्रह से तुझे परम शान्ति और शाश्वत स्थान (परम पद) प्राप्त होगा।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (गीता- १८.६५)

मुझमें अपने मन को पूर्णरूप से लगा दो, मेरे भक्त हो जाओ। मेरा यजन करने वाले होओ। मुझे प्रणाम कर। मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि ऐसा करने से तू मुझसे आ मिलेगा। तू मेरा प्रिय है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता- १८.६६)

सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को मुझमें छोड़कर तू मेरी ही शरण में आ। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा, शोक मत कर।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ (गीता- १८.६८)

जो इस परम गुह्य ज्ञान को मेरे भक्तों को बतलाएगा, इस प्रकार वह मुझमें परम भक्ति करके निःसन्देह मुझको प्राप्त हो जाएगा।

भगवान् गुरु ने जैसे भक्त को ये सशक्त अमोघ व अव्यर्थ आश्वासन दिए हैं, इसी प्रकार ध्यान से देखने पर पता लगेगा कि शतशः चेतावनियाँ भी दी हैं। बहुत कुछ करने के लिए भी कहा है। १३वें या १५वें जैसे अध्यायों में तथा बीच-बीच में भी तत्त्वज्ञान भी दिया। यदि हम इस सबका अपने लिए दृढता से व श्रद्धा से प्रयोग करें या उपयोग लें तो जो जीवन किसी महान् से महान् व्यक्ति को मिला है उस सूची में हमारा भी नाम लिखा जा सकता है, इसमें कोई संशय नहीं।

मैं कौन ?

जिस 'मैं' का हम सबको भास हो रहा है, वह मैं कौन है ? जैसे आत्मन् शब्द कभी जीव या जीवात्मा के, कभी स्व (अपना) के, कभी परमात्मा या ब्रह्म के, कभी चरित्र या विशेषता के, कभी नैसर्गिक प्रकृति या स्वभाव के, कभी व्यक्ति या समस्त शरीर के, कभी मन या बुद्धि के, कभी साहस के, कभी सूर्य, अग्नि, वायु के अर्थ में प्रयुक्त होता है, वैसे ही मैं या अहं शब्द भी अलग-अलग प्रसङ्गों में अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त होता रहता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार ने भूमा, आत्मा और अहम् तीनों का एक ही अर्थ में प्रयोग करके नारद को समझाया। जैसे-

स (भूमा) एवाधस्तात् स उपरिष्ठात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वम् इति।

अथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्ठादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति।

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्ठादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवदं सर्वमिति।

अर्थात् वह भूमा ही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही दाहिनी ओर है, वही बायाँ है, विशेष क्या कहें वही यह सब कुछ है। उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं जिस पर वह प्रतिष्ठित होवे। अब उसी में अहंकार रूप से उपदेश किया जाता है- मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दाहिनी ओर हूँ, मैं ही बाँयी ओर हूँ और मैं ही यह सब कुछ हूँ। अब आगे शुद्ध आत्मा रूप से ही भूमा का उपेदश किया जाता है। आत्मा ही नीचे हैं, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दाहिनी ओर है, आत्मा ही बायीं ओर है, विशेष क्या कहें- यह सब कुछ आत्मा ही है।

ऋग्वेद के १०.१२५ वागाम्भृणी सूक्त में 'अहं' शब्द का प्रयोग पारमेश्वरी शक्ति (मातृशक्ति) के लिए हुआ है। वे कहती हैं- मैं ही इस सृष्टि का मूल हूँ। मैं समस्त सृष्टि को धारण कर रही हूँ- सूर्य, चन्द्रमा, मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और अश्विनी कुमारों को। मैं ही देवों और मनुष्यों से अनुमोदित स्वयं यह घोषणा करती हूँ कि जिस-जिस को मैं चाहती हूँ, उस-उस को उन्नत करती हूँ, उसको ब्रह्मा, उसको ऋषि, उसको शोभन मेधावान् बनाती हूँ। मैं द्युलोक और भूलोक में सर्वत्र प्रवेश कर गई हूँ।

रमण महर्षि का एक ही साधना सूत्र था कि मैं कौन (Who am I) इस मैं को खोजना। माण्डूक्य उपनिषद् में 'मैं' इस बोध का मूल तुरीय आत्मा को बताया (एकात्मप्रत्ययसारम्); क्योंकि यदि तुरीय आत्मा न होता तो व्यवहार में प्रत्येक

को जो 'मैं' यह प्रतीति होती है वह प्रतीति ही नहीं हो सकती थी। किसी भी प्रकाश्य वस्तु के लिए एक प्रकाशक वस्तु भी चाहिए, अन्यथा प्रकाशक के बिना प्रकाश्य अस्तित्व में ही कैसे आ सकता है। अतः रमण महर्षि का कहना था कि चेतना के जिस शान्त सागर से एक छोटे से बुलबुले के रूप में जो 'मैं' का उद्भव हो रहा है, उस मैं को पकड़ कर उसके उद्भव स्थान की ओर ध्यान देने से 'मैं कौन' का उत्तर मिल जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि समस्त वाक् का जो मूल है और उधर वाक् जो कि समस्त अभिधेय पदार्थों के लिए अभिधानस्वरूपा है या यह कहें अभिधान जो कि अभिधेय से अभिन्न है, इस प्रकार समस्त अभिधान-अभिधेय (नाम व रूप) का जो मूल है वह आत्मा है, वह ब्रह्म है, वह ओङ्कार है, वही मैं हूँ। इस प्रक्रिया से हम ऊपर वर्णित छान्दोग्य के भूमा तत्त्व पर ही पहुँच जाते हैं; क्योंकि अस्मद्, ब्रह्म, ओम्, आत्मा, अक्षर, भूमा ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं। शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों के संघात के लिए जैसे आत्मा शब्द का प्रयोग होता है, वैसे ही मैं शब्द का भी प्रयोग होता है। योगदर्शन में इसी को अस्मिता क्लेश कहा है। अर्थात् प्रकाशक और प्रकाश्य का तादात्म्यभाव, एकरूपता (दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता। २.६) भगवत्पाद आचार्य शंकर इसी को अध्यास कहते हैं। अंग्रेजी में इन उपर्युक्त शुद्ध व अशुद्ध, मुक्त व बद्ध दोनों स्थितियों को बताने के लिए दो शब्दों का प्रयोग होता है- True-self और False-self. True-self का अर्थ है शुद्ध आत्मा, अक्षर, भूमा, तुरीय आत्मा, केवल, शुद्ध विज्ञाता या शुद्ध द्रष्टा, निष्कल पुरुष, शान्त ब्रह्म, निर्गुण ब्रह्म, चिन्मात्र, ज्ञामात्र, दृशिमात्र, चितिशक्ति, दृक्शक्ति इत्यादि। आत्मा की जीवभाव को प्राप्त अवस्था या बद्धावस्था या अध्यासरूप अवस्था या अस्मितास्वरूप क्लेशमय अवस्था ही False-self है। अज्ञान के कारण से यह अवस्था है, अज्ञान के न रहने पर यह अवस्था नहीं रहती। अज्ञान हटता है ज्ञान से।

ज्ञानप्राप्ति के उपाय हैं सभी प्रकार के सांसारिक सुखों से उपरत होकर जो अपने पास है वस्तु, शरीर, योग्यता, बुद्धिशक्ति, भावशक्ति, कर्मशक्ति इत्यादि के रूप में, उसे बिना बचाए भगवान् के काम में लगा देना, सर्वतोभावेन अपने आपको भगवान् के चरणों में अर्पित कर देना, अपनी किसी भी प्रकार की कामना न रखना, अपने अहं को सर्वथा निष्क्रिय अवस्था में पहुँचा कर श्रद्धापूर्वक शास्त्र व आचार्यों की वाणी को सुनना, निरन्तर उसका मनन करना, मनन से उपलब्ध हुए तत्त्व पर सतत ध्यान करना इत्यादि। इन सभी उपायों से अशुद्धि का क्षय और ज्ञान का प्रकाश निरन्तर बढ़ता रहता है। इस प्रक्रिया से साधक का मन पूर्ण रूप से आलोकित हो जाता है। साधक का आत्मा बादलों के हटने पर सूर्य की भाँति अपने निर्मल स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

भगवान् का सहारा

अस्तित्व (Existence) या जीवन (Life) का जब हम अध्ययन करते हैं तो हमारे समक्ष यह निष्कर्ष निकलकर आता है कि पार्थक्य (Isolation) में कोई जीवन नहीं है। यहाँ किसी भी वस्तु, व्यक्ति या पदार्थ के होने का अर्थ ही यह है कि सम्बन्धित होना (To be is to be related) अतः अस्तित्व माने सह-अस्तित्व (Co-existence)। अर्थात् शतशः सहस्रशः चीजें मिलकर जीवन को चला रही हैं। परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक सर्वत्र एक ही नियम काम कर रहा है। यदि बड़े स्तर पर अकेले में काम नहीं हो रहा है या नहीं हो सकता तो छोटे स्तर पर भी वही बात है। ७५/१०० या ३/४ में कुछ अन्तर नहीं है। स्वर्ग लोक का विष्णु और धरती का वामन (मनुष्य) एक ही है, वामनो ह विष्णुरास। श० ब्रा० १.२.५.५ अर्थात् जो वामन रूप से दृष्टिगोचर हुआ, वह यथार्थ में अपने विराट् रूप में विष्णु था। स वैष्णवो यद्वामनः। श० ५.२.५०४ अर्थात् वामन पिण्ड वैष्णव= विराट्धर्मा था। **लोकसम्मितोऽयं पुरुषः** (चरक) तथा औपनिषद् सिद्धान्त में **‘यद्ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे, यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे’** सर्वत्र एक ही सूत्र पिरोया हुआ है। Microcosm और Macrocosm एक ही है, आकार में भेद है प्रकार में नहीं। समस्त सागर और एक बून्द में संगठनात्मक अन्तर (Structural difference) नहीं है। जो महतो महीयान् है वही अणोरणीयान् है, अर्थात् अणु और महत् में कोई भेद नहीं है। अपने विराट् रूप में जो पुरुष सहस्रशीर्षा और सहस्रपाद् है वही नर देह में आकर दशाङ्गुल पर स्थित है और एकशीर्षा है। **योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि** (काण्व यजु०- ४०.१६) जो ‘अदस्’ है वही तद्वाच्य मैं हूँ। ऐतरेय आरण्यक के ही एक भाग ऐतरेय उपनिषद् में इस सूत्र को और भी अच्छे से समझाया है। यह मनुष्य देह देवताओं की सभा है, जहाँ सभी विराट् देवों के प्रतिनिधि इकट्ठे हुए-हुए हैं। इस साठे तीन हाथ के शरीर में सब लोकपाल अपने-अपने लोकों की कल्पना करके बैठे हुए हैं। कल्पना करें सूर्य, वायु, जल देवता यदि अपना हाथ खींच लें तो यह समस्त पार्थिव जीवन कितना शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाए। इस समस्त प्रपञ्च के मूल में

इस जगत् का मालिक ईश्वर, ब्रह्म, आत्मा, चैतन्य का भी वास है, यह बात हम शास्त्र से जानते हैं।

मनुष्य से अतिरिक्त जितना भी जीव-जगत् है, वह सब तो भोग योनि है। वहाँ किसी भी प्रकार की न तो करने की स्वतन्त्रता है और न स्वाभाविक प्रकृति प्रदत्त ज्ञान से भिन्न जानने या मानने का सामर्थ्य ही है, किन्तु मनुष्य में तो एक ही साथ करने, जानने व मानने की तीनों शक्तियाँ मौजूद हैं। जैसा कि हमने ऊपर देखा भौतिक जीवन के स्तर पर तो व्यक्ति समष्टि से निरपेक्ष हो जाए ऐसा कभी हो नहीं सकता, पीछे भी नहीं हुआ और आगे भी नहीं होगा। उसे जीवित रहने के लिए सम्पूर्ण सृष्टि ही अपनी सहायता के लिए चाहिए। किन्तु मनुष्य एक विचारशील सचेतन प्राणी है, अतः वह अपने मन के द्वारा जिन इच्छाओं को पैदा कर लेता है, उनको तो अपने विवेक का प्रयोग करके हटा ही सकता है, उतने अंश में तो सब से निरपेक्ष हो सकता है। इसमें वह पूर्ण स्वाधीन है।

मनुष्य के पास तीन दृष्टियाँ हैं- इन्द्रिय दृष्टि, बुद्धिदृष्टि और बुद्धि से अतीत दृष्टि। मनुष्य को स्वाभाविक रूप से जैसे ही अपने होने का अहसास प्रारम्भ होता है वैसे इन्द्रियों के द्वारा जगत् की प्रतीति भी होने लगती है। इन्द्रिय दृष्टि विशुद्ध भोग दृष्टि है, उसमें ग्राह्य-अग्राह्य का निर्णय इन्द्रियों के लिए जो सुखकर या दुःखकर है, मात्र इसी आधार पर होता है। इन्द्रियाँ पुण्य-पाप को नहीं जानती। इन्द्रियाँ परिणाम में क्या मिलेगा, यह भी नहीं जानती। अतः जो लोग बुद्धिदृष्टि का प्रयोग करना नहीं जानते या यों कहें जिनकी बुद्धिदृष्टि उचित शिक्षा, सत्सङ्ग, सद्बिचार, सद्गुरु, सद्ग्रन्थ तथा योग्य मार्गदर्शक माता-पिता आदि के अभाव में विकसित नहीं हो पाती, वे सदा भोग की रुचि को लेकर उचित-अनुचित सब प्रकार के व्यवहार करते रहते हैं और परिणाम में दुःख भोगते रहते हैं।

जीवन को सुखमय बनाने के लिए बुद्धिदृष्टि का विकास होना चाहिए। इसमें बच्चों का तो क्या दोष? और बड़ों का भी क्या दोष बताएँ- उन्हें भी कुछ नहीं पता होता कि हमारे क्या कर्तव्य हैं? पूरा का पूरा वायुमण्डल ही ऐसा बना रहता है कि जो भी किसी को शरीर, मन, बुद्धि व सामर्थ्य मिला हुआ होता है, उसका सतत दुरुपयोग होता रहता है, जिससे परिणाम में दुःख

ही दुःख मिलते रहते हैं। इसके लिए ही कहा जाता है कि जब तक बच्चों को माता-पिता और गुरु ये तीन उत्तम नहीं मिलते-उनके लिए सौभाग्य के द्वार नहीं खुलते। बिना किसी योगी या ज्ञानी गुरु की सहायता के बुद्धि से अतीत दृष्टि की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। हाँ उचित शिक्षा के द्वारा यदि व्यक्ति की बुद्धिदृष्टि खुल जाती है तो वह भोग की रुचि को सामने रखकर कुछ नहीं करता बल्कि धर्म को या पुण्य को समक्ष रखकर अपने व्यवहार करता है और विचारशील होने के कारण परिणाम में आने वाले दुःखों को पहले ही देख लेता है और उन दुःखों से अपने को बचा लेता है।

अब जो लोग इससे भी आगे बढ़ना चाहते हैं, बुद्धि से भी अतीत सत्य चेतना या सत्यदृष्टि को प्राप्त करना चाहते हैं, वे जीवन के समग्र प्रयोजन अर्थात् अपने स्वरूप की खोज, यहाँ इस धरती पर अपने होने की सार्थकता और जीवन दाता की खोज में प्रवृत्त हो जाते हैं। परिणामतः परमशान्ति, चिरविश्राम, दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति, एकमात्र भगवत्प्रेम ही उनके जीवन का ध्येय बन जाता है। जीवन के आध्यात्मिक विकास की अन्तिम चरम सीमा की ओर आरोहण हेतु यह प्रथम कदम कहा जा सकता है। करोड़ों व्यक्तियों में से किसी एक विरले के मन में ही ऐसे संकल्प का उदय होता है।

जिनके भीतर किन्हीं पुण्यों या गुरुजनों के आशीर्वाद से ऐसा संकल्प उदय हो गया है, वे मनोवैज्ञानिक या मनः कल्पित सभी सहारों को तोड़कर केवल मात्र शास्त्र व गुरु आचार्यों के मुख से सुने हुए प्रभु को अपना आश्रय बना लें। विश्वस्त हो जाएँ इस आर्षवाणी में कि जो भगवान् को चुनता है वह भगवान् के द्वारा चुना जा चुका है। सर्वसमर्थ प्रभु अब जैसा मुझे आदेश देंगे उससे अतिरिक्त कुछ भी मैं नहीं चाहूँगा। उनकी एक मात्र कृपा ही मेरे लिए उनका परम वरदान होगा। संयोग-वियोग, मान-अपमान, जय-पराजय, सुख-दुःख के सभी प्रसङ्गों में सम रहते हुए, सबके भीतर उस परम आत्मा को और आत्मा में सभी भूत प्राणियों को देखते हुए, अपने प्रभु को अपना प्रेम प्रदान करते हुए, वस्तु-व्यक्ति-परिस्थिति मात्र से निरपेक्ष होकर सदा समत्व में रहते हुए, प्रतिक्षण प्रसन्नता में जीते हुए 'लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु' इस भाव को सदा जागरित रखें। अपने लिए कुछ चाहें नहीं और जो विधान के अनुसार मिला है, उसे सबके लिए समझते रहें।

गम्भीर व विचारशील मानव ने जो यह अपना एकमात्र लक्ष्य चुना है-परमशान्ति, जीवन्मुक्ति, भगवद्भक्ति, चिरविश्राम या अनन्य प्रेम जो भी कहें, उस लक्ष्य को पाने के लिए उसे अपने दायित्व का निर्वाह करना होता है। वह दायित्व है विधान के तहत व्यक्ति को जो भी सामर्थ्य, योग्यता, परिस्थिति प्राप्त हुई है, उसका पूर्ण सदुपयोग हो, दूसरे शब्दों में रत्ती भर भी दुरुपयोग न हो। जो उसे शास्त्र, गुरुजन या अपने विचार से अथवा दुःखों की मार के ऊपर मार पड़ने से विवेक का प्रकाश मिला उसका किञ्चित् भी अनादर न हो तथा समग्र अस्तित्व के मूल में जिस चेतना की उपस्थिति और उसकी महिमा शास्त्रकारों के द्वारा सुनने को मिलती है, उसमें जरा-सा भी संशय न हो, उसकी यथायथ स्वीकार्यता हो और फिर उसका साक्षात् अनुभव करने के लिए महान् पुरुषार्थ हो तो साधक की माँग-पूर्ति होने में कोई संदेह नहीं रहता है।

यदि साधक का अपने साध्य के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण हो जाता है तो वे दयालु, कृपानिधान, सर्वसुहृत्, भक्तवत्सल अपनी करुणा से समयोचित मार्गदर्शन, उत्साह, हिम्मत, धैर्य, साधना के मार्ग में अविचल रूप से चलने की शक्ति, मार्ग की बाधाओं का निराकरण, सत्य की शक्ति में पूर्ण विश्वास, अपना निर्मल प्रेम, ज्ञान, शुद्धि, सदा प्रसन्नता, काम-क्रोध आदि विकारों से मुक्ति, परमशान्ति, सब प्राणियों के प्रति निर्वैरता, समता, समदृष्टि, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में विचलनरहित सहजता, साधक की प्रगति में सहायक जो कुछ भी अपेक्षित आन्तरिक साधन सामग्री हो सकती है, वह सब प्रदान कर साधक को कृतार्थ कर देते हैं। मनुष्य को जैसे किसी व्यक्ति विशेष पर, बैंक-बैलेंस पर, अपने घनिष्ठ मित्रों पर, अपने फैले हुए कारोबार पर, किसी-किसी को अपनी बुद्धि पर, अपनी कार्यकुशलता पर, अपने पुरुषार्थ पर, समस्त उपलब्ध बाह्य साधन सामग्री पर भरोसा होता है, ज्यादा नहीं तो कम से कम उतना तो भगवान् की कृपा पर भरोसा होना चाहिए कि भगवान् की उपस्थिति है, उनकी अनन्त महिमा है, भक्तों की सभी समस्याओं का उनके पास समाधान है और वे सचमुच कृपा करते हैं, वे हमारे परमहितैषी हैं, वे करुणा और प्रेम के सागर हैं। उन्होंने हमको हमारे उद्धार के लिए अपने शक्तिशाली आश्वासन भी दिए हैं और सदा मन ही मन बोलते रहना चाहिए नमोऽकिञ्चनवित्ताय।

स्वाध्याय

यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।

सर्वं स पूतमश्नातु स्वदितं मातरिश्वना ॥

पावमानीर्योऽध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।

तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥ (ऋग्-०-९.६७.३१-३२)

स्वाध्याय शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है। स्व का अध्ययन= आत्मनिरीक्षण दूसरा प्रणवजप या मन्त्रजप, तीसरा मोक्षशास्त्रों (अध्यात्मशास्त्रों) का अध्ययन। योगशास्त्र में क्रियायोग के तीन रूप रखे हैं। शारीर क्रियायोग 'तपः' शब्द से कह दिया है, 'स्वाध्याय' वाचिक क्रियायोग और 'ईश्वरप्रणिधान' मानसिक क्रियायोग। क्रियायोग का फल वहाँ पर दिया है- समाधि की भावना दृढ़ होना और क्लेशों का शिथिलीकरण या तनूकरण, क्लेशों को क्षीण करना। वाचिक क्रियायोग या शारीर क्रियायोग में मन तो अनुस्यूत रहता है, मन के सहयोग के बिना कोई भी क्रिया कैसे हो सकती है?

जब हम स्वाध्याय करते हैं तो किसी सिद्धपुरुष या आप्तपुरुष के सिद्ध ज्ञान के साथ हमारा तादात्म्य हो जाता है, हम उसी चेतना में ऊपर उठ जाते हैं। हम अपने आत्मचिकित्सक हो जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय की प्रशंसा में एक बहुत ही सुन्दर गीत उपलब्ध है, हम उसे अविकलरूप से प्रस्तुत कर रहे हैं-

अथातः स्वाध्यायप्रशंसा। प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधीनोऽहरहरर्थान् साधयते सुखं स्वपिति परमचिकित्सक आत्मनो भवतीन्द्रियसंयमश्चैकारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशोलोकपक्तिः प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्या यशो लोकपक्तिं लोकः पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मैर्ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च ॥१॥

स्वाध्याय की प्रशंसा- स्वाध्याय और प्रवचन (पढ़ना) प्रिय होते हैं। वह मननशील, स्वाधीन हो जाता है, प्रतिदिन धन कमाता है, सुख से सोता है, अपना परम चिकित्सक होता है। उसकी इन्द्रियाँ संयम में रहती हैं, एकरस रहता है, उसकी प्रज्ञा बढ़ती है, यश बढ़ता है और उसके लोग उन्नति करते हैं। प्रज्ञा के बढ़ने से ब्राह्मण-सम्बन्धी चार धर्मों को जानता है अर्थात् ब्रह्मकुल

की नीति, अनुकूल आचरण, यश और स्वजन-वृद्धि। स्वजनवृद्ध होकर ब्राह्मण को चार धर्मों से युक्त करते हैं अर्थात् सत्कार, दान, कोई उसको सताता नहीं, कोई उसको मारता नहीं।

ये ह वै के च श्रमाः। इमे द्यावापृथिवी अन्तरेण स्वाध्यायो हैव तेषां परमता काष्ठा य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥२॥

इस द्यौ और पृथिवी के बीच में जो कुछ श्रम है, स्वाध्याय ही उनका अन्त है। जो इस रहस्य को जानकर स्वाध्याय करता है, उसका यही अन्त है। इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए।

यद्यद्ध वाऽअयं छन्दसः। स्वाध्यायमधीते तेन तेन हैवास्य यज्ञक्रतुनेष्टं भवति य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥३॥

छन्द के जिस-जिस भाग का स्वाध्याय करता है, उस-उस इष्टि का उसको फल मिलता है, जो इस रहस्य को जानकर यज्ञ करता है। इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए।

यदि ह वा अप्यभ्यक्तः अलंकृतः सुहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीत आ हैव स नखाग्रेभ्यस्तप्यते य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥४॥

चाहे तैल लगाकर, अलंकृत होकर, मुलायम शय्या पर लेटा हुआ भी स्वाध्याय करता है, वह नखों के अग्रभाग तक तप करता है, यदि वह यह रहस्य जानकर स्वाध्याय करता है। इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए।

मधु ह वा ऋचः। घृतं ह सामान्यमृतं यजुषि यद्ध वाऽअयं वाकोवाक्यमधीते क्षीरौदनमांसौदनौ हैव तौ ॥५॥

ऋचाएँ मधु हैं, साम घी, यजु अमृत। जो वाकोवाक्य को पढ़ता है, वह क्षीरौदन और मांसौदन के तुल्य है।

मधुना ह वाऽएष देवांस्तर्पयति। य एवं विद्वानृचोऽहरहः स्वाध्यायमधीते तऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति सर्वैः कामैः सर्वैर्भोगैः ॥६॥

जो इसको जानकर ऋग्वेद पढ़ता है, वह देवों को मधु से तृप्त करता है। वे इस प्रकार तृप्त होकर उसको सब कामनाओं और सब सुखों से तृप्त करते हैं।

घृतेन ह वा एष देवांस्तर्पयति। य एवं विद्वान्सामान्यहरहः स्वाध्यायमधीते तऽएनं तृप्ताः तृप्तास्तर्प ० ॥७॥

जो इसको जानकर प्रतिदिन सामवेद का स्वाध्याय करता है, वह घृत से देवों को तृप्त करता है। इस प्रकार तृप्त होकर देव.....इत्यादि।

अमृतेन ह वाऽएष देवांस्तर्पयति। य एवं विद्वान् यजूंष्यहरहः स्वाध्यायमधीते त एनं तृप्तास्तर्प० ॥८॥

जो यह समझकर प्रतिदिन यजु का स्वाध्याय करता है, वह अमृत से देवों को तृप्त करता है और तृप्त होकर देव.....इत्यादि।

क्षीरौदनमांसौदनाभ्यां ह वाऽएष देवांस्तर्पयति। य एवं विद्वान् वाकोवाक्यमितिहासपुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते तऽएनं तृप्ताः० ॥९॥

जो यह समझकर वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण का प्रतिदिन स्वाध्याय करता है, वह देवों को क्षीरौदन और मांसौदन से तृप्त करता है और तृप्त होकर देव.....इत्यादि।

यन्ति वाऽआपः। एत्यादित्य एति चन्द्रमा यन्ति नक्षत्राणि यथा ह वाऽएता देवता नेयुर्न कुर्युरेवं हैव तदहर्ब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायं नाधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यस्तस्मादप्यृचं वा यजुर्वा साम वा गाथां वा कुंब्यां वाभिव्याहरेद् व्रतस्याव्यवच्छेदाय ॥१०॥

(शत०- ११.५.७.१-१०)

जल चलते हैं, आदित्य चलता है, चन्द्रमा चलता है, नक्षत्र चलते हैं। यदि एक ब्राह्मण किसी दिन स्वाध्याय न करे तो वह दिन ऐसा है, जैसे उस दिन ये चलने वाले पदार्थ अचल हो जायँ। इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए। व्रत को जारी रखने के लिए एक ऋचा, एक यजु, एक साम या एक गाथा, एक कुंब्या (ब्राह्मणवाक्य) ही पढ़ लेनी चाहिए।

अथ ब्रह्मयज्ञः। स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञस्तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव जुहूर्मन उपभृच्चक्षुर्ध्रुवा मेधा सुवः सत्यमवभृथः स्वर्गो लोक उदयनं यावन्तं ह वाऽइमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददं लोकं जयति त्रिस्तावन्तं जयति भूयांसं चाक्षय्यं य एवं विद्वानहरहः स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥११॥

अब ब्रह्मयज्ञ। स्वाध्याय ही ब्रह्मयज्ञ है। इस ब्रह्मयज्ञ की जुहू वाणी है, मन उपभृत् है, चक्षु ध्रुवा है, मेधा सुवा, सत्य अवभृथ स्नान है। स्वर्गलोक इसका अन्त है। इस पृथिवी को कितना ही धन से भरकर दक्षिणा में देकर

इस लोक को जीते, उतने से तिगुना या इससे भी अधिक अक्षयलोक को वह विद्वान् प्राप्त होता है, जो स्वाध्याय करता है। इसलिए स्वाध्याय अवश्य करे।

पय आहुतयो ह वाऽएता देवानाम्। यदृचः स य एवं विद्वानृचोऽहरहः स्वाध्यायमधीते पय आहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति तऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन रेतसा सर्वात्मना सर्वाभिः पुण्याभिः सम्पद्धिर्धृतकुल्या मधुकुल्याः पितृन् स्वधा अभिवहन्ति ॥१४॥

ऋचाएँ देवों की दूध की आहुतियाँ हैं। जो इस रहस्य को समझकर प्रतिदिन स्वाध्याय करता है, वह दूध की आहुतियों से देवों को तृप्त करता है और वे तृप्त होकर इसको योगक्षेम, प्राण, वीर्य, सब आत्मा, सब पुण्यों, सम्पत्ति से तृप्त करते हैं और पितरों को घी और मधु की नदियाँ बहती हैं सुधा के रूप में।

आज्याहुतयो ह वाऽएता देवानाम्। यद्यजूंषि स य एवं विद्वान् यजूंष्यहरहः स्वाध्यायमधीतेऽआज्याहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति तऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन रेत० ॥१५॥

ये जो यजु हैं, वे देवों की आज्य-आहुतियाँ हैं। जो इस रहस्य को जानकर प्रतिदिन यजुर्वेद पढ़ता है, वह देवों को आज्य की आहुतियाँ से तृप्त करता है और वे तृप्त होकर उसको योगक्षेम, प्राण.....इत्यादि।

सोमाहुतयो ह वाऽएता देवानाम्। यत् सामानि स य एवं विद्वान् सामान्यहरहः स्वाध्यायमधीते सोमाहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति तऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन रेतसा सर्वा० ॥१६॥

जो साम हैं, वे देवों की सोम-आहुतियाँ हैं। जो इस रहस्य को समझकर प्रतिदिन साम का स्वाध्याय करता है, वह देवों को सोम-आहुतियाँ से तृप्त करता है और देव तृप्त होकर उसको योगक्षेम, प्राण.....इत्यादि।

मेद आहुतयो ह वा एता देवानाम्। यदथर्वाङ्गिरसः स य एवं विद्वानथर्वाङ्गिरसोऽहरहः स्वाध्यायमधीते मेद आहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति तऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन रे० ॥१७॥

जो अथर्ववेद है, वह देवों के लिए मेद की आहुतियाँ हैं। जो इस रहस्य को समझकर प्रतिदिन अथर्ववेद का स्वाध्याय करता है, वह मेद की आहुतियों से देवों को तृप्त करता है और वे तृप्त होकर उसको योगक्षेम, प्राण.....इत्यादि।

मध्वाहुतयो ह वाऽएता देवानाम् । यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्य-
मितिहासपुराणं गाथा नाराशंस्यः स य एवं विद्वाननुशासनानि विद्या
वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते
मध्वाहुतिभिरेव तद्देवांस्तर्पयति तऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन
रे०.....॥८॥

अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी- ये
देवों के लिए शहद की आहुतियाँ हैं। जो इस रहस्य को समझकर अनुशासन,
विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी का प्रतिदिन स्वाध्याय
करता है, वह देवों को शहद की आहुतियों से तृप्त करता है और ये तृप्त
होकर उसको योगक्षेम, प्राण.....इत्यादि।

तस्य वाऽएतस्य ब्रह्मयज्ञस्य । चत्वारो वषट्कारा यद्वातो वाति
यद्विद्योतते यत्स्तनयति यदवस्फूर्जति तस्मादेवंविद्वाते वाति विद्योतमाने
स्तनयत्यवस्फूर्जत्यधीयीतैव वषट्काराणामछम्बट्कारायाति ह वै
पुनर्मृत्युमुच्यते गच्छति ब्रह्मणः सात्मतां स चेदपि प्रबलमिव न
शक्नुयादप्येकं देवपदमधीयीतैव तथा भूतेभ्यो न हीयते ॥९॥

(शत०- ११.५.६.३-९)

इस ब्रह्मयज्ञ के चार वषट्कार हैं- जो वायु चलता है, जो विद्युत् चमकती
है, जो गर्जता है, जो ओले पड़ते हैं। इसलिए जब वायु चले। बिजली चमके,
गरजे या ओले पड़ें, स्वाध्याय अवश्य करे, जिससे वषट्कार पूरे हो जाएँ। वह
पुनर्जन्म से छूट जाता है, ब्रह्म की समानता को प्राप्त करता है, जो ऐसा करता है।
यदि किसी प्रबल कारण से स्वाध्याय न कर सके तो एक देवपद (वेद-वाक्य)
को तो अवश्य ही पढ़ लेवे, तब वह प्राणियों में हीन नहीं समझा जाता।

नित्य प्रति स्वाध्याय में रमण करने वाला व्यक्ति अपने लिए उच्च-निम्न,
पर-अवर, शुभ-अशुभ, नित्य-अनित्य आदि को ठीक-ठीक जान लेता है। उसे
अपने व्यक्तित्व के शरीर व आत्मा के रूप में भौतिक और अभौतिक दोनों
घटक तथा उनकी जरूरतें साफ-साफ दिखाई देने लगती हैं, वह यह देखता है
कि शरीर को तो भोजन के रूप में आहार चाहिए और आत्मा को चाहिए- ज्ञान,
सद्भाव, प्रेम व शान्ति इत्यादि। कर्मनिरत स्वाध्याय से दूर व्यक्ति के मन में
कभी भी ये प्रश्न नहीं उठते कि मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप क्या है? मैं नित्य हूँ

या अनित्य? मेरा जीवन का लक्ष्य क्या है? धरती वासियों के प्रति, प्रकृति
के प्रति, मेरे कर्तव्य क्या हैं? क्या कोई ऐसा जीवन भी है जो सर्वथा दुःख
से अतीत हो? यदि है तो उस जीवन को उपलब्ध करने के उपाय क्या हैं?
वह तो मात्र इतना ही जानता है कि उसके सामने पद-पदार्थ हैं, अपने व पराए
व्यक्ति हैं, साधन-सुविधाएं हैं और उनको पाने के लिए अन्तहीन संघर्ष है, बस।

स्वाध्यायशील व्यक्ति ही यह जान पाता है कि जीवन में कामनाओं का
कोई अन्त नहीं है। अतः वह कामनाओं की पूर्ति-अपूर्ति के फेर में न पड़कर
कामनाओं की निवृत्ति कैसे हो, इस पर अपने को केन्द्रित करता है। उसकी
खोज उसे यह दिशा प्रदान करती है कि सबसे पहले मुझे अपने जीवन में
आवश्यक व अनावश्यक कार्यों को विभाजित करके देखना है। उसके बाद
अनावश्यक कार्यों का त्याग कर के आवश्यक कार्यों में अपनी सम्पूर्ण शक्ति
लगा देनी है और सर्वथा निश्चिन्त हो जाना है, अर्थात् किसी से भी किसी प्रकार
की कोई अपेक्षा नहीं रखनी है। ऐसा करने पर साधक में स्वतः ही सहज
निवृत्ति ध्यान, पूर्णविश्राम, परमशान्ति घटित हो जाती है।

स्वाध्यायनिरत व्यक्ति ही जीवन की होशपूर्ण (चेतन) व बेहोश (अचेतन)
अवस्था का आकलन कर पाता है। व्यक्ति या तो दृश्य के साथ तदाकार
रहता है या अपने स्वाभाविक स्वरूप में। जब स्वाभाविक स्वरूप में होता
है तो वह अपने चैतन्यस्वरूप में होता है, अन्यथा संकल्प, विचार, भाव व
भूतकाल के विविध चित्र ही दिखाई देते रहते हैं। जिन संकल्प-विचार आदि
के द्वारा व्यक्ति को सुख मिलता है, उनके साथ रागात्मक सम्बन्ध बन जाता
है और जिनसे दुःख मिलता है, उनके साथ द्वेषात्मक। राग-द्वेष से प्रेरित होकर
फिर मन, वाणी व शरीर से कर्म करता है, उससे धर्म-अधर्म संचय होता है,
धर्म से सुख अधर्म से दुःख, पुनः-पुनः वही चक्र दोहराया जाता है। उसको
काटने का एक ही तरीका है कि व्यक्ति अन्दर से जाग जाए और व्यवहार
में अपने आपको घटनाओं के साथ मिलाए नहीं, उनको जैसी हैं वैसी निरपेक्ष
होकर देखता चला जाए। यह सब स्वाध्यायशील ही कर सकता है, अतः कहा
गया कि साधक को नित्यप्रति स्वाध्याय करना चाहिए। जिससे वह अपना
आत्मचिकित्सक बन सके।

संन्यासी आत्म-चिकित्सक

जैसा कि हमने प्रारम्भ में ही कहा- सर्वत्र इस पुस्तक में संन्यासी शब्द का साधक के अर्थ में प्रयोग किया है। कहीं-कहीं या कभी-कभी इस शब्द का प्रयोग सिद्ध अर्थ में भी होता है। जैसे गीता में भी दो शब्दों का प्रयोग हुआ है- कर्मसंन्यास व ज्ञानसंन्यास। कर्मसंन्यास का साधक के लिए और ज्ञानसंन्यास का सिद्ध के लिए। सिद्ध माने पूर्णपुरुष जो कुछ करना, पाना, जानना, सीखना था वह सब कर लिया, पा लिया, जान लिया, सीख लिया, कुछ भी शेष नहीं बचा और साधक माने सीखतड़, जिज्ञासु, भोगों से असन्तुष्ट, दुःख के प्रति वैसे ही संवेदनशील जैसे कि असाधक सुख के प्रति संवेदनशील होता है।

अर्थात् साधक सदा ही सीखने का इच्छुक, जानने का इच्छुक, कुछ साधने का इच्छुक, अपनी अशुद्धि को देखकर उसे साफ करने का इच्छुक, वैषयिक सुखों से ऊपर उठने का इच्छुक, अपने भीतर विवेक-ज्योति प्रज्वलित करने का इच्छुक अर्थात् अपने आन्तरिक जीवन को व्यवस्थित करने का इच्छुक, अपने को संयमित करने का इच्छुक, प्राप्त परिस्थिति के अनुसार अपनी सामर्थ्य का सदुपयोग करने का इच्छुक, ऊर्जा के दुरुपयोग को रोकने का इच्छुक अर्थात् बुराई करने से अपने आप पर रोक लगाने का इच्छुक, धर्म, अर्थ, काम व मोक्षरूप पुरुषार्थ को सिद्ध करने का इच्छुक, संसार में अच्छाई, शुभ, मङ्गल, कल्याण, शान्ति, ज्ञान, सद्भाव, प्रेम इत्यादि को बढ़ाने व फैलाने का इच्छुक, शरीर से पृथक् अपने सच्चे स्वरूप को जानने व पाने का इच्छुक, सतत ऊर्ध्व आरोहण का इच्छुक, वेदवाणी-गुरुवाणी-सन्तवाणी को सुनकर उसमें पूर्ण विश्वास करने का इच्छुक, मन-वचन-कर्म से किसी को भी कष्ट न देने का इच्छुक, सबको अधिकतम सुख पहुँचाने का इच्छुक, दूसरों से लेना बन्द करके प्राप्त वस्तु-योग्यता-सामर्थ्य को बाँटने का इच्छुक, भगवान् के, जगत् के या गुरु के नाते सेवा करने का इच्छुक, सुने हुए प्रभु में आस्था-श्रद्धा-विश्वास-भरोसा करने का इच्छुक, सचेतन होकर पूर्ण समर्पण करने का इच्छुक, भगवान् से प्रेम करने का इच्छुक, शरीर को परिश्रमी मन को शान्त, बुद्धि को विवेकयुक्त, अहं को अभिमानरहित और हृदय को प्रेमरस से भरने का इच्छुक होता है। वह परिश्रमपूर्वक अर्जित किए हुए धन को दूसरों के हित में लगाने का इच्छुक रहता है। जैसे कि पतञ्जलि योगपीठ में श्री स्वामी रामदेव जी हैं, वे खूब सारी परेशानी कष्ट जिम्मेदारी मोल लेकर प्राप्त सामर्थ्य

को संसार की सेवा में अर्पित करना चाहते हैं। ये सब साधक के विविध रूप या उसके चित्र हमने अपने पाठकों के सामने रखे हैं।

ऊपर हमने साधक की जिस दृष्टि या स्थिति का वर्णन किया, वह न तो पशु जगत् में और न बच्चों में और न ही असाधकों में देखने को मिलती है। यद्यपि पशु भी मानव का बहुत भला करते हैं और निश्चित ही उनके बिना मानव-जीवन दूभर हो जाए, किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि उनमें भलाई करने की कोई भावना नहीं होती, वे उसके लिए तत्पर नहीं होते, उनके द्वारा भला तो हो जाता है, पर वे किसी का कुछ भावनापूर्वक भला नहीं करते। वे निःस्वार्थ प्रेम भी नहीं कर सकते, साधक तो इसके लिए लालायित रहता है, पशु कभी भी अपने से बड़ी शक्ति के समक्ष स्वेच्छा से समर्पण नहीं कर सकते, साधक तो इसके लिए सदा व्यग्र रहता है। यद्यपि कुत्ते, हाथी, घोड़े, गाय आदि के व्यवहार को देखने से पता लगता है कि वे भी समर्पित तो होते हैं, पर उनका समर्पण सचेतन नहीं होता। मुझे कोई अपनी इच्छा नहीं रखनी, कोई किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रखनी ऐसी भावना उनमें नहीं होती। बल्कि यहाँ तक देखने में आया कि कई स्वामी भक्त खूंखार कुत्ते चोर आदि के द्वारा दिए गए प्रलोभन में भी फँस गए, ऐसे मौके पर उनमें यह भावना उत्पन्न नहीं हुई कि मुझे ऐसा विश्वासघात नहीं करना चाहिए। यद्यपि मनुष्य भी प्रलोभन में आ जाते हैं किन्तु फिर उनको साधक नाम नहीं दे सकते। साधक तो वे ही हैं जो विचारशील हैं, जो भक्त हैं, जो सेवक हैं। न तो जिनका विवेक जागरित हुआ है और न ही उसकी तीव्र माँग, वे साधक नहीं हैं। उनमें तो दोष रहते ही हैं।

पशु भी रात-दिन कर्म तो करते ही हैं किन्तु इतने मात्र से वे सेवक नहीं हो सकते। सेवक तो साधक ही हो सकता है जो कि स्वेच्छा से लगा रहता है और अपने को बहुत ही सौभाग्यशाली समझता है। कहा भी है-

सेवक तो कोई बिरला है आठों प्रहर रहे जाग।

प्रेमी तो कोई बिरला है हेतु रहित अनुराग।

साधु तो कोई बिरला है जो हिल-मिल रहे बेलाग।

दाता तो कोई बिरला है जो दे जीवनधन महाभाग।

जति-सती कोई बिरला है श्वेतवस्त्र बेदाग।

व्रती तो कोई बिरला है चले सहज सन्मार्ग।

अपना तो कोई बिरला है सहजशील रसराज।

ज्ञानी तो कोई बिरला है जो सबसे निर्लेप हो।

साधक तो कोई बिरला है जो साधना में लीन हो।

ये सब कार्य पशु नहीं कर सकते। मनुष्य शरीर में भी जो अपने को साधक नहीं मानते वे कहाँ कर पाते हैं? पशुओं की तरह उन्हें अपने स्वार्थ, अपनी इच्छाएँ, अपने सुख ही दिखाई देते रहते हैं। बल्कि महापुरुष ऐसा कहते हैं- जो मानव शरीर धारण करके भी सदा अपनी इच्छापूर्ति के लिए बलवान् से डरते हैं और निर्बल को डराते हैं, वे तो पशुओं के भी बड़े भाई हैं। साधक ही ऐसा कर सकता है जो कि निर्बल होकर भी किसी बलवान् से न डरे तथा अपने से निर्बलों की रक्षा करता रहे।

जब हम यह देखते हैं कि संन्यासी या साधक आत्मचिकित्सक होता है तो किसी भी पाशव जीवन को अपने सामने रखकर इस अध्ययन को आगे बढ़ाया जा सकता है। पशुजीवन या असाधक और साधक के जीवन में क्या वैधर्म्य है तथा पशु और असाधक मनुष्य में क्या साधर्म्य है तो एक स्पष्ट निष्कर्ष सामने आ जाता है कि पशु के समक्ष अच्छा-बुरा कुछ नहीं होता। बस! अपने सुख होते हैं और उनकी पूर्ति-अपूर्ति होती है। पशु को उसका हित-अहित नहीं समझाया जा सकता कि अमुक फसल उसी के लिए उगाई गई है, इसलिए अभी धैर्य (सब्र) रखे, क्योंकि अभी फसल छोटी है और बढ़ने पर भी खेत में घुसकर उसे हानि न पहुँचाए, यदि वह खेत में घुसेगा तो उसी की हानि होगी। इस पावन धरा पर इन पशुओं की तरह ही तात्कालिक सुखों से प्रभावित होकर जीवन जीने वाले अनगितन असाधक मनुष्यों का समूह भी देखा जा सकता है। दूसरे का हित करना तो बहुत दूर की बात है जो अपना स्वयं का हित-अहित भी नहीं देख सकते उसे क्या कहेंगे?

सिद्धान्ततः यदि देखें तो मनुष्यमात्र को विवेक का प्रकाश मिला हुआ है, किन्तु सुख के तेज प्रलोभनवश प्राप्त विवेक का आदर न करने से व्यक्ति वही करता है जो परिणाम में उसके लिए दुःखद होता है। अतः अपने विवेक का अनादर करने वालों को साधक नहीं कहा जा सकता। आप कहेंगे बाल्यकाल में तो विवेक का प्रकाश नहीं होता, वहाँ तो किसी भी आलम्बन से प्रभावित होकर या सङ्ग दोष के कारण हानिकर आचरण भी बालक करते रहते हैं। यह सत्य है। पर बालक साधक कहाँ होता है। बालक तो एक प्रकार का निरा पशु होता है। यही तो पशु की परिभाषा की जा सकती है कि पशु वह है जहाँ बुद्धिदृष्टि विशेष रूप से सक्रिय न हो, इन्द्रियदृष्टि की ही प्रधानता हो। जीवन चलाने के लिए सामान्य-सहज बोध तो पशुओं में भी होता है, किन्तु विशेष बोध नहीं होता। बालक में तो पशु जितना भी सामान्य बोध नहीं होता, पूर्ण रूप

से इन्द्रियदृष्टि के सहारे ही उसका जीवन चलता है। अतः माता-पिता-गुरुजन-परिवेश के ऊपर ही बालकों का अच्छा-बुरा जीवन या उनका भाग्य निर्भर रहता है। मनुष्य तो देखकर या सुनकर ही सीखता है। इसीलिए प्रार्थना है-

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

हे देवो! हम कानों से भद्र= कल्याणकारी वचन सुनें और आँखों से कल्याणकारी दृश्य ही देखें।

साधक को अपना चिकित्सक बनने के लिए सर्वप्रथम अपने रोगों का परिचय होना चाहिए कि मैं इन-इन रोगों से ग्रस्त हों। साधक का पहला जो काम है वह यही है कि उसको अपनी अशुद्धि, अपनी कोई भी निर्बलता, अपना अज्ञान, अपना अहङ्कार, अपने मन की चञ्चलता, अपने भावों में विकृति, अपने दोष, अपनी ही आँखों से साफ-साफ दिखाई दें। भाष्यकार पतञ्जलि कहते हैं- 'दृष्टस्य हि दोषस्य सुसुखः परिहारः'। जो दोष देख लिया जाता है, उसका परिहार करना आसान हो जाता है। साधक वह है जिसने अपनी बुद्धिदृष्टि को महत्त्व देना प्रारम्भ कर दिया है। अब वह बालकों या मूर्खों की तरह इन्द्रियों का चलाया हुआ नहीं चलता। बल्कि अपने प्राप्त विवेक के प्रकाश में अशुद्धि या दोषों के कारणों की खोज करता हुआ उसके निवारण के लिए यत्नवान् हो गया है। मार्ग में आगे बढ़े हुए वृद्ध साधक समझाते हैं यदि मनुष्य अपनी निर्बलता, दोष या अशुद्धि से, अपने कष्टदायक स्वभाव से, अपनी आदतों से, अपने गलत अभ्यासों से व्यथित हो जाता है तो यह वेदना ही अशुद्धि के निवारण का स्वतः मार्ग खोज लेती है। अपनी की हुई भूलों को न दोहराना ही दोषों से मुक्त होकर जीने का एक सशक्त उपाय है। साधक को जब अपनी भूलों की व्यथा होती है तो योगजीवन की माँग सबल होती जाती है। इस प्रकार यह योग अग्नि भोगरूपी काष्ठ को जलाकर सर्वथा भस्म कर देती है।

सुखभोग की रुचि ही तो समस्त दोषों की जन्मभूमि है। यदि इसकी खोज की जाए कि कोई भी अनुचित कार्य क्यों होता है? क्यों व्यक्ति झूठ बोलता है? क्यों चोरी करता है? क्यों भ्रष्टाचार करता है? क्यों व्यभिचार करता है? क्यों अपने को या किसी को धोखा देता है? क्यों किसी को कष्ट देता है? क्यों आलस्य करता है? क्यों बिना भूख के भोजन करता है या क्यों अधिक भोजन करता है? क्यों इन्द्रियभोगों में अपनी ऊर्जा का अपव्यय करता है? तो इन सब प्रश्नों एक ही सर्वसाधारण उत्तर होगा कि एक मात्र सुखभोग की

रुचि ही मनुष्य को उसके अपने ज्ञान से विरुद्ध आचरण कराती है। यह एक सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि संसार का कोई भी गलत कार्य भोग की रुचि को लेकर होता है और दूसरी तरफ कोई भी सही कार्य सामान्य रूप से पुण्य की रुचि को लेकर होता है। साधक के विवेक का प्रकाश उसे दिशा देता है कि तुझे पुण्य और अपुण्य दोनों से ऊपर उठना है अर्थात् भोग की रुचि तथा पुण्य की रुचि दोनों को समाप्त करके अचाह हो जाना है। अचाह होते ही मनुष्य के द्वारा कोई भी अनुचित कार्य नहीं हो सकता। अनुचित कार्य बन्द होते ही प्राकृतिक विधान या किसी दैवी विधान से उचित कार्य स्वतः होने लगते हैं। क्योंकि एक नियम है- **‘अच्छाइयाँ होती हैं, बुराइयाँ की जाती हैं’**

उचित कार्य के साथ यदि कर्तृत्व या फलेच्छा जुड़ जाती है तो वह पुण्य बनकर आगे उत्तम जन्म, उत्तम आयु तथा उत्तमभोग या भोगसाधन प्रदान करता है। किन्तु कर्तृत्व व फलेच्छा इन दोनों को हटा दिया जाए तो वह चित्तशुद्धि का हेतु होकर साधक को मुक्ति की ओर आगे बढ़ा देता है। इस स्थिति में किए गए कर्म का नाम सेवा या निष्काम कर्म या पूजा होता है। यह कर्म न किए हुए के जैसा ही रहता है। सकाम कर्म कभी भी मनुष्य को अकर्म की स्थिति में नहीं पहुँचाता। अतः महापुरुष ऐसा कहते हैं कि उपर्युक्त तरीके से या भाव से यदि कर्म किया जाता है तो वह कर्म कर्ता में करने के राग को भी मिटाता रहता है। क्योंकि सही प्रवृत्ति (सेवा) सहज निवृत्ति को प्रदान करती है। जबकि सकाम प्रवृत्ति कर्ता को और आगे-आगे बाँधती जाती है। इस प्रकार सही प्रवृत्ति (निष्काम कर्म) के द्वारा कर्ता के रागरहित होते ही तत्काल योग की प्राप्ति हो जाती है। मन को विश्राम प्राप्त हो जाता है, सम्पूर्ण सत्ता में एक अपार शान्ति छा जाती है। इसके परिणामस्वरूप साधक सब तरफ से हटकर अपने में ही सन्तुष्ट हो जाता है, अपने में अपने को पा लेता है। यह एक अर्थ में जीते जी मर जाने जैसी स्थिति है- पूर्ण बोध से युक्त अहंमुक्त अवस्था। इस स्थिति का वर्णन करते हुए ही एक महात्मा जी ने कहा है-

जीते जी मर जाएँ अमर हो जाएँ। दिल देकर दिलबर को पाएँ।।

अब सब ओर से अपने में सन्तुष्ट हुआ साधक सुने हुए प्रभु के प्रति अपने आपको समर्पित कर देता है, सदा-सदा के लिए प्रभु का ही हो जाता है। नित्य नवरस की उपलब्धि से सराबोर हो जाता है।

निष्काम कर्म के बाद जो विश्राम की स्थिति उत्पन्न होती है, उसमें शान्त रस की अभिव्यक्ति होती है, किन्तु अभिमान रहित होकर अपने में ही सन्तुष्ट

हो जाने से अखण्ड रस व्यक्त होता है और प्रभु को अपना दिल देकर स्वयं को भी दे डालने पर अनन्त रस की अभिव्यक्ति होती है। मनुष्य के भीतर कहीं भी किसी अंश में भी यदि नीरसता रहती है तो उसे हटाने के लिए तत्काल कोई न कोई कामना उत्पन्न हो जाती है और फिर कामना की पूर्ति में सुख और अपूर्ति में दुःख का चक्र आगे चल पड़ता है। निष्काम कर्म, पराश्रय का त्याग कर अपने में ही सन्तुष्ट अथवा भगवदाश्रय लेकर उसके प्रेम में तृप्त व्यक्ति में स्वाभाविक रूप से रस का प्रादुर्भाव होने से नीरसता के लिए कोई स्थान नहीं बचता। अतः वहाँ किसी कामना की उत्पत्ति और उसकी पूर्ति-अपूर्ति का भी प्रश्न नहीं उठता। हाँ! करुणा प्रेरित लोकसंग्रह हेतु कर्म तो चलते ही रहते हैं।

असाधक के जीवन में जो निरन्तर व्यर्थ चिन्तन, व्यर्थ वार्ता और व्यर्थ चेष्टा या क्रिया चलती रहती है और उससे जो ऊर्जा का महान् अपव्यय होता है, साधक को यह स्थिति भी साफ-साफ दिखने लगती है। रात में किसी बालक का जग जाना और रोने लगना तथा चोर का भागना अथवा किसी साँप का दिखना और उससे दूर हट जाना जैसे युगपत् होते हैं वैसे ही किसी आन्तरिक या बाह्य अव्यवस्था, अशुद्धि का दिखना और उसका निराकरण करने के लिए प्रयास भी एक साथ ही होता है। भोजन में कोई बाल आ जाए तो उसको दूर करने के लिए एक क्षण का भी विलम्ब नहीं होता, तद्वत् साधक अपने मन की चिन्तन रूप क्रिया, वाणी की क्रिया और शरीर की चेष्टा को देखता रहता है अतः कुछ भी ऐसा नहीं होता जो नहीं होना चाहिए। असाधक को ये सब दिखाई ही नहीं देता तो उसका उपचार भी कैसे हो? कैंसर का उपचार करने के लिए कैंसर का आभास मिलना चाहिए ना।

दोष जितने सूक्ष्म होते जाते हैं, उनका पकड़ पाना उतना ही कठिन होता जाता है। सामान्य व्यक्ति जो साधना की राह पर नहीं चल रहा, उसकी यह बहुत बड़ी समस्या होती है कि वह अपने जीवन को देख ही नहीं पाता कि शरीर, वाणी व मन के स्तर पर तेरे द्वारा कहाँ-कहाँ व्यर्थ चेष्टाएँ हो रही हैं। जैसे विद्यालय में बच्चों को किसी घास के लान में बिठा दिया जाए तो देखेंगे कि लगभग सभी के सामने घास के तिनके इकट्ठे मिलेंगे। उन्हें पता ही नहीं चलता कि तुम्हारी अंगुलियाँ कुछ कर रही हैं। कितने अध्यापक कक्षा में कुर्सी पर बैठे-बैठे पैर हिलाते रहते हैं, उनका उधर ध्यान ही नहीं होता कि वैसे नहीं होना चाहिए। मैंने स्वयं देखा कि एक विद्वान् उपनिषद् पर बहुत ही रोचक व सुन्दर प्रवचन कर रहे थे, किन्तु उनके पैर बड़े तेजी से हिल रहे थे। कोई सभा

में बैठे हुए हैं और नाक में अंगुली डाल रहे हैं, अंगुलियाँ चटका रहे हैं, पैर को चट-चट कर रहे हैं। ये और इसी प्रकार की अन्य इधर-उधर ताँकना-झाकना आदि सब व्यर्थ चेष्टाएँ कही जाती हैं। इसी प्रकार वाणी से ऐसे शब्द निकलते रहते हैं जो किसी को भी अच्छे नहीं लगते। कई बार शब्द बहुत अच्छे होते हैं किन्तु उनका स्वर (लहजा) अच्छा नहीं होता। कई व्यक्तियों के मुख से अपशब्द निकलते रहते हैं तो इस सबके पीछे अज्ञान और दुरभ्यास ये दो ही कारण होते हैं, जिससे सारी अव्यवस्था जीवित रहती है।

मन तो मनुष्य को अत्यन्त सूक्ष्म व शक्तिशाली यन्त्र मिला है। बहुत सचेत साधक ही उसकी क्रियाओं को जो विचार, संकल्प या भावों के रूप में चलती रहती है, जान पाते हैं। हर व्यक्ति के अन्दर कितना अधिक व्यर्थ चिन्तन चलता रहता है। आगे-पीछे की जो भी बातें होती हैं, अपने आप से आप मन में आती रहती हैं। राग-द्वेष का मन में ही उदय होता है। सब शुभ या अशुभ इच्छाएँ मन में ही पैदा होती हैं। किसी के प्रति भी जो सद्भाव या असद्भाव उठते रहते हैं, उन सब का आश्रय मन ही होता है। काम-क्रोध-लोभ आदि समस्त विकारों की जन्मभूमि मन ही होती है। मन को ही बन्ध व मोक्ष का कारण बताया है (मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः) बृहदा० उपनिषद्- १.५.३ में कहा है- काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, धी (धारणावती बुद्धि) भय इत्यादि ये सब की सब पृथक्-पृथक् मन की ही वृत्तियाँ हैं। यजुर्वेद को ३४वें अध्याय के प्रारम्भ के छः मन्त्रों में मन की विविध शक्तियों का वर्णन किया गया। हर मन्त्र में यह बात बार-बार दोहराई गई कि 'मेरा मन शिव-संकल्पों से ओत-प्रोत रहे'।

इस संसार में जिन्हें हम महापुरुष कहते हैं, वे अपने पूर्वजन्मों के कर्म प्रवाह (प्रारब्ध) के अनुसार बाल्यकाल से ही जागे हुए होते हैं। उनका अपने मन पर पूर्ण अधिकार होता है, इसलिए उनकी शारीरिक, बौद्धिक या मानसिक ऊर्जा निरन्तर विकसित होती रहती है और इस प्रकार वे मानवता के संरक्षक बन जाते हैं। जिन्होंने अपनी सभी समस्याओं का समाधान कर लिया है, वे ही संसार के सच्चे मार्गदर्शक युग-युगों के लिए पथ-प्रदर्शक बनकर जीवन जिया करते हैं। शेष लोग तो उन महापुरुषों के द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर अपने जीवन का शोधन करते हैं; क्योंकि संगदोष, इन्द्रियदोष व संस्कारदोष के कारण जीवन के प्रारम्भ से लेकर युवावस्था पर्यन्त ढेर सारी अशुद्धियाँ

आ जाती हैं, इसलिए अब उनको उसकी सफाई करने में अपना बहुत सारा समय लगाना होता है। अपने जीवन के पूर्वार्ध में जो उन्होंने प्राप्त सभी प्रकार की ऊर्जा का दुरुपयोग किया होता है उससे उनके मन में बहुत ही भारी क्लेश, असह्य पीडा व गहरा पश्चात्ताप होता है। इस पश्चात्ताप के द्वारा ही आने वाले जन्म के लिए शुद्धि की नींव पड़ जाती है। आगे की उनकी आध्यात्मिक यात्रा सहज, सुगम व तीव्रगामी हो जाती है। साधक इसी प्रणाली से अपनी आत्म-चिकित्सा किया करता है।

जिनमें सुखभोग का प्रलोभन बहुत ज्यादा होता है। शास्त्र, गुरुवाणी या वेदवाणी श्रवण में उन्हें कोई रस नहीं आता। मनु ने कहा भी है- 'अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते'। अर्थात् धर्मज्ञान उन्हीं के लिए है जिनका मन सुखभोग में फँसा हुआ नहीं है। किन्तु साथ में यह भी है कि बिना श्रवण-मनन के बुद्धि का विपर्यय ज्ञान हटता भी नहीं (बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति) अतः आत्मकल्याण का इच्छुक साधक शनैः शनैः अपने को शास्त्र व गुरुवाणी सुनने के लिए तैय्यार कर लेता है।

साधक की एक बड़ी बाधा है शरीर को ही अपना स्वरूप समझना (देहाध्यास या देहाभिमान)। श्रवण-मनन के द्वारा ही यह बाधा भी हट जाती है। इस विषय में वह युक्ति प्रयोग करता है कि अपना जो स्वरूप है वह कभी भी हमसे अलग नहीं होना चाहिए। वह देखता है कि मेरा स्वरूप तो स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरों व सभी जागरित-स्वप्न-सुषुप्तिरूप अवस्थाओं से अतीत है। जो कुछ भी जानने में आ रहा है- इच्छाएँ, भाव-भावनाएँ, संकल्प-विकल्प, शरीर, अवस्थाएँ, परिवर्तन, सुख-दुःख, शास्त्रीय ज्ञान, इनमें से कोई भी मैं नहीं हूँ। मैं तो केवल जानने वाला हूँ, इन सब का प्रकाशक हूँ। प्रकाशक कभी भी किसी का प्रकाश्य नहीं होता। इन सब युक्तियों व शास्त्र के सहयोग से साधक अपने शुद्ध विज्ञाता स्वरूप को अधिगत कर लेता है।

साधक वही है जो कभी भी अपने उत्साह को गायब नहीं होने देता। उसे पूरा विश्वास होता है कि मुझे अवश्य ही मेरे प्रभु मिलेंगे। मेरी कोई भी समस्या अनसुलझी नहीं रहेगी। इस प्रकार साधक आत्मचिकित्सक बनकर एक सबसे निराले जीवन को प्राप्त कर लेता है।

नारियों के लिए संन्यास आश्रम का अधिकार

आचार्य विजयपाल प्रचेता

बहुत से लोग शङ्का करते हैं कि क्या स्त्रियों के लिए भी संन्यास आश्रम का विधान है? इस शङ्का का समाधान करते हुए प्रस्तुत लेख में प्रमाणित किया गया है कि स्त्रियों के लिए भी संन्यास आश्रम शास्त्रसम्मत है और इसके बहुसंख्य उदाहरण प्राचीन इतिहास में मिलते हैं।

वैदिक धर्म दो प्रकार है- प्रवृत्तिपरक एवं निवृत्तिपरक। कल्याण चाहने वाले ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के जनों द्वारा एवं ब्रह्मचारी आदि चारों आश्रमियों द्वारा इसका अनुष्ठान किया जाता है। इन चार आश्रमों में संन्यास आश्रम निवृत्तिमार्गपरक है। वैराग्य युक्त जन ही संन्यास आश्रम के अधिकारी माने जाते हैं। जैसा कि कहा है-

यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव परिव्रजेत्, गृहाद्वा वनाद्वा।

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्,

(अथर्ववेदीया जाबालोपनिषत्, खण्ड:-४)

वैराग्य होने पर ब्रह्मचर्य आश्रम से ही परिव्राजक (संन्यासी) हो जाना चाहिए अथवा गृहस्थ आश्रम या वानप्रस्थ आश्रम से संन्यास ले लेना चाहिए अथवा जिस दिन वैराग्य हो जाय, उसी दिन प्रव्रजित (संन्यासी) हो जाना चाहिए। संन्यासी का धर्म इस प्रकार बताया गया है-

सर्वारम्भपरित्यागो भैक्ष्याश्रयं ब्रह्ममूलता।

निष्परिग्रहताऽद्रोहः समता सर्वजन्तुषु।।

प्रियाप्रियपरिष्वङ्गे सुखदुःखाविकारिता।

सबाह्याभ्यन्तरं शौचं वाङ्मनोव्रतचारिता।।

सर्वेन्द्रियसमाहारो धारणाध्याननित्यता।

भावसंशुद्धिरित्येष परिब्राड्धर्म उच्यते।। (नीतिसारः - २.२९-३१)

सभी काम्य कर्मों का परित्याग, भिक्षाचरण, ब्रह्मचिन्तन, अपरिग्रह (संग्रह न करना), अद्रोह एवं सब प्राणियों के प्रति समता का व्यवहार करना संन्यासी का धर्म है। प्रिय एवं अप्रिय जनों या पदार्थों का संयोग होने पर भी सुख और दुःख आदि विकारों से दूर रहना, बाहरी एवं भीतरी शुचिता (पवित्रता), वाणी एवं मन का संयम, सभी इन्द्रियों का नियन्त्रण, धारणा एवं ध्यान का नित्य अभ्यास और

मन को निर्मल रखना- यह संन्यासी का धर्म है। आचार्य विष्णुगुप्त (चाणक्य) ने अपने अर्थशास्त्र में संन्यासी का धर्म इस प्रकार बताया है-

‘परिव्राजकस्य संयतेन्द्रियत्वमनारम्भो निष्किञ्चनत्वं सङ्गत्यागो भैक्षमनेकत्रारण्यवासो बाह्याभ्यन्तरं च शौचम्’।

(कौटलीयम् अर्थशास्त्रम्-१.३)

अर्थात् इन्द्रिय-संयम, सांसारिक प्रपञ्चों से निवृत्ति, निष्किञ्चनता (कुछ भी संग्रह न करना), सङ्गत्याग (आसक्ति का परित्याग), भिक्षाचरण, अरण्यवास एवं बाहरी व आन्तरिक शुचिता- यह संन्यासी का धर्म है।

इस प्रकार के स्वरूप वाले संन्यास आश्रम में प्राचीन वैदिक काल से ही नारियों का भी अधिकार माना गया है। इस विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी का वृत्तान्त इस प्रकार मिलता है-

‘अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुमैत्रेयी च कात्यायनी च। तयोर्मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायनी। अथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यमैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि। हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति। सा होवाच मैत्रेयी यन्तु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् स्यां न्वहं तेनामृताहो नेति? नेति होवाच याज्ञवल्क्यः। यथोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यात्, अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति। सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्, यदेव भगवान् वेत्थ तदेव मे ब्रूहीति’। (बृहदारण्यकोपनिषद्- ४.५.४)

मुनि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थी- मैत्रेयी और कात्यायनी। उनमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी हो गई थी, किन्तु कात्यायनी स्त्रीप्रज्ञा (सामान्य स्त्रियों जैसी बुद्धि वाली) थी। गृहस्थ आश्रम से निवृत्त होने के इच्छुक मुनि याज्ञवल्क्य ने एक दिन मैत्रेयी से कहा- मैं यहाँ से प्रव्रजित होना चाहता हूँ, अतः कात्यायनी और तुम्हारे बीच सम्पत्ति का विभाजन (बँटवारा) कर देता हूँ। तब मैत्रेयी ने कहा- मुनिवर! यदि धन-धान्य से परिपूर्ण सारी पृथ्वी मेरी हो जाय तो क्या मैं अमृत हो जाऊँगी? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा- ऐसा तो नहीं होगा। धन से इतना ही होगा कि तुम्हारा जीवन धनी पुरुषों जैसा सुविधासम्पन्न हो जायेगा। इस पर मैत्रेयी ने कहा- जिससे मैं अमृत पद को प्राप्त नहीं कर सकती, उस धन का मैं क्या करूँगी। मुझे तो इसके स्थान पर अमृत पद प्राप्त कराने वाली उसी विद्या का उपदेश दीजिये, जिसे आप जानते हैं।

इस प्रकार मैत्रेयी की ब्रह्म-विषयक जिज्ञासा को जानकर याज्ञवल्क्य ने उसे ब्रह्मविद्या प्रदान की। इससे वह घर एवं घर के उपकरणों के विषय में सर्वथा तृष्णा रहित होकर याज्ञवल्क्य के समान ही संन्यासी का जीवन बिताने लगी। इस प्रसंग से विदित होता है कि अति प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में वैराग्ययुक्त स्त्रियां संन्यास आश्रम में दीक्षित होती थी।

अग्निपुराण में राजधर्म-वर्णन के प्रसंग में बताया गया है कि नौका आदि से पार उतरने में संन्यासिनी महिलाओं से शुल्क नहीं लेना चाहिए - **स्त्रीणां प्रव्रजितानां तु तरशुल्कं विवर्जयेत्**। (अग्निपुराणम्- २२३.२५) इस कथन से भी प्राचीन भारतीय समाज में संन्यासिनी महिलाओं की उपस्थिति प्रमाणित होती है।

वैराग्य होने पर ही संन्यासाश्रम का अधिकार मिलता है, नारीप्रकृति को प्रायः रागबहुल माना जाता है, अतः उनके वैराग्य के उदाहरण अपेक्षाकृत कम दिखते हैं, परन्तु इससे नारियों का संन्यासाश्रम में अधिकार बाधित नहीं होता है। यह अधिकार अनेक प्रमाणों से सिद्ध है- **कुमारः श्रमणादिभिः** (अष्टाध्यायी- २.१.६९) इस पाणिनीय सूत्र के उदाहरण के रूप में - कुमारी चासौ श्रमणा **कुमारश्रमणा**, कुमारी चासौ प्रव्रजिता **कुमारप्रव्रजिता**, कुमारी चासौ तापसी **कुमारतापसी** (काशिका- २.१.७०) ये शब्द मिलते हैं। इनसे विदित होता है कि प्राचीन काल में वैराग्य युक्त बालाएं ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यासिनी हो जाती थी।

कुमारावस्था से ही नारियों का जो तापसव्रत होता था, उसे वैखानस व्रत भी कहते थे। यह संन्यास व्रत ही था। कण्व ऋषि के आश्रम में तापसवेषधारिणी शकुन्तला को देख कर दुष्यन्त की ओर से किया गया यह प्रश्न इसी परम्परा को सूचित करता है -

वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्

व्यापारोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।

अत्यन्तमेव सदृशेक्षणवल्लभाभि-

राहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः।। (अभिज्ञानशाकुन्तलम्- १.२९)

अर्थात् क्या शकुन्तला विवाह होने तक इस तापस व्रत का पालन करेगी, जो काम-व्यवहार का विरोधी है अथवा यह आजीवन ही वैखानस (तापस) रूप में इस व्रत का पालन करेगी?

इस प्रकार विरक्त पुरुषों के समान विरक्त नारियों के लिए भी संन्यासाश्रम का सामान्य विधान सिद्ध होता है। सामान्य विधान के प्रसङ्ग में हमें इस परिभाषा वचन को स्मरण रखना चाहिए - **प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्** (व्याडिपरिभाषासूचनम्- २९) अर्थात् पुरुष के लिए विहित सामान्य धर्म नारी के लिए भी लागू होता है। यदि विरक्त पुरुष के लिए संन्यास का विधान है तो विरक्त नारी के लिए भी यह विधान सिद्ध होता है, यह उक्त परिभाषा वचन के प्रमाण से स्पष्ट है। इसीलिए याज्ञवल्क्य-स्मृति में प्रव्रजित (संन्यासी) के प्रसङ्ग में प्रव्रजिता का भी ग्रहण किया जाता है -

सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः।

एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थी ग्राममाचरेत्।। (याज्ञवल्क्यस्मृतिः- ३.५८)

अर्थात् संन्यासी को सर्वभूतहितैषी, शान्त, जितेन्द्रिय होकर एकाकी विचरण करते हुए ग्राम से भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यहाँ **एकारामः** की व्याख्या में मिताक्षराकार कहते हैं- संन्यासी अकेला विचरण करे, पुरुष संन्यासियों एवं महिला संन्यासिनियों से पृथक् रहते हुए। इस प्रकार याज्ञवल्क्य-स्मृति में प्रव्रजित शब्द से प्रव्रजिता (महिला संन्यासिनी) का भी ग्रहण किया गया है। मिताक्षरा टीका में '**स्त्रीणां चैके**' इस बौधायनाचार्य के मत से भी स्त्रियों के संन्यास धारण का समर्थन किया है।

नित्यानित्यता के सूक्ष्म विचार से विषयों के प्रति जो वितृष्णा रूप चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है, वही वैराग्य है। वही संन्यास का मूल है। वैराग्य की यह चित्तवृत्ति स्त्रियों एवं पुरुषों में समान रूप से उत्पन्न हो सकती है, अतः इसके प्रबल होने पर स्त्रियों के लिए भी संन्यास सहज रूप से सिद्ध है। विषयतृष्णाजन्य नानाविध घोर दुःखों से संतप्त प्राणियों को देखकर आपाततः प्रतीयमान सुख को भी परिणामतः दुःख रूप में देखती हुयी बहुत-सी विवेकशील नारियाँ संन्यासिनी हो चुकी हैं, यह इतिहास में प्रसिद्ध है।

हारीत धर्मसूत्र में स्त्रियों के ब्रह्मवादिनी रूप का स्पष्टतया उल्लेख मिलता है-

‘द्विविधा हि स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनम्, अग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे भिक्षाचर्या च। सद्योवधूनाम् उपस्थिते विवाहकाले कथञ्चिदुपनयनं कृत्वा विवाहः कार्यः’।

अर्थात् स्त्रियाँ दो प्रकार की होती हैं आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने वाली ब्रह्मवादिनी और विवाह कर गृहस्थ धर्म का पालन करने वाली सद्योवधू। ब्रह्मवादिनी नारियों के उपनयन (यज्ञोपवीत संस्कार) अग्निहोत्र एवं वेदाध्ययन का विधान है। सद्योवधू नारियाँ उचित विवाहकाल में पाणिग्रहण संस्कार के उपरान्त गृहस्थ आश्रम के दायित्वों का निर्वाह करती हैं। इस प्रकार हारीत ने स्त्रियों की दो कोटियां प्रस्तुत कर उनमें ब्रह्मवादिनियों के लिए संन्यास आश्रम की पात्रता स्वीकार की है।

यह स्मृतिगत विधान श्रुतिमूलक है, जैसा कि अथर्ववेद संहिता में मन्त्र है -

‘ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्’ । (अथर्ववेदसंहिता-११.५.१८)

अर्थात् ब्रह्मचर्य के उपरान्त कन्या युवा पति को प्राप्त करती है। यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ वेदाध्ययन व्रत है। इस प्रकार वेदाध्ययन के साथ जो वैराग्यवती ब्रह्मवादिनी होती हैं, उनका निर्मल चित्त विद्या से विद्योतित होता है, उनके लिए वेदान्त (अध्यात्मविद्या) का अध्ययन निर्बाध रूप से सम्भव होता है। महाकवि भवभूति ने उत्तररामचरित नाटक में ऐसी ही एक नारी पात्र आत्रेयी के वेदान्ताध्ययन का उल्लेख किया है -

अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति ।

तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां वाल्मीकिपार्श्वदिह पर्यटामि ।।

(उत्तररामचरितम्- २.३)

आत्रेयी कहती है कि इस तपोवन में अगस्त्य इत्यादि बहुत से ब्रह्मवेत्ता रहते हैं, उनसे वेदान्त विद्या पढ़ने के लिए मैं वाल्मीकि के आश्रम से यहां आई हूँ।

वाल्मीकि रामायण में वर्णन है कि सीता का अन्वेषण करते हुये वानर गण वन में एक अद्भुत गुहा में गये, वहां उन्होने स्वयंप्रभा नामक तापसी (संन्यासिनी) को देखा। जो सात्त्विक एवं संयमित आहार लेती थी और बहुत ही तेजस्विनी थी-

तत्र तत्र विचिन्वन्तो बिले तत्र महाप्रभाः ।

ददृशुर्वानराः शूराः स्त्रियं काञ्चिददूरतः ।।

तां च ते ददृशुस्तत्र चीरकृष्णाजिनाम्बराम् ।

तापसीं नियताहारां ज्वलन्तीमिव तेजसा ।।

(रामा., किष्किन्धाकाण्डम्-११.३८-४०)

यहाँ स्वयंप्रभा के वर्णन से विदित होता है कि रामायणकाल में संन्यासिनियों

की परम्परा थी। रामायणगत शबरी-वर्णन से भी ज्ञात होता है कि उस समय गृहस्थ आश्रम से विरक्त तपस्विनी महिलाएं संन्यास धर्म का पालन करती थी।

तौ पुष्करिण्याः पम्पायास्तीरमासाद्य पश्चिमम् ।

अपश्यतां ततस्तत्र शबर्या रम्यमाश्रमम् ।।

तामुवाच ततो रामः श्रमणीं धर्मसंस्थिताम् ।।

कच्चित्ते निर्जिता विघ्नाः कच्चित्ते वर्धते तपः ।

कच्चित्ते नियतः कोप आहारश्च तपोधने ।। (रामा., अरण्यकाण्डम्-७४.९)

अर्थात् राम व लक्ष्मण पम्पासरोवर के पश्चिमी तट पर गये। वहाँ उन्होंने शबरी का रमणीय आश्रम देखा। राम ने धर्माचरण में दीक्षित उस श्रमणी (संन्यासिनी) से पूछा- क्या तुमने योग-साधना में आने वाले विघ्नों को जीत लिया है? क्या तुम्हारा क्रोध नियन्त्रित है? क्या तुमने आहार के विषय में संयम को दृढ़ कर लिया है? इस शबरी के वृत्तान्त से भी स्पष्ट होता है कि निवृत्ति मार्गरूप संन्यासधर्म नारियों द्वारा अच्छी प्रकार से अनुष्ठित किया जाता था। महाभारत में भी बहुत सी वैराग्यवती एवं अध्यात्मप्रवण नारियों का वृत्तान्त मिलता है -

अत्रैव ब्राह्मणी सिद्धा कौमारब्रह्मचारिणी ।

योगयुक्ता दिवं याता तपःसिद्धा तपस्विनी ।। (महा., शल्यपर्व-५४.६)

अर्थात् बाल्यकाल से ही आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाली योगयुक्त ब्राह्मणपुत्री ने यहाँ रहते हुये तपस्या पूर्वक सिद्धि प्राप्त की थी।

महाभारत के शान्तिपर्व में आता है कि शरशय्यागत भीष्म जी सुलभा नामक एक तेजस्विनी संन्यासिनी का वर्णन करते हैं -

अथ धर्मयुगे तस्मिन् योगधर्ममनुष्ठिता ।

महीमनुचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी ।।

तया जगदिदं कृत्स्नमटन्त्या मिथिलेश्वरः ।

तत्र तत्र श्रुतो मोक्षे कथ्यमानस्त्रिदण्डिभिः ।। (महा., शान्तिपर्व-२२०.७-८)

सा प्राप्य मिथिलां रम्यां प्रभूतजनसंकुलाम् ।

भैक्षचर्यापदेशेन ददर्श मिथिलेश्वरम् ।।

प्रधानो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः ।

कुले तस्य समुत्पन्नां सुलभां नाम विद्धि माम् ।।

साहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसति मद्बिधे ।
 विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम् ।।
 मोक्षे ते भावितां बुद्धिं श्रुत्वाहं कुशलैषिणी ।
 तव मोक्षस्य चाप्यस्य जिज्ञासार्थमिहागता ।।

(महाभारतम्, शान्तिपर्व- २२०.१२, १८४, १८६, १८९)

अर्थात् उस धर्मप्रधान युग में योगधर्म का पालन करने वाली सुलभा नाम की एक भिक्षुकी (संन्यासिनी) थी। उसने भारतभूमि पर विचरण करते हुये त्रिदण्डी संन्यासियों के मुख से सुना कि मिथिलेश्वर राजा जनक मोक्ष के विषय में बहुत बड़ा ज्ञानी है। इस पर वह मिथिला नगरी में पहुँची और भिक्षाचरण के बहाने से राजा जनक के सामने उपस्थित हुई, उसने कहा हे राजन्! मैं प्रधान नामक प्रसिद्ध राजर्षि के कुल में उत्पन्न हुई हूँ, मेरा नाम सुलभा है। अनुरूप पति के न मिलने पर मेरा मन मोक्ष धर्म में लग गया और अब मैं मुनि व्रत का पालन करते हुये एकाकिनी परिव्राजिका रूप में विचरण करती हूँ। राजन्! तुम्हारी बुद्धि मोक्ष के विषय में भावित है यह सुनकर मैं मोक्ष की जिज्ञासा और आपके दर्शन के लिए आई हूँ।

सुलभा के मोक्ष विषयक प्रश्नोत्तर एवं संवाद से राजा जनक बहुत प्रभावित हुए। यह वृत्तान्त महाभारत में विस्तार पूर्वक वर्णित है।

सुलभा के आख्यान से यह भी स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण वर्ण के अतिरिक्त क्षत्रिय आदि वर्णों की नारियां भी विवेक एवं वैराग्य होने पर संन्यास आश्रम में दीक्षित होती थी। पूर्व-प्रतिपादित शबरी-वृत्तान्त से यह भी सिद्ध है कि शूद्र वर्ण तक की नारियां भी संन्यासिनी होती थी। इस प्रकार चारों वर्णों की नारियों के लिए संन्यास आश्रम का द्वार खुला था। इसीलिए रामायण में हम देखते हैं कि भगवान् राम ने बड़े ही हर्ष से शबरी का आतिथ्य स्वीकार किया और उनके तपश्चरण की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी वर्णों की संन्यासिनियों का समाज में बहुत सम्मान था और उन्हें अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था।

कविकुलगुरु कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नामक नाटक में कौशिकी नामक एक विदुषी संन्यासिनी का उल्लेख किया है -

मंगलालंकृता भाति कौशिक्या यतिवेषया ।

त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया ।। (मालविकाग्निमित्रम्- १.१४)

उक्त नाटक में राजा धारिणी देवी के साथ उपस्थित संन्यासिनी को देखकर कहता है कि मांगलिक आभूषणों से युक्त धारिणी देवी यतिवेष धारण करने वाली कौशिकी नामक परिव्राजिका के साथ इस प्रकार शोभित होती है, जैसे अध्यात्म-विद्या के साथ त्रयी विद्या शोभित होती है। यहाँ उपमा में संन्यासिनी को अध्यात्म-विद्या के समान बताया है इससे कालिदास यह व्यञ्जित करना चाहते हैं कि नारियों में अध्यात्म-विद्या एवं संन्यास आश्रम की परम्परा सुप्रतिष्ठित रही है।

जैन एवं बौद्ध परम्परा में नारियों के लिए संन्यास का अधिकार स्पष्ट रूप से प्रचलित रहा है। तीर्थंकर महावीर एवं भगवान् बुद्ध ने भिक्षुकी संघ को सुव्यवस्थित रूप दिया था। उसमें दीक्षित होने वाली परिव्राजिकाओं के लिए विनय एवं आचार-मर्यादा के नियमों का विस्तृत उल्लेख जैन एवं बौद्ध साहित्य में मिलता है। तीर्थंकर महावीर के मामा की पुत्री चन्दना जैन भिक्षुकी संघ की प्रथम अध्यक्ष थी। इसी प्रकार बुद्ध द्वारा स्थापित भिक्षुकी संघ की पहली अध्यक्ष उनकी विमाता (सौतेली माँ) प्रजावती थी, जिन्होंने बुद्ध से ही संन्यास दीक्षा ली थी। बुद्ध की पत्नी यशोधरा एवं अन्य सैकड़ों नारियां संन्यासिनी बनी थी। जैन एवं बौद्ध साहित्य में संन्यासिनी नारियों के बहुत से प्रेरक प्रसंग मिलते हैं। जैन सम्प्रदाय में तो संन्यासिनियों (साध्वियों) की परम्परा बहुत ही समृद्ध एवं व्यवस्थित रूप से वर्तमान काल में भी चल रही है। बौद्ध सम्प्रदाय के अन्तर्गत ब्रह्मदेश (बर्मा/म्यांमार) आदि में महिला संन्यासिनियों (भिक्षुकियों) की परम्परा व्यवस्थित रूप से चल रही है।

आधुनिक युग में वेदों के पुनरुद्धारक एवं महान् समाज-सुधारक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी महिलाओं के लिए संन्यास आश्रम के अधिकार का समर्थन किया है। वे लिखते हैं -

‘जिस पुरुष वा स्त्री को विद्या, धर्मवृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो, वह विवाह न करे, जैसे पञ्चशिखादि पुरुष व गार्गी आदि स्त्रियाँ हुई थीं’। (सत्यार्थप्रकाश, पञ्चम समुल्लास, पृ०. १५४)

वर्तमान काल में भी भारतवर्ष में प्रायः सभी साधुओं की परम्पराओं में उच्च कोटि की संन्यासिनियाँ अध्यात्मविद्या के प्रचार एवं राष्ट्रसेवा में संलग्न हैं। इस प्रकार प्राचीनकाल से वर्तमान काल तक महिला संन्यासिनियों की परम्परा अक्षुण्ण रूप में चल रही है।

आशीर्वचन

स्वामी/साध्वी को संन्यास दीक्षा के पावन अवसर पर हृदय की गहराइयों से बहुत-बहुत शुभकामनायें।

परम प्रभु से प्रार्थना है कि आपका यह अमूल्य मानव जीवन निरन्तर शुद्धि, मुक्ति, आनन्द व पूर्णता की तरफ बढ़ता रहे। वह प्यारा प्रभु आपके जीवन को इन सभी सिद्धियों से और उनके साधनों से लबालब भर दे। शुकदेव महाराज की तरह आपका जीवन ज्ञान-भक्ति-वैराग्य से परिपूर्ण हो जाये।

❖ अकर्मण्य, सकाम कर्मी, ज्ञान प्राप्ति के लिए कर्मवान्, अकर्मी-इन चार स्थितियों में से ज्ञान प्राप्ति के लिए ईश्वर अर्पण बुद्धि से किये गये कर्म सिद्धि के साधन बनते हैं और नैष्कर्म्य स्थिति की प्राप्ति है सिद्धि, अर्थात् कर्म में अकर्मता की प्राप्ति। नैष्कर्म्य सिद्धि को ही दूसरे शब्दों में ब्रह्म-प्राप्ति कहा है। (नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति- गी.- १८.४९)

❖ प्रतिक्रिया रहित रहना सिद्धि। चर्चा प्रसंग में वाणी और चेहरे पर विकार न आना।

❖ अपने भीतर अद्वैत की प्रतिष्ठा सिद्धि है। जिसका फल है शोक (मानस-संताप) तथा मोह (विवेकाभाव) से मुक्ति, भय और जुगुप्सा की निवृत्ति।

❖ शास्त्रानुकूल (आगमानुसार) जीवन जीना सिद्धि है। श्रेयःपथ, ज्ञानपथ, धर्मपथ, सत्यपथ, प्रकाश पथ, योगपथ, विचारपथ, वेदपथ से सतत आगे बढ़ना।

❖ श्रामण्य (संन्यास) की रक्षा करना सिद्धि है। भेष (भेष) की रक्षा करना। अन्दर से संन्यासी बनकर जीना।

❖ आत्म-सिद्धि न अच्छा प्रवक्ता होने मात्र से मिलती है, न ही मेधावी को, न बहुश्रुत को, न किसी बहुत बड़े तार्किक को, न ही किसी दैत्य समान बलशाली को, न विशिष्ट व्यायामी को, न महान् कर्मी को, न धन-वैभव सम्पन्न किसी श्रेष्ठी को, न अद्भुत वाग्मी को, न अकर्मण्य को, न सुख-भोग और योग दोनों की चाह रखने वाले मूढ़ को, न अन्दर से कमजोर व्यक्ति को, न दीन-हीन-दुःखी को, न दुराचारी को, न यश के इच्छुक महत्वाकांक्षी

को, न कठोर हृदय को, न भयभीत को, न ही जो सच्चाई से दूर है उसको। (नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो०/नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो०। (मु० 3.2.3/4), नाविरतो दुश्चरितान्ना०। (कठो० 1.2.24)

❖ अपनी अन्तरतम आत्मा (Innermost Being) में वास करना सिद्धि है। हृत्प्रदेश में अर्थात् अपनी बुद्धि के शान्ततम स्वरूप में वास करना।

❖ प्रपञ्च के बीच पूर्णप्रज्ञ प्रशान्त रहना सिद्धि है, किन्तु मनोनाश या मन के दिव्य हुये बिना यह कैसे सम्भव है? साधक-बाधक या हेय-उपादेय के विवेक के बिना यह कैसे सम्भव है?

❖ लौकिक स्तर पर जीने वाला व्यक्ति संसार में कुछ न कुछ विशेष कार्य करके दिखाना चाहता है किन्तु ज्ञानी पुरुष पूर्ण पवित्रता, पूर्ण विश्राम, पूर्ण संन्यास, पूर्ण सहजता, पूर्ण स्वाधीनता को पसन्द करता है। ज्ञानी और सांसारिक व्यक्ति की पसन्द, इच्छायें, स्वभाव, अभिरुचियाँ एकदम विपरीत ध्रुव की तरह होती हैं।

❖ यशः कामना से मुक्त होकर जीना सिद्धि है। इसी प्रकार खिन्नता से मुक्त, दो व्यक्तियों की तुलना से मुक्त, किसी के बारे में अन्तिम निर्णय से मुक्त, क्षोभमुक्त, संकल्पमुक्त।

❖ संसार में विशेषताओं को फैलाने में निमित्त बनना, पर उनका किञ्चित् भी अभिमान न करना अर्थात् अपने आप में निर्विशेष होकर जीना सिद्धि है, यहाँ तक कि अपने निर्विशेष होने का भी अहङ्कार न हो, अर्थात् बालक जैसी सरलता के साथ ज्ञानी जैसा तेज। किसी भी योग्यता, गुण, कुशलता, क्रिया इत्यादि के आधार पर अपना मूल्याङ्कन न करना सिद्धि है।

❖ राग-द्वेष से मुक्त होकर जीना सिद्धि है। इन्द्रिय-इन्द्रिय में उठते हुए राग-द्वेष को देख पाना और उसके वश में न आना उक्त सिद्धि का साधन है।

❖ जीवन में किसी भी परिस्थिति में 'मन-वचन-शरीर' किसी भी स्तर पर मुझे एक बार भी काम-क्रोध-लोभादि विकार-युक्त नहीं होना, ऐसा एक तरफा लक्ष्य (निश्चय) बना लेना और उसके लिए काम करना सिद्धि का हेतु है, फिर चाहे बेशक हजार बार भी असफल (Fail) क्यों न होना पड़े।

❖ अपने अहित करने वाले, अपमान करने वाले से भी क्षुब्ध न होना, सहज रहना सिद्धि है। अहंकार के रहते यह कैसे सम्भव है? कदापि नहीं।

❖ अग्नि और सोम का जीवन में समन्वय होना सिद्धि है, अर्थात् अपने

लिए अग्निरूप व संसार के लिए सोम स्वरूप होकर जीना।

❖ श्रम और विश्राम का समन्वय सिद्धि है। अर्थात् मन का विश्राम, शरीर व बुद्धि का श्रम। मन के विश्राम के उपाय—अकामता, संतोष, भगवान् में अनन्य प्रेम व समर्पण।

❖ सर्वस्व त्याग व जितेन्द्रियता सिद्धि है। 'अहं' का त्याग, ममता का त्याग, फलेच्छा का त्याग, चञ्चलता का त्याग, सुख भोग की लालसा का त्याग अनावश्यक व्यवहार का त्याग, अनावश्यक सुख-सुविधाओं व सामान का त्याग इत्यादि।

❖ अपरोक्ष भ्रम अर्थात् साक्षाद् भ्रम (देहाभिमान) को अपरोक्ष ज्ञान अर्थात् साक्षाद् ज्ञान से निवृत्त करना सिद्धि है। शास्त्रज्ञान या आनुमानिक ज्ञान तो सदा परोक्षज्ञान ही होता है।

❖ जीवन में सतत ऊर्ध्वारोहण करते रहना सिद्धि है। (**पृथिव्या अन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्**) मधुग्राही होकर जहाँ भी शुभ दिखे उसे लेकर आगे बढ़ते रहना।

❖ अपने से अपने में तृप्त रहना सिद्धि है। (**आत्मनाऽऽत्मानमभि संविवेश**) अपने लिये दृश्य की अपेक्षा छोड़ देने से ही यह सम्भव है। पूर्ण मौन, गहरा ध्यान।

❖ अपने अच्छेपन को अपनी ही वाणी से प्रमाणित न करना सिद्धि है। अपने को दूसरों के समक्ष अच्छा सिद्ध करना 'अहं' की क्रिया ही तो है जो सर्वथा त्याज्य है।

❖ वाणी की विभूति सिद्धि है। (**सक्तुमिव तितउना०.....**) वाक् संयम (**अनुद्वेगकरं वाक्यं प्रियहितं च यत्**)। (गीता)

❖ सभी आग्रहों से ऊपर उठकर जीना सिद्धि है, यही सत्याग्रह है। (**बुद्धेः फलमनाग्रहः**) Deconditioning of the mind.

❖ संसार को ईश्वर की तरह निरपेक्ष दृष्टि से देखना सिद्धि है। Non-Judgemental होकर जीना। सबको Impersonal भाव से, Impersonal भाव में देखना।

❖ अपने जीवन से प्रसन्नता का बांटना सिद्धि है। यह तभी सम्भव है जब पश्चात्ताप की किसी भी प्रकार की कोई जलन न हो और शुभ का अहंकार न हो।

❖ भूतकाल से मुक्त होकर वर्तमान की निर्दोषता में जीना सिद्धि है। अपने को या किसी को भी पूर्व छवियों के अनुसार न देखना। पहले वाले व्यक्ति का मिट ही जाना।

❖ समर्पण सिद्धि है, जीवन्मुक्ति सिद्धि है। सिद्धि सोपान→निष्काम कर्म→ज्ञाननिष्ठायोग्यता (चित्तशुद्धि)→ज्ञाननिष्ठा→चिरशान्ति (चिरविश्राम) यही है ब्रह्मप्राप्ति।

❖ ईश्वर को कण-कण में हर क्षण अनुभव करते रहना सिद्धि है। अथवा दूसरे शब्दों में अपने ही अन्तरतम में विराजमान आत्मतत्त्व की ओर सतत अभिमुख रहना सिद्धि है।

❖ शत्रु-मित्र के प्रति समान हो जाना अर्थात् निर्वैर स्थिति की प्राप्ति सिद्धि है। (**निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव**)। (गीता)

❖ संसार पहचान के बल पर खड़ा रहता है, जिन्दा रहकर चलता है, अध्यात्म है स्वेच्छा से मरण को स्वीकार करना, मृत्यु का वरण सिद्धि है। 'अहं' की मृत्यु ही मृत्यु है। सिर कटा और संसार मिटा।

❖ जीव का सुख-दुःख भोग ही उसका संसारित्व है, सुख-दुःख भोग से अतीत होना जीव का असंसारी होना है, यह सिद्धि है।

❖ केवल मात्र आत्मा को जानने और पाने के लिए अभीप्सा करना सिद्धि है। शरणागति, ओमेकं शरणं मम, अनन्यभक्ति।

❖ अप्रभावित व निर्लिप्त रहना सिद्धि है। देहाध्यास (देहाभिमान) से मुक्त हो जाना। सर्वतः सर्वथा सर्वदा असङ्ग होकर जीना। 'मैं' और 'मेरे' से मुक्त हो जाना।

❖ अपने सूक्ष्म से सूक्ष्म, सूक्ष्मतम दोषों को भी ठीक-ठीक जानना सिद्धि है, क्योंकि उस-उस दोष का ज्ञान ही उसकी निवृत्ति में हेतु बनता है।

❖ सतत अपने को अच्छा बनाना सिद्धि है, किन्तु दूसरों के समक्ष अपने अच्छेपन को सिद्ध करना उसका अभिमान करना सिद्धि में बाधक है। (**अभिमानः श्रियं हन्ति**)

❖ 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्, ओंकार एवेदं सर्वम्' की ठोस अनुभूति में जीना परम सिद्धि है। निष्क्रिय आत्मा में स्थित होकर अकर्ता भाव में जीना। (**नैव कुर्वन् कारयन्**)। (गीता)

❖ महान् आत्माओं की तरह अन्तिम सत्य में प्रतिष्ठित होना सिद्धि है। अर्थात्

शरीर, मन व वाणी का पूर्ण नियन्त्रण, सहजता, पवित्रता, त्याग, अशुभ से या दुःख से मुक्ति।

❖ प्रदर्शन नहीं दर्शन। (सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिः स न बध्यते) दृष्टि उपलब्ध होती है-शास्त्र से, गुरु से, विचार से, अपनी भूलों से, दुःख दर्शन व उसके प्रभाव से।

❖ वैषम्य (ऊपर-नीचे होना) नहीं, समत्व (पूर्ण-सन्तुलन)। (समत्वं योग उच्यते) विचलन नहीं सुस्थिति। स्थिरप्रज्ञ, अथर्व, धीर-गम्भीर, अप्रकम्पित।

❖ परिग्रह नहीं हर प्रकार का अपरिग्रह। वस्तु, व्यक्ति, विचार, अधिकार ये सब परिग्रह के रूप हैं। मेरा कुछ नहीं, मेरे लिये कुछ नहीं, पर फिर भी मैं सभी के लिये।

❖ तर्क नहीं श्रद्धा। घनीभूत श्रद्धा, अविचल श्रद्धा, गहन श्रद्धा, सत्य में, सिद्धि में, पूर्णता में, शोक-मोह की निवृत्ति में, आत्मोपलब्धि में, अविचल शान्ति में।

❖ विशेषता नहीं निर्विशेषता। अपने बारे में कोई भी छवि न रखना, छवियों से मुक्त रहना। 'मैं ऐसा हूँ - मैं वैसा हूँ' ये सब छवियाँ ही तो हैं।

❖ सब प्रकार का तप-शारीर, वाचिक, मानस। गीता-प्रोक्त सात्त्विक तप, न कि राजस व तामस। इसी प्रकार सात्त्विक श्रद्धा, सात्त्विक आहार, सात्त्विक यज्ञ, सात्त्विक दान, सात्त्विक त्याग, सात्त्विक कर्त्ता, सात्त्विक कर्म, सात्त्विक बुद्धि, सात्त्विक धृति, सात्त्विक सुख की नित्य चाह। (तपसा किल्बिषं हन्ति।

❖ अविद्या-काम-कर्म के स्थान में विद्या-अकामता-अकर्मता की प्रतिष्ठापना। (नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्)। (गीता)

❖ स्वार्थ नहीं सर्वात्मभाव। सब भूतों के लिए अभयदान। किसी से कोई स्पर्धा (प्रतियोगिता) नहीं। हाँ! हेतु में स्पर्धा हो सकती है न कि फल में (हेतावीर्ष्युः फले नेर्ष्युः)। (चरक)

❖ प्रसिद्धि नहीं सिद्धि। सर्वक्लेशों का नाश, योगमार्ग की सभी बाधाओं का नाश, विप्लवरहित विवेकख्याति, विशुद्ध प्रेम की प्राप्ति, सच्चिदानन्द की उपलब्धि।

❖ सदा सर्वदा सर्वथा रजस् तमस् से ऊपर उठकर नित्यसत्त्वस्थ, निर्द्वन्द्व, आत्मवान् होकर भागवत प्रेरणाओं या अन्तःप्रेरणाओं के अनुसार अहंरहित प्रेममय जीवन जीना सिद्धि है।

❖ श्रवण-मनन साधनापूर्वक निदिध्यासन रूप साध्य की उपलब्धि सिद्धि है। (श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः)

❖ सदा-सर्वदा अपने चिन्मयस्वरूप में स्थित होने के लिए अनवरत अभीप्सा का बने रहना सिद्धि है। वस्तुतः साधन ही सिद्धि है।

❖ मन्दिर में, गुरु में, विशेष में भगवान्→सभी में भगवान्→सब भगवान् में→सब भगवान् ही→केवल भगवान् (सामान्य-विशेष कुछ नहीं)।

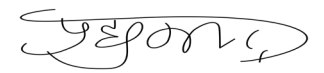
❖ स्त्री शरीर में विद्यमान साध्वी के लिये यह सिद्धि है कि वह अपने अन्दर मातृभाव को प्रतिष्ठापित करे, जगन्माता बनकर सभी को अपने बालक के रूप में देखे, माँ बनकर अपने बच्चों की रक्षा करे। पुरुष शरीर में विद्यमान साधक की यह सिद्धि है कि स्त्री शरीर मात्र को मातृभाव में देखे। यह है 'भाव-साधना'। अथवा सभी साधक-साधिकायें सभी को व स्वयं को भी ब्रह्म के रूप में, ईश के स्वरूप में, शुद्ध आत्मा के रूप में देखें। किसी भी अपने अभिमत या स्वीकृत एकभाव को अच्छे से दृढ़ कर लेना ही सिद्धि है।

❖ सभी शास्त्रों की, सभी धर्मों की, सभी महान् आत्माओं की अलग-अलग शब्दों में एक ही पुकार है कि मनुष्य अपने मन के उपद्रव को शान्त करके जीये। और वह केवल मात्र सम्भव है-अपनी गहराई में प्रवेश करने से। कोरे शास्त्र ज्ञान, वस्तु संभार, किन्ही विशिष्ट योग्यताओं या क्षमताओं के विकास या बड़े-बड़े अद्भुत कारनामों से मनःशान्ति सम्भव नहीं है।

❖ सुदृष्टि, उस दृष्टि में जीने की सतत अभीप्सा, भागवत-कृपा, पूर्ण समर्पण, दुःख-निवृत्ति की अत्यन्त चाह (मुक्ति), स्वराज्य प्राप्ति परम आवश्यक है। मुक्त ही मुक्ति की राह दिखा सकता है।

❖ All can be done if the God's touch is there. (सावित्री महा०।

आपका प्रिय सुहृद्



दिनाङ्क : 24.03.2018

पतञ्जलि योगपीठ, हरिद्वार

‘संन्यास धर्म’

(श्लोकाष्टकम्)

चिरन्तनैर्मुनिवरैः संन्यासः प्रवरो मतः ।

धर्म एकान्तसुखदः सर्वदुःखहरस्तथा ॥१॥

एकान्तनिर्मलस्यास्य यतिधर्मस्य देशिकः ।

अध्यात्मनिष्ठ आचार्यो वीतरागो यतीश्वरः ॥२॥

वेदवेदाङ्गनिष्णातः शब्दविद्याविदां वरः ।

गीताव्याख्यानवित्तश्च सदा शिष्यगणैर्वृतः ॥३॥

श्रीप्रद्युम्नमहाभागो वेदान्तेषु रतोऽनिशम् ।

पतञ्जलीति विख्याते योगपीठे विराजते ॥४॥

योगर्षेः स्वामिवर्यस्य रामदेवस्य धीमतः ।

अभियानं भवान्नित्यं सफलीकर्तुमुद्यतः ॥५॥

भवताध्यापिताः शिष्या विद्याविनयभूषिताः ।

वैराग्यभावसम्पन्ना योगर्षेर्नितरां प्रियाः ॥६॥

बहुसंख्याः प्रविशन्ति तुरीयमाश्रमं मुदा ।

यतिदीक्षादिने पुण्ये स्वामिवर्येण दीक्षिताः ॥७॥

तेषां कर्तव्यबोधाय ‘संन्यास-धर्म’ नामकः ।

भवता रचितो ग्रन्थो भुवि भद्राय कल्पताम् ॥८॥

दि०- २४-०३-२०१८

-आचार्य विजयपाल ‘प्रचेता’